— प्रकाशक —
चौखम्बा विद्या भवन,
चौक, वाराणसी-१

Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Varanasi-1
(INDIA)
1957

— मुद्रक —
विद्याविलास प्रेस,
वाराणसी-१

समर्पणम्

यो हि अद्यापि चुलुकीकृतसमस्तायुर्वेदवारिधिरगस्त्य इवापरोऽगस्त्यकुण्डे, काश्यां काशिराज इव द्वितीयो वैद्यविद्वद्वृन्दवन्दनीयः, सकलशास्त्राटवीस्वतन्त्रप्रचरणशीलः प्रखरपाण्डित्यपराक्रमाप्लावितरोमराजि. चञ्चद्यशश्चमत्कृच्चूलमूलः शार्दूल इव, बहलवात्सल्यपरिणीतहृदयो नवनीतान्तःस्निग्धविमुग्धाज्ञानतिमिरान्धचक्षुरुन्मीलनकुशलः शलाकाकृदिव वैदेहः ।

य चानेकपण्डितप्रकाण्डाः मनीषिमण्डलमण्डनायमानं परमविनीतभावेनाहर्निशं समुपास्य परं गौरवमावहन्ति ।

येन च परःसहस्राः जनाः भैषज्यविद्यादानेन नितरामधमर्णीकृताः, यस्मै च राज्य सर्वदा सुदुर्लभं सम्मानं समर्पयति लोकश्च भूयभिनन्दनदलम् ।

यस्माच्च विद्यासिन्धोः लेशमवाप्य शिष्यगणाः ज्ञानोर्मिभिर्जगतीमाप्लावयन्ति ।

यस्य च वार्धक्यमवलोक्य यौवनमपि जिह्वेति, विलक्षणवैदुष्यं च कान्ततमं निशम्यैकान्तमन्वेषयति सुरगुरुः ।

यस्मिंश्च विलीयन्ते प्रभूतपुरुषार्थपयःप्रपूराः ।

गुरुं सत्यनारायणं तं प्रणम्य प्रबद्धाञ्जलिर्भक्तिभावाब्धिमग्नः ।
सदाभास्वरे तत्पदाब्जे समर्प्य स्वकीयां कृतिं स्वं कृतार्थीकरोति ॥

तदीयपादपद्मलुब्धमधुव्रतानुकारप्रियः,

प्रियव्रतः

भूमिका

वैद्य राजेश्वरदत्त शास्त्री

[प्रिन्सिपल, आयुर्वेदिक कालेज तथा सुपरिंटेण्डेण्ट सर सुन्दरलाल हास्पिटल,

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी]

कालक्रम से आयुर्वेद के विकास के साथ उसकी नैदानिक पद्धतियों में भी परिवर्तन होते गये हैं। रोगि-परीक्षा के त्रिविध, पञ्चविध तथा अष्टविध साधन इसी स्वाभाविक प्रगति के परिणामस्वरूप आविर्भूत हुये हैं। आधुनिक युग में कुछ वर्ष पहले वैद्यगण केवल नाडी देखकर ही रोग का निदान कर लेते थे और अभी भी प्राचीन वैद्यों में अधिकांश ऐसे हैं जो अपने अद्भुत नाडीज्ञान से लोगों को चमत्कृत कर देते हैं। किन्तु आयुर्वेद की आधुनिक शिक्षा के साथ-साथ रोगि-परीक्षा की विधियों में भी आधुनिकता का समावेश आवश्यक समझा जाने लगा। आधुनिक विज्ञान की प्रगति के प्रभावों से प्राचीन विज्ञान अछूता नहीं रहा। तापमापक यन्त्र, श्रवणयन्त्र, रक्तभारमापक यन्त्र, क्ष-किरण आदि यन्त्रों से अब आयुर्वेद-जगत् भी पूर्ण लाभ उठा रहा है, फिर भी आयुर्वेद का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अपनी विशेषता रखता है और रोगनिदान में इसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। आज जब आयुर्वेद के उत्थान की बात की जाती है तब यह भी आवश्यक है कि आयुर्वेद की इन प्राचीन विधियों को पूर्ण प्रकाश में लाया जाय, जिससे वैद्यों में आत्मविश्वास उत्पन्न हो तथा जनता को भी पूरा लाभ हो। आयुर्वेद की प्राचीन संहिताओं में भी नैदानिक पद्धतियों का विवेचन प्रचुर है, किन्तु अभी तक उन्हें क्रियात्मक रूप देने की दिशा में विशेष प्रयत्न नहीं किया गया, यद्यपि यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। रोगि-परीक्षा के भी जो ग्रन्थ इधर देखने में आते हैं वे सब

आधुनिक पद्धति पर ही अवलम्बित है। आयुर्वेदीय पद्धति पर अभी तक इस विषय में किसी ग्रन्थ का न होना वस्तुतः खटकने की बात थी। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन से आयुर्वेद-समाज को प्रसन्नता होना स्वाभाविक है।

श्री पं० प्रियव्रत शर्मा आयुर्वेद जगत् के एक माने हुये उच्च कोटि के प्रतिभाशाली लेखक हैं। आयुर्वेदीय साहित्य की अभिवृद्धि में इनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विगत २० वर्षों से आपकी रचनायें प्रकाशित होती आ रही हैं और इधर भी आपके अनेक उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं। आयुर्वेदीय सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने का आपने स्तुत्य प्रयास किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'रोगि-परीक्षा-विधि' में भी आपने आयुर्वेद को आगे रक्खा है और आधुनिक विज्ञान के उपादेय अंशों का भी समावेश बडी कुशलता से किया है।

आयुर्वेद के विकास के लिये उसके साहित्य का विकास भी आवश्यक है। अतः ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के कारण लेखक और प्रकाशक दोनों ही परम धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है, आयुर्वेद की शिक्षण-संस्थायें, अध्यापक, छात्र तथा वैद्यवृन्द इस उपयोगी ग्रन्थ को अपनाकर लाभ उठायेंगे।

तुलसी-जयन्ती
वि० सं० २०१४

वैद्य राजेश्वरदत्त शास्त्री

प्राक्कथन

मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्ती परिभाव्य च ।
अयं रोगिपरीक्षाख्यो नवग्रन्थो विरच्यते ॥

यह युग रचनात्मक है। विशेषतः शताब्दियों से उपेक्षित आयुर्वेद के पुनर्निर्माण का कार्य बहुत बड़ा है। यह तभी संभव है जब आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुसार उसके सत्य स्वरूप का उद्घाटन किया जाय। शुद्ध आयुर्वेद के आन्दोलन का मैं क्षीरभूत अर्थ यही समझता हूँ। मेरा विचार है कि चिकित्सा-शास्त्र के सभी अंगों में आयुर्वेद की मौलिकता जगत् के समक्ष उपस्थित की जाय। कुछ पाश्चात्यमतानुयायी आयुर्वेद के अस्तित्व को दो-तीन अंगों में ही सीमित रखकर शेष को पाश्चात्य से पूरा करना चाहते है, यह अन्याय है। मैं यह अनुभव करता हूँ कि इस प्रवृत्ति से आयुर्वेद की महत्त्वपूर्ण निधि सदा के लिए लुप्त हो जायगी। वस्तुतः यह मानना चाहिए कि कायचिकित्सा, रसशास्त्र और द्रव्यगुण के अतिरिक्त शल्यतंत्र, शालाक्य, प्रसूति आदि विषयों में भी आयुर्वेद का वैशिष्टय है और चिकित्साशास्त्र इससे गौरवान्वित हो सकता है। मैं तो यह भी मानता हूँ कि प्रयोगशालाओं में रोगी के दोष-धातु-मलों की परीक्षा आयुर्वेदीय पद्धति से संभव है और आयुर्वेद-महाविद्यालयो में ऐसी प्रणाली को शीघ्र समाविष्ट करने की नितान्त आवश्यकता है। आयुर्वेदीय संस्थाओं मे आधुनिक प्रणालियों का असंबद्ध अन्धानुकरण उन्मत्तगमन के समान निरुद्देश्य और निरादर्श है तथा इसे शीघ्रातिशीघ्र रोकना चाहिए। आयुर्वेद के वैज्ञानिक स्वरूप में पूर्ण श्रद्धा के साथ मौलिक रचनात्मक कार्यों में प्रवृत्त होने से ही हम आयुर्वेद का उपकार कर सकते है। अनुकरण की विभावरी बीत चुकी, समन्वय की उषा भी

पूजार्घ्य चढ़ाकर चली और अब आयुर्वेद का विभाकर अपनी नीललोहित किरणों से अन्तरिक्ष के वक्षःस्थल को आलोकित कर रहा है। पूज्यपाद स्व० आचार्य यादव जी के देहावसान ने आयुर्वेदीय इतिवृत्त के आधुनिक युग की तृतीय देहली का कपाट खोल दिया। यह काल अतीव गंभीर और दायित्वपूर्ण है क्योंकि यही आयुर्वेद के भविष्य का अन्तिम निर्णायक होगा।

अस्तु, इसी बुद्धि से मैंने रोगि-परीक्षा का यह ग्रन्थ आयुर्वेद के विद्यार्थियों और वैद्यों के लिए लिखा है जिसमें आयुर्वेदीय परम्परा को अधिकाधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यदि इस पद्धति का अनुसरण किया गया तो आयुर्वेदीय स्वरूप के उद्घाटन मे सहायता मिलेगी।

परम श्रद्धेय गुरुवर श्री पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री जी ने अपना बहुमूल्य समय निकाल कर इसकी भूमिका लिखने की कृपा की अत: मैं उनका कृतज्ञ हूँ। प्रकाशक महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं।

पाटलिपुत्र
श्रावणी २०१४

निवेदक
प्रियव्रत शर्मा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

परीक्षा

(Examination)

द्वितीय अध्याय

पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा

(Physical Examination)

तृतीय अध्याय

अङ्ग-प्रत्यङ्ग-परीक्षा

(Systematic Examination)

अष्टम अध्याय

साध्यासाध्यता और अरिष्ट-विज्ञान

(Prognosis)

नवम अध्याय

क्रियाक्रम और कार्यफल

(Treatment)

चित्र-सूची

—oo:o:oo—

तालिका-सूची

रोगि-परीक्षा-विधि

प्रथम अध्याय

परीक्षा

प्रमाणों के द्वारा विषय का निर्णयात्मक, निःसंशय ज्ञान प्राप्त करना परीक्षा कहलाता है।[1] किसी ठूंठे वृक्ष को देखने पर जब यह संशय हो जाता है कि यह स्थाणु है या पुरुष ? तो निकट जाकर देखने पर प्रत्यक्ष के द्वारा वह संशय निवृत्त हो जाता है और ठूंठा वृक्ष है, यह निश्चय होता है। इसे परीक्षा कहते हैं। जिस किसी विषय में संशयात्मक प्रतीति होने पर परीक्षा का आश्रय लिया जाता है और उसके द्वारा विषय का अध्यवसायात्मक ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

परीक्षा के द्वारा विषय का स्वरूप निर्धारित कर लेने पर ही कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये, अन्यथा विषय में सन्देह होने से सफलता में भी सन्देह रहता है।[2]

जिस प्रकार ज्ञानवान् पुरुष भी अपरीक्षित विषय में प्रवृत्त होने पर असफल हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानसंपन्न वैद्य भी बिना परीक्षा के हठात् चिकित्सा में प्रवृत्त होने पर अयश का भागी होता है। अतः परीक्षा के अनन्तर कार्य करने वाले ही कुशल कहे जाते हैं।[3]

अतः चिकित्सक को चाहिये कि समस्त परीक्ष्य भावों की परीक्षा करने के बाद चिकित्सा कर्म में प्रवृत्त हो, जिससे सफलता अवश्य मिले।[4]

परीक्षा का प्रयोजन

विकारों के यथाविधि चिकित्सासंपादन का ज्ञान ही परीक्षा का प्रयोजन है।

---

१. 'प्रमाणैरर्थावधारणं परीक्षा' (वात्स्यायन भाष्य)

२. 'ज्ञानपूर्वकं हि कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः।' (च वि ८)

३. 'नह्यलं ज्ञानवान् भिषङ्मुमूर्षुमातुरमुत्थापयितुं, परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति।' (च. सू १० अ)

४. 'तस्माद् भिषक् कार्यं चिकीर्षुः प्राक् कार्यसमारम्भात् परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्य कर्म समारभेत कर्त्तुम्।' (च. वि. ८ अ)

किस विकार में कौन सा कर्म करना चाहिये, यह परीक्षा के द्वारा ही ज्ञात होता है।[1]

द्विविध परीक्षा

आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीन प्रमाणों के द्वारा विषय का अवधारणात्मक ज्ञान होता है। आप्तोपदेश से विषय के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है और उसकी परीक्षा प्रत्यक्ष और अनुमान से होती है। अतः परीक्षा दो प्रकार की मानी गई है—प्रत्यक्ष और अनुमान। आप्तोपदेश भी उसमें सहायक होता है, अतः उसको लेकर त्रिविध भी कह सकते है।[2]

दशविध परीक्ष्य

कारण, करण, कार्ययोनि, कार्य, कार्यफल, अनुबन्ध, देश, काल, प्रवृत्ति और उपाय इन दस परीक्ष्य भावों की परीक्षा करने के बाद चिकित्सा में प्रवृत्त होने से इष्ट फल प्राप्त होता है।[3]

(१) कारण

कर्म के कर्त्ता को कारण कहते हैं। अत चिकित्साकार्य मे वैद्य कारण कहलाता है।[4]

---

१. 'परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्, प्रतिपत्तिर्नाम यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथानुष्ठानज्ञानम्।' (च वि. ८ अ)

२. त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते, किं ह्यनुपदिष्ट पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्। तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च, त्रिविधा वा सहोपदेशेन।' (च. वि ४ अ.)

'द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च, एतद्धि द्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन।' (च वि ८ अ)

३. 'ज्ञात्वा हि कारणकरणकार्ययोनिकार्यकार्यफलानुबन्धदेशकालप्रवृत्त्युपायान् सम्यगभिनिर्वर्त्तमानः कार्याभिनिर्वृत्ताविष्टफलानुबन्ध कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता प्रयत्नेन कर्त्ता।' (च. वि ८ अ.)

'एतद्दशविधमग्रे परीक्ष्यं, ततोऽनन्तरं कार्यार्था प्रवृत्तिरिष्टा।' (च वि. ८

४. 'कारणं नाम तद् यः करोति, स एव हेतुः, स कर्त्ता।' (च वि ८ अ)

'कार्यप्राप्तेः कारण भिषक्' (च वि ८)

(२) करण

कर्त्ता के कार्य में जो साधनभूत होता है उसे करण कहते हैं। चिकित्सा कार्य का करण औषध है।[१]

(३) कार्ययोनि

कार्य की विकृत अवस्था कार्ययोनि कहलाती है अथवा जो विकृत होकर कार्यरूप मे परिणत होता है उसे कार्ययोनि कहते हैं।[२]

चिकित्सा में कार्ययोनि धातुवैषम्य है, क्योंकि उसी के नष्ट होने पर धातुसाम्य होता है।

(४) कार्य

जिस उद्देश्य से कर्त्ता की प्रवृत्ति होती है उसे कार्य कहते हैं। चिकित्सा का कार्य धातुसाम्य है, क्योंकि उसी उद्देश्य से वैद्य प्रवृत्त होता है।[३]

(५) कार्यफल

जिस प्रयोजन के लिए कार्य किया जाता है उसे कार्यफल कहते हैं। चिकित्सा का कार्य धातुसाम्य इस प्रयोजन से किया जाता है कि जिससे सुख की प्राप्ति हो। अतः सुखावाप्ति कार्यफल हुआ।[४]

(६) अनुबन्ध

कार्य के अनन्तर तज्जन्य शुभ या अशुभ भाव का जो सबन्ध होता है उसे

---

१. 'करणं पुनस्तद्यदुपकरणायोपकल्पते कर्त्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य।' (च वि ८)
'करणं पुनर्भेषजम्' (च वि ८)

२. 'कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्यत्वमापद्यते।' (च वि ८)
'कार्ययोनिर्धातुवैषम्यम्' (च वि ८)

३. 'कार्यं तु तद् यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय प्रवर्त्तते कर्त्ता।'

'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥' (च सू. ९)

'कार्यं धातुसाम्यम्' (च. वि ८)

४. 'कार्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते।' (च. वि. ८)
'कार्यफल सुखावाप्तिः।' (च वि ८)

अनुवन्ध कहते हैं। चिकित्सा का अनुवन्ध आयु होता है, क्योंकि कार्य के अनन्तर उसके द्वारा अवश्य संवन्ध होता है।[१]

(७) देश

अधिष्ठान को देश कहते हैं। चिकित्सा में भूमि और आतुर दोनों देश होते हैं। रोग का अधिष्ठान होने से आतुर तथा आतुर एवं औषध का अधिष्ठान होने से भूमि देश कहलाती है।[२]

(८) काल

परिणाम को काल कहते हैं। काल शब्द से संवत्सर तथा आतुरावस्था दोनों का ग्रहण होता है।[३]

(९) प्रवृत्ति

कार्य के लिए चेष्टा को प्रवृत्ति कहते हैं। वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक इन चारों की क्रियाओं का संयोग होकर चिकित्सा का प्रारंभ करना प्रवृत्ति कहलाता है।[४]

(१०) उपाय

कारण, करण और कार्ययोनि इनका कार्य के अनुकूल विधान करना उपाय कहलाता है।[५]

इन दशविध परीक्ष्य भावों की परीक्षा करने के बाद ही कर्म में प्रवृत्त होने से सफलता प्राप्त होती है। केवल योगों से चिकित्सा करने पर सफलता नहीं मिलती।[६]

---

१. 'अनुवन्धस्तु खलु स यः कर्त्तारमवश्यमनुवध्नाति कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाऽप्यशुभो वा भावः।' (च. वि. ८)
'अनुवन्धस्तु खल्वायुः' (च. वि. ८)

२ 'देशस्त्वधिष्ठानम्' (च. वि. ८)

३. 'कालः पुनः परिणामः' (च. वि ८)
'कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च।' (च. वि. ८)

४. 'प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्यसमारम्भश्च।' (च. वि ८)
'प्रवृत्ति प्रतिकर्मसमारम्भः'—तस्य लक्षणं भिषगातुरौषधपरिचारकाणां क्रियासमायोगः।' (च वि. ८)

५. 'उपायः पुनस्त्रयाणां कारणादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक्' (च. वि. ८)

६. 'तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्॥' (च. चि ३०)

रोगि-परीक्षा और रोग-परीक्षा

आयुर्वेद का प्रयोजन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा तथा आतुर के विकार का शमन करना है। आतुर के विकार की शान्ति उसकी पूर्ण परीक्षा पर निर्भर है। प्रथम आतुर की परीक्षा कर उसके आधार पर तद्गत विकार का विनिश्चय किया जाता है और तदनन्तर चिकित्सा के द्वारा उसकी शान्ति कर धातु-साम्य स्थापित किया जाता है। अतएव आयुर्वेद का चरम उद्देश्य 'धातुसाम्यक्रिया' बतलाया गया है।[१]

उपर्युक्त दृष्टिकोण से रोगविज्ञान का विषय दो भागों में विभक्त किया गया है:—

१. रोगि-परीक्षा (Case-Taking)।

२. रोग-परीक्षा (Diagnosis)

चिकित्सक को रोग-परीक्षा के अनन्तर ही चिकित्साकर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। वैद्य सर्वप्रथम रोग की परीक्षा करे, उसके बाद औषध की परीक्षा करे और तब ज्ञानपूर्वक चिकित्सा मे प्रवृत्त हो। जो वैद्य रोग का ज्ञान प्राप्त किये बिना चिकित्सा में प्रवृत्त होते हैं औषध के ज्ञाता होने पर भी संयोगवश कभी-कभी सफल होते हैं, प्रायः उन्हें असफलता ही मिलती है। इसके विपरीत, जो चिकित्सक रोग का विशेष ज्ञान रखते है तथा सब औषधों की पूरी जानकारी प्राप्त कर उनका देश और काल के अनुसार प्रयोग करते हैं उनकी सफलता निःसन्देह होती है।[२] वस्तुतः रोग का परिज्ञान कर रोगी की वेदना को शान्त करना ही वैद्य का प्रधान लक्ष्य है।[३]

'योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति।
वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः॥ (च. चि. अ. ३०)

१. 'धातुसाम्यक्रिया प्रोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' (च. सू १)

२. 'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्॥
यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्।
अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया॥
यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः।
देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम्॥' (च. सू. २० अ)

३. 'व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।

रोगिपरीक्षा का प्रयोजन

विकारों के यथाविधि चिकित्सा-संपादन का ज्ञान ही रोगिपरीक्षा का प्रयोजन है। रोगिपरीक्षा के द्वारा रोग के सम्बन्ध में ज्ञातव्य विषयों का संकलन किया जाता है और उन्ही के आधार पर युक्तिपूर्वक रोग का निर्णय किया जाता है। रोगिपरीक्षा के विना रोग का निर्णय नही हो सकता और उसके विना फिर चिकित्सा कैसे हो सकती है? अत: चिकित्सा की सफलता के लिए रोगिपरीक्षा का अत्यधिक महत्त्व है। सूक्ष्म दृष्टि से रोगी के समग्र भावों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना ही चिकित्सक का प्रथम कर्त्तव्य है।[1]

रोगिपरीक्षा के द्वारा आतुर के वल, दोप एवं आयु के प्रमाण का परिज्ञान किया जाता है। अतः रोगि-परीक्षा के सन्निहित प्रयोजन तीन हैं:[2]।

१. आतुरवलप्रमाण-परिज्ञान।

२. आतुरदोपप्रमाण-परिज्ञान।

३. आतुरायु प्रमाण-परिज्ञान।

(क) आतुरवल-प्रमाण-विज्ञान

इसके लिए निम्नांकित वातों पर विचार किया जाता है।[3]

१. प्रकृति	२ सार	३. सहनन	४. प्रमाण	५. सात्म्य
६. सत्त्व	७ आहारशक्ति	८. व्यायामशक्ति	९. वय	१०. देश

एतद्वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुपः॥' (भै० र०)

१. 'ज्ञानवुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति॥' (चरक वि ४ अ.)
'सर्वथा सर्वमालोच्य यथासंभवमर्थवित्।
अथाध्यवस्येत्तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम्॥
कार्यतत्त्वविशेपज्ञ: प्रतिपत्तौ न मुह्यति।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम्॥' (चरक वि ४ अ.)

२. 'आतुरस्तु खलु कार्यदेशः; तस्य परीक्षा आयुप. प्रमाणज्ञानहेतोर्वा वलदोष-प्रमाणज्ञानहेतोर्वा।' (चरक वि. ८ अ.)

३. 'तस्मादातुर परीक्षेत—प्रकृतितश्च विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च प्रमाणतश्च

(ख) आतुरदोष प्रमाण-परिज्ञान

आतुरगत दोषप्रमाण के परिज्ञान के लिए निम्नांकित बातों का विचार किया जाता है।[1]

१. निदान
२. हेतुविशेष
३. दोषविशेष
४. दूष्यविशेष
५. साध्यासाध्यता

दोषप्रमाण के अनुरूप जो औषध का प्रयोग करते हैं उसमें आतुर के बल प्रमाण का भी विचार अत्यावश्यक होता है। दुर्बल रोगियों में सहसा तीक्ष्ण और प्रबल औषधों का प्रयोग करने से महती हानि हो सकती है तो बलवान् रोगी की प्रबल व्याधि में मृदु एवं अल्पबल औषध का प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अतः आतुर के बल एवं दोष का विचार चिकित्सा की सफलता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[2]

सात्म्यतश्च सत्त्वतश्चाहारशक्तितश्च व्यायामशक्तितश्च वयस्तश्चेति बलप्रमाण-विशेषग्रहणहेतोः।' (च वि ८)

'रोगं सात्म्यं च देशं च कालं देहं च बुद्धिमान्।
अवेक्ष्याग्न्यादिकान् भावान् रोगवृत्तेः प्रयोजयेत्॥'
(सु सू-२० अ)

'दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्त्वं सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥' (अ हृ. सू १२।६०)

१ 'विकृतिरुच्यते विकारः। तत्र विकारं हेतुदोषदूष्यप्रकृतिदेशकालबलविशेषै-र्लिङ्गतश्च परीक्षेत'। (च वि ८)

'न ह्यन्तरेण हेत्वादीनां बलविशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धिः।' (च वि. ८)

हेत्वादिकात्स्न्र्यावयवैर्बलाबलविशेषणम्। (मा नि)

२ 'तत्र तावदियं बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः—दोषप्रमाणानुरूपो हि भेषजप्रमाण-विशेषो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति। सहसा ह्यतिबलमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्प-बलमातुरमतिपातयेत्; न ह्यतिबलान्याग्नेयसौम्यवायवीयान्यौषधान्यग्निक्षारशस्त्र-कर्माणि वा शक्यन्तेऽल्पबलैः सोढुम्, असह्यातितीक्ष्णवेगत्वाद्धि तानि सद्यः प्राण-हराणि स्युः; एतच्चैव कारणमपेक्षमाणा हीनबलमातुरमविषादकरैर्मृदुसुकुमारप्रायैरुत्त-रोत्तरगुरुभिरविभ्रमैरनात्ययिकैश्चोपचरन्त्यौषधैः, विशेषतश्च नारीः; ता ह्यनवस्थित-

(ग) आतुरायुःप्रमाणपरिज्ञान

आतुर की आयु के प्रमाण का परिज्ञान निम्नलिखित लक्षणों से किया जाता है—

१. ज्योतिर्लक्षण   २. सामुद्रिकलक्षण

३. शारीरलक्षण   ४. अरिष्टलक्षण

इनमें प्रथम दो ज्योतिष और सामुद्रिक शास्त्रों से सम्बन्ध रखते हैं अतः उनका अवलोकन वहीं करना चाहिए। पिछले दो में शारीरलक्षणों का वर्णन अवस्थान-परीक्षा तथा अरिष्टलक्षणों का वर्णन विकृति-परीक्षा के प्रकरण में किया जायगा।

रोगि–परीक्षा में त्रिविध प्रमाणों का उपयोग

रोगिपरीक्षा में आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान इन तीनों प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। क्योंकि एक के द्वारा विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। सर्वप्रथम आप्तोपदेश के द्वारा रोग के स्वरूप का ज्ञान होता है, तदनन्तर प्रत्यक्ष के द्वारा रोगी के स्थूल भावों तथा अनुमान के द्वारा सूक्ष्म भावों की परीक्षा की जाती है। प्रश्न परीक्षा में भी अनुमान प्रमाण का उपयोग होता है।[1]

वस्तुतः आप्तोपदेश से रोग के स्वरूप तथा आतुरपरीक्षा-पद्धति का ज्ञान होता है और प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन्हीं दो प्रमाणों का उपयोग रोगिपरीक्षा में होता है। जिन्होंने आप्तोपदेश का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनके लिए प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण परीक्षा में उपयोगी होते हैं[2]।

...स्वल्पबलविज्ञानाद्वा। प्रायः मृदुसार्योऽबलाः परसत्तस्याश्च। तथा बलवति बलवद् व्याधिपरिगते स्वल्पसत्त्वमौषधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकं भवति।' (च. वि. ८ अ.)

१. 'त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति।'

'त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते।' (च. वि. ४ अ.)

'आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद् विचक्षणः॥' (च. वि. ४ अ.)

२. 'त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते, किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षमाणो विद्यात्; (च. वि. ४ अ.)

विशिखानुप्रवेश के योग्य वैद्य

शास्त्र का पूर्ण अध्ययन, मनन तथा क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जब राजा के द्वारा चिकित्सा का अनुमतिपत्र मिल जाय, तब पवित्र और मांगलिक देशकालानुकूल वेष में सद्वृत्त के अनुसार आचार विचार के साथ तथा उपकरण-युक्त होकर वैद्य को चिकित्सामार्ग में प्रवृत्त होना चाहिये।[1]

वैद्य को शास्त्र का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार का ज्ञान होना चाहिये।[2] जो केवल शास्त्रीय ज्ञान रखते हैं या केवल कर्मनैपुण्य से ही चिकित्सा करते हैं वे दोनों चिकित्सा कर्म के योग्य नहीं होते।[3] वह चतुर,

---

'तस्माद् द्विविधा परीक्षा ज्ञानवता प्रत्यक्षमनुमानञ्च, त्रिविधा वा सहोपदेशेन।' (च वि ४ अ)

'द्विविधा तु खलु परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानञ्च, एतद्धिद्वयमुपदेशश्च परीक्षा स्यात्। एवमेषा द्विविधा परीक्षा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन।' (च वि ८ अ)

१ अधिगततन्त्रेण उपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन शास्त्रार्थं निगदता राजानुज्ञातेन नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दण्डहस्तेन सोपानत्केन अनुद्धतवेषेण सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेणअकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां सुसहायवता वैद्येन विशिखा अनुप्रवेष्टव्या।' (सु सू १० अ.)

२ इत्यष्टांगमिदं तन्त्रमादिदेवप्रकाशितम्।
विधिनाधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा भुवि॥

एतदवश्यमध्येयमधीत्य च कर्माप्यवश्यमुपासितव्यमुभयज्ञो हि भिषक् राजार्हो भवति। (सु. सू ३ अ.)

यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने।
आहवे कर्म निर्वोढु द्विचक्रः स्यन्दनो यथा॥' (सु सू ३ अ.)
शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति॥ (च सू ९ अ.)
'शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः।
दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः॥
प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद् भवेत्।
समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम्॥' (सु. शा ५)

३ यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम्॥

पवित्र, सिद्धहस्त तथा उपकरणों से युक्त हो। उसकी सभी इन्द्रियां ठीक होनी चाहियें, जिससे रोग का ज्ञान ठीक ठीक हो सके और वैद्य के व्यक्तित्व का प्रभाव भी रोगी के मानसपटल पर पूर्ण रूप से पड़े। इससे वैद्य के प्रति रोगी की श्रद्धा बढ़ती है, जिससे आदेशानुकूल कार्य करने से चिकित्सा में सफलता मिलती है। वैद्य में रोगी की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता हो तथा औषधों की प्रकृति का भी पूर्ण ज्ञान हो। इनके साथ साथ विकार की शान्ति करने के लिए क्या करना चाहिये, इसका भी पूरा ज्ञान होना चाहिये।[1] प्रत्युत्पन्न-मतित्व वैद्य का अत्यावश्यक गुण है।

किसी देशकाल में तथा आत्ययिक अवस्था में विकार का सयुक्तिक विनिश्चय कर शीघ्र उसका उपचार करना ही वैद्य का कर्तव्य है। अवसर पर चूक जाना सबसे बड़ी अयोग्यता है। वैद्य कितनी भी शास्त्रीय योग्यता रखता हो, किन्तु यदि अवसर पर स्तब्ध एवं किंकर्तव्यविमूढ हो जाय तो उसकी विद्वत्ता किसी काम की नहीं। शास्त्रों में वैद्य की उपमा धानुष्क से दी गई है।[2]

'जिस प्रकार कुशल धनुर्धर अपने निकटवर्ती लक्ष्य में नहीं चूकता उसी प्रकार वैद्य अपने गुणों एवं उपकरणों से युक्त होने पर साध्य रोगों की चिकित्सा में अवश्य सफल होता है। यदि वह इस कार्य में असफल हो जाता है तो

यस्तु कर्मसु निष्णातो धार्ष्ट्याच्छास्त्रवहिष्कृतः।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः॥
उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि।
अर्धवेदधरावेतौ एकपक्षाविव द्विजौ॥ (सु. सू ३ अ.)

१. तत्रेमे भिषग्गुणा यैरुपपन्नो भिषग्धातुसाम्याभिनिर्वर्तने समर्थो भवति; तद्यथा-पर्यवदातश्रुतता, परिदृष्टकर्मता, दाक्ष्य, शौचं, जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता चेति।' (च. वि ८ अ)

श्रुते पर्यवदातत्वं वहुशो दृष्टकर्मता।
दाक्ष्य शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम्॥' (च. सू ९ अ)

२ 'इष्वासिनाऽऽरोग्यदस्य' (च. वि. ८ अ.)

यथा हि योगज्ञोऽभ्यासनित्य इष्वासो धनुरादायेषुमस्यन्नातिविप्रकृष्टे महति काये नापराधवान् भवति, सम्पादयति चेष्टकार्यं, तथा भिषक् स्वगुणसंपन्न उपकरणवान् वीक्ष्य कर्मारभमाणः साध्यरोगमनपराधः सम्पादयत्येवातुरमारोग्येण।' (च. सू १० अ.)

उससे उसकी अयोग्यता सिद्ध होती है और सारा सैद्धान्तिक ज्ञान निरर्थक हो जाता है।[१]

धानुष्क जब अपने लक्ष्य मे चूक जाता है, तो उसका सारा वाग्जाल व्यर्थ हो जाता है। उसी प्रकार चिकित्सक की सफलता भी उसकी योग्यता की सच्ची कसौटी है। अवसर पर स्तब्ध हो जाना बहुत बड़ी अयोग्यता है।

निकृष्टवेष, कठोर-रूक्ष, स्तब्ध, निन्दित स्थान में रहने वाले तथा बिना बुलाये स्वयं रोगी के घर उपस्थित हो जाने वाले वैद्य धन्वन्तरि के समान योग्य होने पर भी जनता द्वारा सम्मानित नही होते[२]।

वैद्य को बहुश्रुत होना चाहिये। आयुर्वेद के अतिरिक्त जो-जो विषय प्रसग वश इसमें आवें, उनकी शिक्षा तत्तद्विद्यों से ग्रहण करनी चाहिये।[३]

वैद्य को तर्कशील होना चाहिये, क्योंकि तर्क के सहारे ही वह शरीर के सूक्ष्म भावों का ग्रहण रोगी की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर करता है। इस लिए तर्क विहीन वैद्य की शास्त्रों में निन्दा की गई है।[४]

विकार का संकेत होने पर भी वैद्य को स्वय अपनी बुद्धि से तर्क के सहारे उसका निर्णय करना चाहिये। बिना तर्क की सिद्धि सयोगवश ही होती है, चिकित्सक का उसमें कोई कार्य नही होता और प्राय असफलता मिलने से अयश भी

---

१ 'अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जाल वाग्मिनो वृथा।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥' (शिशुपालवध २ सर्ग)

२ 'कुचेलः कर्कशः स्तब्धः कुग्रामी स्वयमागतः।
पञ्च वैद्या न पूज्यन्ते धन्वन्तरिसमा अपि ॥' (भै. र)

३ 'एक शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥' (सु सू ४ अ)

'अन्यशास्त्रोपपन्नानाञ्चार्थानामिहोपनीतानामर्थवशात्तेषां तद्विद्येभ्यः एव व्याख्यानमनुश्रोतव्य, कस्मात्? न हि एकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम्।' (सु. सू ४ अ.)

४. 'न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद् बुधः।
स्वयमप्यत्र वैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत् ॥
तस्मात्सत्यपि निर्देशे कुर्यादूह्य स्वय धिया।
बिना तर्केण या सिद्धिर्यदृच्छासिद्धिरेव सा ॥' (च सि २ अ)

मिलता है। वैद्य के गुणों का उल्लेख करते हुये महर्षि चरक ने इनमें वितर्क को महत्वपूर्ण स्थान दिया है।[१]

शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने के बाद उसका कर्माभ्यास भी निरन्तर करना चाहिये। अभ्यास से अनुभव बढता है तथा कर्म में दक्षता आती है। जिस प्रकार धानुष्क अभ्यास से अपने कार्य में कुशल हो जाता है, उसी प्रकार वैद्य की सफलता भी अभ्यास से निःसंशय हो जाती है। जौहरी अभ्यास से ही रत्नों का परिचय प्राप्त करता है, केवल शास्त्रीय ज्ञान से नहीं।[२]

कर्माभ्यास के बाद ही चिकित्सा कर्म में निपुणता प्राप्त होती है। महर्षि चरक ने बतलाया है कि यद्यपि विद्या, मति, कर्मदृष्टि, अभ्यास, सिद्धि और आश्रय इनमें से एक गुण होने पर भी चिकित्साकार्य किया जा सकता है तथापि वस्तुतः वैद्य वही है जिसमें ये सभी गुण विद्यमान हों[३]।

वैद्य को दयालु होना चाहिये।[४]

---

१. 'विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया।
यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥' (च. सू. ९ अ.)

२. 'अभ्यासात् प्राप्यते दृष्टिः कर्मसिद्धिप्रकाशिनी।
रत्नादिसदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते ॥' (अ. हृ. सू. १२ अ.)

३. विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः।
वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यतः ॥
यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः।
स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः ॥ (च. सू. ९ अ.)
'वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे।
तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः ॥ (सु. सू. ३ अ.)
शास्त्रं गुरुमुखोद्गीर्णं आदायोपास्य चासकृत्।
यः कर्म कुरुते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः ॥ (सु. सू. ४ अ.)

४. 'गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु।
गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात् ॥'
(वैद्यजीवनम्)
'मैत्री कारुण्यमार्त्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा ॥' (च. सू. ९ अ.)
मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चातुरः।
अथैतानभिशंकेत वैद्ये विश्वासमेति च ॥

वैद्य को सद्वृत्त का पालन करना चाहिये तथा लोकसंग्रही होना चाहिये। वैद्य का व्यक्तित्व ऐसा होना चाहिये जिसका प्रभाव जनता पर हो तथा लोक की श्रद्धा स्वाभाविक रूप से उसकी ओर बढ़ने लगे। वैद्य को स्वय स्वस्थ रहना चाहिये जिसका आदर्श और प्रत्यक्ष प्रभाव रोगी पर पड़े। वैद्य यदि स्वयं रोगी हो तो उसकी कोरी विद्वत्ता कपोलकल्पना ही समझी जाती है और 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' का कोई प्रभाव नहीं होता। वैद्य को सदैव अपनी मर्यादा और गौरव का ध्यान रहना चाहिये। उसे पञ्चवकार[1] का संग्रह अवश्य करना चाहिये।

उपर्युक्त गुणों से युक्त वैद्य 'प्राणाभिसर' तथा इसके विपरीत रोगाभिसर कहलाता है। प्राणाभिसर वैद्य उसे कहते है जो रोगों का नाश करके पुरुष के प्राण, जीवन, को बढ़ावे।[2]

प्राणाभिसर वैद्य का लक्षण चरक ने इस रूप से दिया है—'जो वैद्य शास्त्र, अर्थज्ञान, चिकित्सा-प्रवृत्ति एवं कर्मदर्शन इन चारों में योग्य हो वही प्राणाभिसर कहलाता है। रोगों के निदान (Cause), लक्षण (Symptoms), प्रशमन (Cure) तथा अपुनर्भव (Prevention) इन चारों का पूर्ण ज्ञान रखता है वही श्रेष्ठ वैद्य है। इसके अतिरिक्त, आत्रेय-सम्प्रदाय की चरकादि संहिताओं मे जो विषय निर्दिष्ट हैं उनका पूर्ण अध्ययन, मनन और प्रयोग जिसने किया है वही वस्तुतः चिकित्सा में कुशल हो सकता है'।[3]

इन लक्षणों के विपरीत रोगाभिसर वैद्य होते हैं जो राज्य की अनवधानता के

विसृजत्यात्मनात्मानं न चैनं परिशङ्कते।
तस्मात् पुत्रवदेवैनं पालयेदातुर भिषक्॥ (सु. सू. २५ अ)

१ 'विद्यया वपुषा वाचा वस्त्रेण विभवेन च।
एतैः पञ्चवकारैस्तु नरः प्राप्नोति गौरवम्॥'

२. 'द्विविधास्तु खलु भिषजो भवन्त्यग्निवेश! प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणां, रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानामिति।' (च. सू. २९ अ)

३. 'तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने।
भिषक् चतुष्टये युक्त‌ः प्राणाभिसर उच्यते॥
हेतौ लिंगे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे।
ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः॥' (च. सू. ९ अ.)

कारण अपने छद्म से लोगों का अहित करते हैं। सुश्रुत ने भी लिखा है कि ऐसे कुवैद्य राज्यदोष के कारण ही जनता का हनन करते हैं।[1]

प्राणाभिसर योग्य वैद्य तो महर्षियों के भी नमस्कार के पात्र हैं।[2]

रोगिपरीक्षा में पूर्णता का महत्त्व

रोगी की परीक्षा सभी प्रमाणों के द्वारा पूर्णरूप से यथाविधि करनी चाहिये। केवल कुछ लक्षणों को देख कर या केवल अनुमान के बल पर कुछ निर्णय कर लेना उचित नहीं है। कारण यह है कि इससे रोगी की प्रकृति का पूरा पता नहीं लगता, जिससे रोग के सम्बन्ध में भी सन्देह बना रहता है। रोगी दो प्रकार के होते हैं–गुरुव्याधित और लघुव्याधित। गुरुव्याधित भी सत्वबल तथा शरीरबल से सम्पन्न होने के कारण लघुव्याधित के समान प्रतीत होता है। इसके विपरीत, लघुव्याधित सत्त्व एवं शरीर बल अधम होने के कारण गुरु व्याधित के समान दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में, केवल प्रत्यक्ष के द्वारा व्याधि के बलाबल का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अतः सभी प्रमाणों के द्वारा विधिपूर्वक पूर्ण परीक्षा होनी चाहिये, क्योंकि किसी एक प्रमाण के द्वारा सम्पूर्ण विषय का ज्ञान नहीं होता।[3]

---

१. छेद्यादिष्वनभिज्ञो यः स्नेहादिषु च कर्मसु।
स निहन्ति जनं लोभात् कुवैद्यो नृपदोषतः॥ (सु. सू. ३ अ.)

२. ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः।
जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः॥ (सु. सू. २९ अ.)

३. 'इह खलु द्वौ पुरुषौ व्याधितरूपौ भवतः—गुरुव्याधितो लघुव्याधितश्च। तत्र गुरुव्याधित एकः सत्त्वबलशरीरसम्पदुपेतत्वाल्लघुव्याधित इव दृश्यते। लघुव्याधितोऽपरः सत्त्वादीनामधमत्वाद् गुरुव्याधित इव दृश्यते, तयोरकुशलाः केवलं चक्षुषैव रूपं दृष्ट्वाऽध्यवस्यन्तो व्याधिगुरुलाघवे विप्रतिपद्यन्ते। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते।'

'सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याधीनां रूपमातुरे।
दृष्ट्वा विप्रतिपद्यन्ते बाला व्याधिबलाबले॥
ते भेषजमयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा॥
प्राज्ञास्तु सर्वमाज्ञाय परीक्ष्येह सर्वथा।
न स्खलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन॥ (च. वि. ७ अ.)

रोगिपरीक्षा के साधन

दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न ये तीन रोगिपरीक्षा के साधन हैं तथा निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति यह निदानपचक रोगपरीक्षा का साधन है।[1]

सुश्रुत के मत में रोगिपरीक्षा के ६ साधन बतलाये गये हैं—पञ्चेन्द्रिय और प्रश्न।

वैद्य शकुन, मंगल आदि की अनुकूलता के अनुसार रोगी के घर जाकर उसकी परीक्षा दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न के द्वारा करे। कुछ लोगों का विचार है कि इन्हीं तीन साधनों से रोगों का ज्ञान प्राय करना चाहिये, किन्तु यह ठीक नही है। वस्तुत रोगज्ञान के ६ उपाय हैं:—पञ्चेन्द्रिय और प्रश्न।[2]

उपर्युक्त मतों की समीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग रोगिपरीक्षा के तीन साधन मानते हैं[3] वे भी षड्विध साधन के विपक्ष में नहीं हैं, जैसा कि सुश्रुत की पंक्तियों में विद्यमान 'प्रायश' शब्द से लक्षित होता है। षड्विध साधन होने पर भी पञ्चेन्द्रियों मे प्राय दर्शन और स्पर्शन का ही उपयोग अधिक होता है, अत इन्ही का निर्देश किया गया और प्राय. शब्द से सुश्रुतोक्त मत में भी सम्मति प्रकट की गई है।

रोगिपरीक्षा की विधि

रोगिपरीक्षा से पूर्व वैद्य अपनी शारीरिक स्वच्छता एव मानसिक प्रसन्नता पर ध्यान दे। विशेपत हाथों की सफाई परीक्षा के पूर्व अत्यन्त आवश्यक है। यदि हो सके तो नख आदि साफ करके किसी विसंक्रामक घोल से हाथ धो ले। रोगिपरीक्षा के लिए एक विशेष शुक्ल वस्त्र भी रखना चाहिए जो उस अवसर पर बराबर पहन लिया जाय।[4] परीक्षाकाल में वैद्य का मन प्रशान्त एवं चित्त स्थिर

---

१. 'दर्शनस्पर्शनप्रश्नै. परीक्षेताथ रोगिणम्।
रोग निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः॥' (अ. हृ सू १ अ.)

२. 'ततो दूतनिमित्तशकुनमंगलानुलोम्येन आतुरगृहमभिगम्य उपविश्य आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै. रोगा. प्रायशो वेदितव्या इत्येके। तत्तु न सम्यक्। षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः—तद्यथा पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति।' (सु. सू १० अ)

३ 'दर्शनप्रश्नसस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता।' (च. चि २५ अ.)

४. 'नीचनखरोमणा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन' (सु. सू. १०)

होना चाहिए।[1] यदि किसी कारण से चित्त विकृत हो तो उस समय रोगिपरीक्षा नही करनी चाहिए।

रोगिपरीक्षा के अनन्तर भी अपना हाथ उसी प्रकार अवश्य धो लेना चाहिए जिससे रोगी के द्वारा कोई संक्रमण न होने पावे।[2]

रोगिपरीक्षा के विभाग

सुश्रुत के मत से साधनों के अनुसार रोगिपरीक्षा के दो विभाग किये गये हैं:—

(१) पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा (Physical examination)

(२) प्रश्न-परीक्षा (Interrogation)

चरक ने रोगिपरीक्षा को प्रमाणों के आधार पर दो भागों में विभाजित किया है:-

(१) प्रत्यक्ष-परीक्षा।

(२) अनुमान-परीक्षा।

प्रत्यक्षपरीक्षा में रसना को छोड़कर अन्य चारों इन्द्रियों के द्वारा परीक्षा का ग्रहण होता है। अनुमानपरीक्षा में रसनापरीक्षा तथा प्रश्नपरीक्षा का समावेश होता है।[3]

इन्द्रिय का विषय होने पर भी रस का ग्रहण प्रत्यक्ष से उचित नही है, अतः इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा करना चाहिये। आधुनिक मत में भी रस का ग्रहण प्रत्यक्ष से नही होता। प्रायोगिक परीक्षाओं के द्वारा अनुमान के आधार पर उसकी प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ, मूत्रगत शर्करा का रसनेन्द्रिय से ग्रहण न कर रासायनिक परीक्षाओं के द्वारा उसकी उपस्थिति अनुमान से निश्चित की जाती है।[4]

सुश्रुत और चरक दोनों के मतों पर यदि समन्वयात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो निम्नांकित विभाजन अधिक उपयोगी और व्यावहारिक प्रतीत होता है –

---

१ स्थिरचित्तः प्रशान्तात्मा मनसा च विशारदः। स्पृशेदङ्गुलिभिर्नाडीम्’ (यो र)

२. यो रोगिणः करं स्पृष्ट्वा स्वकरं क्षालयेद् यदि।
रोगास्तस्य विनश्यन्ति पंकः प्रक्षालनाद् यथा॥ (यो र.)

३. ‘प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्सु’ सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थान् आतुरशरीरगतान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात्। (च. वि ४ अ)

४. ‘रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत् न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते।’ (च. वि ४ अ)

(१) पञ्चेन्द्रियपरीक्षा (२) अनुमानपरीक्षा (३) प्रश्नपरीक्षा ।

किन्तु अनुमान, प्रत्यक्ष और प्रश्न पर निर्भर रहने के कारण रोगि-परीक्षा में उसका स्वतन्त्र स्थान निश्चित करना कठिन है। इस प्रकार अन्ततः दो ही मौलिक परीक्षायें रहती हैं :—

१ प्रत्यक्ष परीक्षा । २. प्रश्न परीक्षा ।

ये ही दो परीक्षायें आधुनिकों द्वारा भी मान्य हैं।

प्रत्यक्ष-परीक्षा या पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा

(Physical Examination)

(क) दर्शन-परीक्षा (Inspection)—

इसके द्वारा निम्नाकित भावों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है ;—

उपचय	अपचय
ग्लानि	हर्ष
रौक्ष्य	स्नेह
वर्ण	
संस्थान	
प्रमाण	
छाया	

शरीरगत अंगों के प्राकृतिक और वैकारिक भाव ।[1]

सर्वप्रथम रोगी की सामान्यदशा के प्रकरण में उपचय आदि भावों की परीक्षा होती है, तदनन्तर प्रत्येक संस्थान की क्रमश· दर्शन-परीक्षा की जाती है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म वस्तुओं की जो परीक्षा अणुवीक्षण-यन्त्र की सहायता से की जाती है, उसका भी अन्तर्भाव दर्शन-परीक्षा में ही किया जाता है।

---

१. 'चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादयः ।' (सु सू १०)

'वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाः शरीरप्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्यनुक्तानि तानि चक्षुषा परीक्षेत ।' (च. वि. ४ अ.)

'वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात् ।' (च चि. २५)

शरीरस्थ आभ्यन्तर अंगों के विकारों का दर्शन क्ष-किरणचित्र के द्वारा किया जाता है। यह भी दर्शन-परीक्षा का ही अंग है। चक्षुरिन्द्रिय से केवल या किसी उपकरण विशेष की सहायता से जो भी परीक्षा होती है, वह दर्शन-परीक्षा कहलाती है।

(ख) स्पर्शन-परीक्षा

(१) विधि

स्पर्शन-परीक्षा के लिए रोगी के शरीर का प्राकृत हाथ से स्पर्श करें।[1] प्राकृत हाथ का अभिप्राय यह है कि उसका तापक्रम स्वाभाविक हो, जिससे शीतोष्ण का सम्यक् परिज्ञान हो सके। हाथ अत्यधिक शीत होने से उदर की पेशियाँ कड़ी हो जाती हैं, जिससे कोष्ठाङ्गों की परीक्षा ठीक नही हो पाती। इसके अतिरिक्त रूक्षता, स्निग्धता आदि भावों के दृष्टिकोण से भी हाथ प्राकृत रहना चाहिये, जिससे शारीरिक भावों का सम्यक् परिज्ञान हो सके। इसका भाव यह भी है कि हाथ की स्पर्शग्रहण-शक्ति प्राकृत हो, क्योंकि यदि इसका विकार होगा तो स्पर्श का ठीक-ठीक ग्रहण न होने से विकृति का सम्यक् परिज्ञान नहीं होगा।[1]

(२) प्रकार

स्पर्शन-परीक्षा पाँच प्रकार की होती है :—

(१) परिमर्शन—(Palpation)

(२) आयमन—(Extension) (४) आकोठन—(Percussion)

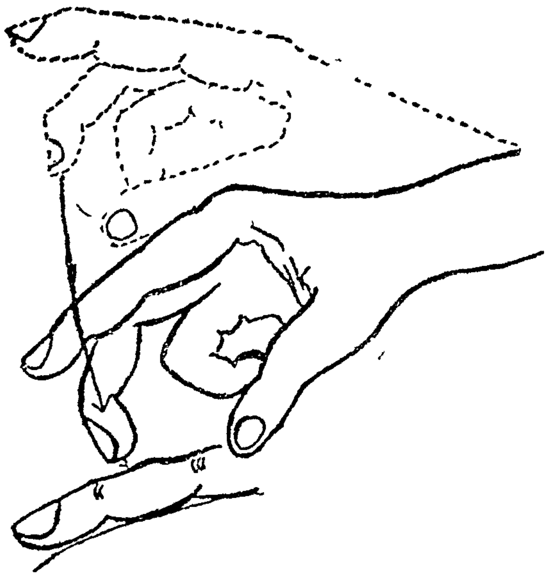
(३) प्रपीडन—(Pression) (५) लुञ्चन—(Traction)

सामान्य स्पर्शन को परिमर्शन कहते हैं। किसी अंग को फैलाकर परीक्षा करना आयमन कहलाता है। किसी अंग या स्थानविशेष को हाथ की अँगुलियों से दबाकर प्रपीडन परीक्षा की जाती है। आकोठन परीक्षा को आहनन भी कहा गया है। इससे अँगुलियों से आघात करके शरीर की धातुओं में कृत्रिम कम्पन तरंगें उत्पन्न की जाती हैं। बाँये हाथ की तर्जनी अँगुलि धातुओं के सम्पर्क में रक्खी जाती है, इसे आकोठित अंगुलि (Pleximeter finger) कहते हैं।

---

१. 'प्रकृतिविकृतियुक्तं स्पर्शं च जिज्ञासुः प्रकृतिस्थेन पाणिना शरीरमस्य केवलं स्पृशेत् विमर्शयेद्वाऽन्येन।' (च. वि. ४)

इस अंगुलि के द्वितीय पर्व पर दाहिने हाथ की तर्जनी, जिसे आकोठक अंगुलि (Plexor finger) कहते हैं, के द्वारा आघात किया जाता है। इस क्रिया में यह ध्यान रखना चाहिये कि आघात करते समय आकोठक अँगुलि आकोठित अँगुलि पर समकोण में रहे और आघात मणिवन्ध से ही होना चाहिये, कूर्पर तथा स्कन्ध-सन्धि की गति आवश्यक नही है। उत्तान धातु या अंग की आकोठन परीक्षा में आघात हलका होना चाहिये, किन्तु गम्भीर अग की परीक्षा के लिये गुरु आघात आवश्यक होता है।



चि० १ आकोठन-विधि

आकोठन-परीक्षा से प्रतीत विशिष्ट ध्वनियाँ

(१) सौषिर ध्वनि (Resonance)

जिन अंगों में वायु भरी होती है उनमें यह ध्वनि मिलती है। फुफ्फुस के वायु कोषों में वायु भरी होने के कारण फुफ्फुस पर स्वभावत यही ध्वनि मिलती है।

(२) अतिसौषिर ध्वनि (Hyper-resonance)

फुफ्फुस के वायुकोषों में प्राकृत से अधिक वायु होने के कारण यह ध्वनि प्राप्त होती है।

(३) आध्मात ध्वनि (Tympany)

यह उपर्युक्त ध्वनि का ही तीव्र प्रकार है जो आमाशय, अन्त्र आदि अंगों में अत्यधिक वायु भर जाने (आध्मान) से मिलती है।

(४) मन्द ध्वनि (Dullness)

उपर्युक्त ध्वनियों के विपरीत यह यकृत्, हृदय आदि ठोस अंगों का आकोठन करने से सुनी जाती है।

(५) अतिमन्द या उत्तान ध्वनि—(Flatness)

मन्द ध्वनि जब अधिक बढ़ी हुई मिलती है, तब उसे अतिमन्द ध्वनि कहते हैं। [illegible] पर आकोठन करने से यह मिलती है।

आध्मात ध्वनि तथा अतिमन्द ध्वनि इन दो सीमाओं के बीच में अनेक [illegible] ध्वनियाँ मिलती हैं, जिनको अनुभव से प्रतीत किया जा सकता है।

रोम [illegible] आदि [illegible] को खींचकर देखना लुञ्चन कहलाता है।

(३) परीक्ष्य भाव

स्पर्शन परीक्षा के द्वारा निम्नांकित भावों की परीक्षा की जाती है :—

शीतता-उष्णता	अवनतता-उन्नतता
[illegible]	समूलता-निःमूलता
[illegible]	स्थिरता-अस्थिरता
[illegible]	मृदुता कठिनता
[illegible]	सस्पन्दता-अस्पन्दता
[illegible]	पूयता-अपूयता
[illegible]	घनता-द्रवता

[illegible], शरीर के विभिन्न अंगों की [illegible] परीक्षा स्पर्शन के द्वारा [illegible] शरीर के [illegible] जो परीक्षा की जाती है, वह [illegible]।[1]

१. [illegible] शीतोष्ण[illegible]मृदुकठिनत्वादयः स्पर्शविशेषाः [illegible]॥ (सु. सू. १० अ.)

'स्पर्शं च पाणिना [illegible]' (च. वि. ४ अ.)

(ग) श्रवण-परीक्षा

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शरीरस्थ भावों की जो परीक्षा की जाती है, वह श्रवण परीक्षा कहलाती है।[1] रोगी के शरीर में कुछ ऐसे व्यक्त शब्द होते हैं, जिनकी प्रतीति यन्त्र की सहायता के बिना ही स्वत. श्रोत्रेन्द्रिय से होती है, इन्हें स्वतः गम्य (Extra-auscultatory sound) कहते हैं यथा अन्त्रकूजन, सन्धि-स्फुटन आदि। इसके अतिरिक्त शरीर के कुछ भीतरी अंगों यथा हृदय, फुफ्फुस में कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका ग्रहण श्रवणयन्त्र की सहायता से होता है। इन्हें यन्त्रगम्य (Auscultatory sound) कहते हैं।

परीक्ष्य भाव

स्वतःगम्य	यन्त्रगम्य
अन्त्रकूजन	फुफ्फुस, हृदय आदि अंगों के ध्वनिविशेष
सन्धिस्फुटन	
पर्वस्फुटन	
स्वरविशेष	
घुर्घुरक	
कण्ठकूजन	

महर्षि चरक ने स्वतः प्रतीयमान बाह्य शब्दों तथा शरीरावयवगत आभ्यन्तर शब्दों के वर्गीकरण का स्पष्ट संकेत किया है।[2]

(घ) घ्राण-परीक्षा

घ्राण-परीक्षा के द्वारा शरीर के प्राकृत एवं वैकृत गन्धों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अनेक वैकारिक अवस्थाओं मे शरीर से विशिष्ट गन्ध आने लगती है, जिससे विकार के निर्णय मे सहायता मिलती है। यथा मूत्रविषमयता में शरीर से मूत्र के समान गन्ध आती है तथा प्रमेह की अनेक अवस्थाओं में शरीर से

---

१. 'तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेयाः विशेषा रोगेषु व्रणास्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते। सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो 'निर्गच्छतीति एवमादयः।' (सु सू १० अ.)

२. 'अन्त्रकूजनं सन्धिस्फुटनमंगुलीपर्वणां स्वरविशेषांश्च ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत।' (च. वि. ४ अ.)

फल के समान मधुर गन्ध आने लगती है। सन्धिवात में पसीने की गन्ध खट्टी मालूम होती है।[1]

(च) रसना-परीक्षा

इस परीक्षा के द्वारा आतुरशरीरगत प्राकृत एवं वैकृत रसों का परिज्ञान होता है।[2]

इस संबन्ध में महर्षि चरक का कथन है कि रस का ग्रहण प्रत्यक्षतः चिकित्सक अपनी रसना से करे, यह न तो संभव है और न उचित ही है। अतः इन्द्रियगम्य होने पर भी रस का ज्ञान प्रत्यक्ष से न करके अनुमान से ही किया जाता है। रोगी के आस्यरस का परिज्ञान प्रश्न के द्वारा तथा शरीरगत रस की प्रतीति अन्य प्राणियों के माध्यम से की जाती है। यह सब अनुमान के ही विषय होते हैं।[3]

रस का परिज्ञान अनुमान के द्वारा निम्नांकित रीति से किया जाता है.—

आतुरमुखरस—परिप्रश्न से।

शरीरवैरस्य—यूकापसर्पण से।

शरीरमाधुर्य—मक्षिकोपसर्पण से।

धारिलोहित या लोहित पित्त—कुक्कुर और काक के भक्षण से धारिलोहित और अभक्षण से लोहितपित्त।

आजकल रस की परीक्षा के लिए अधिकाश रासायनिक परीक्षाओं का आधार लिया जाता है। अन्ततः एक निश्चित सकेत के द्वारा अनुमान का आश्रय इन परीक्षाओं में भी लिया जाता है। यथा मूत्रगत शर्करा की परीक्षा में फेहलिंग विलयन के लाल रंग से उसमें शर्करा की उपस्थिति अनुमान द्वारा प्रतीत होती है।

---

१. 'घ्राणेन्द्रियविज्ञेयाः अरिष्टलिंगादिषु व्रणानामव्रणानाञ्च गन्धविशेषाः।' (सु सू. १० अ)

'गन्धांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैकारिकान् घ्राणेन परीक्षेत।' (च. वि. ४ अ.)

२. रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः।' (सु. सू. १० अ.)

३. 'रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते।' (च. वि. ४ अ.)

अनुमानज्ञेय भाव

रस के समान ही निम्नांकित भावों का ज्ञान भी अनुमान के द्वारा ही होता यथा :—

अग्नि—पाचनशक्ति से।

बल—व्यायामशक्ति से।

ज्ञानेन्द्रिय—विषयग्रहण से।

मन—विषयों के नियत ग्रहण से।

विज्ञान—यथार्थ प्रवृत्ति से यथा पेय जल में पान के लिए प्रवृत्ति।

रज—आसक्ति से।

मोह—अविज्ञान से।

क्रोध—परपीडार्थक प्रवृत्ति से।

शोक—दैन्यसूचक रोदनादि कार्यों से।

हर्ष—उत्सवसूचक गाना बजाना आदि कार्यों से।

प्रीति—मुख-नयन आदि अंगों की प्रफुल्लता से।

भय—विषाद से।

धैर्य—विपत्ति में भी मन में अदैन्य होने से।

वीर्य—उत्साह से अर्थात् दुष्कर कार्य में भी मन की प्रवृत्ति से।

बुद्धिस्थैर्य—भ्रमराहित्य से।

श्रद्धा (इच्छा)—प्रार्थना से।

मेधा—ग्रहण से अर्थात् ग्रन्थ आदि का स्मृति में शीघ्र धारण करने से।

संज्ञा—नाम लेने से।

स्मृति—स्मृत विषयों के प्रकाशन से।

लज्जा—लज्जित चेष्टा से।

शील (वस्तुओं में सहज राग)—निरन्तर अभ्यास करने से।

द्वेष—वस्तुओं के निषेध से।

उपधि (छद्म)—उत्तरकालीन फल से।

धृति—अचाञ्चल्य से।

वश्यता—अनुकूल व्यवहार से।

वय—काल से।

भक्ति (इच्छा)—देशविशेष से।

सात्म्य—उपशय से।

रोगनिदान—वेदनाविशेष से।

गूढलिंग व्याधि—उपशय और अनुपशय से।

दोषप्रमाणविशेष—अपचारविशेष से।

आयु का क्षय—अरिष्ट लक्षणों से।

मांगलिक काल—श्रेयस्कर मार्ग के अनुष्ठान से।

निर्मल (सात्त्विक) मन—विकारराहित्य से[1]।

उपर्युक्त सूक्ष्म शारीर और मानस भावों का ग्रहण प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है, अतः प्रत्यक्षीकृत स्थूल भावों से सम्बद्ध सूक्ष्म भावों की प्रतीति होती है। यथा आच्छन्न वह्नि का ज्ञान जब प्रत्यक्षतः शक्य नहीं होता, तब धूम को देख कर उससे कार्यकारणभावेन सम्बद्ध वह्नि का ज्ञान होता है। कार्यकारण भाव से सम्बद्ध स्थल में कार्य से कारण तथा कारण से कार्य का अनुमान होता है।[2]

उदाहरणस्वरुप, जाठराग्नि का ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा संभव नही है, अतः उसके कार्य (पाचन शक्ति) के द्वारा उसका निश्चय किया जाता है। अर्थात् यदि अन्न का पाचन ठीक से होता हो, तो यह समझा जाता है कि पुरुष की जाठराग्नि प्राकृत है। यदि उसमें अति, हीन या मिथ्या योग हो तो वह वैकृत

---

१. 'इमे तु खलु अन्येऽप्येवमेव भूयोऽनुमानज्ञेया भवन्ति भावाः, तद्यथा अग्निं जरणशक्त्या, बलं व्यायामशक्त्या, श्रोत्रादीनि शब्दाद्यर्थग्रहणेन, मनोऽर्थाव्यभिचारेण, विज्ञानं व्यवसायेन, रजः संगेन, मोहमविज्ञानेन, क्रोधमभिद्रोहेण, शोकं दैन्येन, हर्षमामोदेन, प्रीतिं तोषेण, भयं विषादेन, धैर्यमविषादेन, वीर्यमुत्साहेन, अवस्थानमविभ्रमेण, श्रद्धामभिप्रायेण, मेधां ग्रहणेन, संज्ञां नामग्रहणेन, स्मृतिं स्मरणेन, ह्रियमपत्रपणेन, शीलमनुशीलनेन, द्वेषं प्रतिषेधेन, उपधिमनुबन्धेन, धृतिमलौल्येन, वश्यतां विधेयतया, वयोभक्तिसात्म्यव्याधिसमुत्थानानि कालदेशोपशयवेदनाविशेषेण, गूढलिंगं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां दोषप्रमाणविशेषमपचारविशेषेण, आयुषः क्षयमरिष्टैः, उपस्थितश्रेयस्त्वं कल्याणाभिनिवेशेन, अमलं सत्त्वमविकारेण।' (च. वि. ४ अ.)

२. 'फलाद्बीजमनुमीयते फलं च बीजात्।' (च. सू. ११ अ.)

समझी जाती है। इसी आधार पर शास्त्रकारों ने अग्निमान्द्य निदान का वर्णन किया है[1]।

इसी प्रकार शारीरिक परिश्रम को देखकर पुरुष के बल का अनुमान होता है। अन्य भावों की प्रतीति भी ऐसे ही होती है। अनुमान का स्वरुप भी इन स्थलों में 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् महानसवत्' के समान ही होगा यथा जाठराग्नि के प्रसंग में 'पुरुषो जाठराग्निमान् जरणशक्तिमत्त्वात् भीमसेनवत्'। बल के प्रसंग में 'पुरुषो बलवान् व्यायामशक्तिमत्त्वात रावणवत्। इसी प्रकार अन्य भावों के संबन्ध में भी समझना चाहिये।

प्रश्न-परीक्षा (Interrogation)

रोगी के अतीत से संबद्ध तथा अन्य परोक्ष भावों की परीक्षा प्रत्यक्ष के द्वारा संभव नहीं है, अतः इनका ज्ञान प्रश्न-परीक्षा के द्वारा प्राप्त किया जाता है। रोगी से पूछकर उसके अतीत वृत्त, वैयक्तिक वृत्त, पारिवारिक वृत्त तथा वर्त्तमान वेदना के स्वरुप और इतिवृत्त का पता लगाया जाता है। अतीत विषयों तथा रोगी की आन्तरिक वेदना का ज्ञान विना प्रश्न के संभव नहीं है। इसी आधार पर रोगी के लक्षणों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है। कुछ लक्षण ऐसे होते हैं जो स्थूल होने के कारण प्रत्यक्षपरीक्षा के द्वारा ज्ञात किये जा सकते हैं, इन्हे भौतिक चिह्न (Physical Signs) कहते हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ लक्षण वेदनात्मक स्वरुप के होते हैं जिनका अनुभव केवल रोगी करता है और जिनके चिह्न वाहर प्रकट नही होते। ऐसे लक्षणों को वेदनात्मक लक्षण (Symptoms) कहते हैं। इन वेदनात्मक लक्षणों का ज्ञान प्रश्न के द्वारा ही हो सकता है। रोग का तात्त्विक स्वरुप वेदनात्मक ही होता है, अत' रोग विनिश्चय के लिए प्रश्नपरीक्षा एक महत्त्वपूर्ण सावन है।

---

१ 'समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।
स्वल्पापि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः॥
कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते।
मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात् समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते॥' (-मा. नि)

विधि

वैद्य का कर्त्तव्य है कि अपने उदार और मृदुल व्यवहार के द्वारा रोगी के साथ आत्मीयता का भाव स्थापित कर ले और अपने धीर तथा गम्भीर व्यक्तित्त्व से उसके हृदय में प्रबल विश्वास उत्पन्न करे।[1] जब तक वैद्य तथा रोगी के बीच निकटतम सपर्क स्थापित न होगा, तब तक प्रश्न-परीक्षा के द्वारा कोई विशेष कार्य सिद्ध नही होगा। इसका कारण यह है कि अज्ञात व्यक्ति के सामने अपने जीवन की अन्तरंग बातों को उद्घाटित करने में रोगी संकोच का अनुभव करते हैं और यदि वैद्य पर पूर्ण विश्वास न हुआ तो अपने सबन्ध में विशेष वर्णन करना भी अनावश्यक समझते हैं। अतः इस सबन्ध में निम्नाकित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है·—

१ वैद्य का व्यवहार सहानुभूति और दया से पूर्ण होना चाहिये। यों तो पीड़ित जनता के प्रति इन भावों का होना मानवीय गुण है ही, इनके द्वारा रोगी की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसकी वेदना का यथार्थ स्वरुप जानने में भी सहायता मिलती है। मिष्टभाषी और सहृदय सज्जनों से पीड़ित जन अपनी दु'ख कहानी जी खोलकर कहते हैं क्योंकि उन्हे यह आशा होती है कि ऐसे ही लोग कष्ट दूर कर सकते हैं। रोगी के साथ कठोर व्यवहार करने से न तो उसकी वेदना का सम्यक् स्वरुप ज्ञात हो सकता है और न उसका विश्वास ही प्राप्त किया जा सकता है।

२ रोगी की बातों को बडे ध्यान से धैर्य के साथ सुनना चाहिये। बहुत से रोगी अपनी वेदना का वर्णन अत्यन्त संक्षेप से करते हैं और आवश्यक बातों को भी प्रकट नही करते। किन्तु अनेक रोगी ऐसे भी होते हैं जो अनावश्यक रूप से अपने वर्णन को विस्तृत बना कर समय अधिक लेते हैं। इन सब रोगियों की बातों को समान रूप से सुनना चाहिये। इसका रोगी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है। यदि रोगी की बातें पूरी न सुनी जॉय तो चिकित्सिक का प्रभाव अच्छा नही होता। प्रथम, रोगी यह सोचता है कि जब मेरी बातें पूरी नही सुनी गईं तो मेरी वेदना का ज्ञान चिकित्सक को कैसे होगा और फिर चिकित्सा

---

१. 'गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात्।' (वै. जी.)

सफल कैसे होगी। दूसरे, इससे चिकित्सक के हृदय में सहानुभूति की हीनता सूचित होती है और रोगी के प्रति उपेक्षाभाव प्रकट होता है जिससे दोनों के बीच सान्निध्य स्थापित नहीं होने पाता। यह चिकित्सक की योग्यता और अनुभव पर निर्भर है कि वह रोगी की बातें पूरी सुन लेने के बाद उनमें से आवश्यक विषयों को चुनकर रोग-परीक्षा में उनका उपयोग करे।

३. प्रश्न सीधी-सादी भाषा में होने चाहिये जिससे रोगी उनका अभिप्राय ठीक-ठीक समझ सके। कोई प्रश्न बार-बार नहीं पूछा जाना चाहिये क्योंकि इससे चिकित्सक का उपेक्षाभाव सूचित होता है।

४. ऐसे प्रश्न नहीं होने चाहिये जिनसे उत्तर का स्वतः संकेत मिलता हो या जिनका उत्तर 'हाँ' या 'न' में हो क्योंकि ग्रामीण तथा अशिक्षित रोगी इसी से प्रेरित होकर मिथ्या उत्तर दे देते हैं और रोग का ठीक ज्ञान नहीं होने पाता। यथा 'विबन्ध भी रहता है ?' न पूछ कर 'पाखाना कैसा होता है' या 'विबन्ध रहता है या अतिसार ?' ऐसे प्रश्न होने चाहिये। साराश यह कि 'हाँ' या 'न' में ही उत्तर समाप्त न कर रोगी को ऐसा अवसर दे कि वह स्वयं इस सबन्ध में कुछ कहे। किन्हीं अवस्थाओं में साकेतिक प्रश्न आवश्यक होते हैं। इनका निर्णय चिकित्सक स्वयं अपने अनुभव-बल पर करें। वाचाल रोगी को संबद्ध प्रश्नों के द्वारा नियन्त्रित रखना चिकित्सक का कार्य है।

५. अपना तथा रोग का इतिवृत्त कहने के लिए रोगी को उत्साहित करना चाहिये और उसका उत्तर उसी के शब्दों में लिखना चाहिये न कि वैज्ञानिक शब्दावली में उसका अनुवाद करके, क्योंकि हमारा उद्देश्य यह जानना है कि रोगी क्या अनुभव करता है, यह नहीं कि वह अपने रोग के विषय में क्या सोचता है।

६. जननेन्द्रिय संबन्धी रोगों के लिए किसी व्यक्ति के सामने प्रश्न नहीं करना चाहिये। विशेष कर रोगी के पति या पत्नी की उपस्थिति में ऐसे प्रश्न नहीं होने चाहिये।

७. यक्ष्मा या कैन्सर आदि घातक रोगों के संबन्ध में पारिवारिक वृत्त के लिए ऐसे रोगियों से प्रश्न नहीं करने चाहिये जिनमें इन रोगों का सन्देह हो। यथा 'आपके परिवार में किसी को यक्ष्मा हुआ था ?' यह न पूछ कर 'ऐसा कष्ट आपके परिवार में और किसी को था या है ?' पूछना चाहिये।

८. रोग के इतिवृत्त के संवन्ध में प्रश्न क्रमवद्ध होने चाहिये और उसी क्रम से रोगी के उत्तरों उल्लेख भी करना चाहिये। प्रारंभ में कालाकन की जो पद्धति अपनाई जाय उसी का निर्वाह अन्त तक होना चाहिये। यथा, यदि विक्रम संवत् में घटनाओं का उल्लेख प्रारम्भ किया जाय तो अंत तक उसी संवत् का प्रयोग होना चाहिये और यदि रोगी की आयु के प्रसंग में घटनाओं का वर्णन हो, तो अन्त तक वही रहना चाहिये।

प्रकार

प्रश्न दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। जो प्रश्न समान रूप से सब रोगों में किये जाते हैं उन्हें सामान्य प्रश्न कहते हैं और जो विभिन्न रोगों में विशिष्ट रूप से किये जाते हैं उन्हें विशेष प्रश्न कहते हैं।

सामान्य प्रश्न (General interrogation)

सामान्य प्रश्न से रोगी की प्रकृति की परीक्षा की जाती है जिससे रोगी के वल का ज्ञान होता है तथा रोग के संवन्ध में भी वहुत वातें ज्ञात होती हैं। विशेष कर मुख्य व्यथा और उसका कालप्रकर्ष (अवधि) और रोग की उत्पत्ति का क्रम प्रश्न से ज्ञात किया जाता है। आधुनिक विज्ञान में सामान्य प्रश्न के द्वारा ज्ञातव्य भावों को पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है—

१ वैयक्तिक वृत्त (Personal history)
२ प्रधान कष्ट और उसकी अवधि (main Complaint with duration)
३. वर्त्तमान रोग का इतिवृत्त (History of present illness)
४ रोगी का पूर्ववृत्त (Previous history of the patient)
५ पारिवारिक वृत्त (Family history)

प्रकृति (Nature)

पुरुष के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं।[1]

संसार में जितने पुरुष हैं उनका स्वभाव कुलज और वैयक्तिक विशेषताओं के कारण भिन्न होता है तथा उनके शरीरगत दोषों का संघटन भी विभिन्न रूप से

१. 'प्रकृतिः स्वभावो यः'। (चरक)

निर्धारित होता है। अतः व्याधित पुरुष के रोगनिर्णय तथा चिकित्सा के लिए उसकी प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है।

प्रकृति का निर्माण

प्रकृति का निर्माण पुरुष की गर्भावस्था की परिस्थितियों तथा जन्म के बाद अन्य परिस्थितियों के द्वारा होता है। अतः निर्माण की दृष्टि से इसके दो विभाग किये गये हैं:—गर्भशरीर-प्रकृति तथा जातशरीर-प्रकृति।

गर्भशरीर-प्रकृति

गर्भशरीर की प्रकृति का विकास शुक्र और रज के स्वरूप, गर्भाशयिक काल की अवधि, माता के आहार-विहार तथा शरीर के उपादानभूत महाभूतों के संघटन के आधार पर होता है।[1]

शुक्र और शोणित के द्वारा माता पिता की प्रकृति का आभास आता है और गर्भाशय की तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव भी उस पर पड़ता है। अत एव आचार्यों ने वतलाया कि शुक्र और शोणित के संयोगकाल में जो दोष प्रवल होता है उसी से प्रकृति का निर्माण होता है।[2]

इसी कारण जन्म से ही कुछ पुरुष वातल, पित्तल और कफल तथा समप्रकृति के होते हैं।

जातशरीर-प्रकृति

जात पुरुष की प्रकृति कुल, देश, काल, वय तथा प्रत्यात्म के द्वारा (व्यक्तित्व)

---

१. 'शुक्रशोणितप्रकृतिं कालगर्भाशयप्रकृतिं मातुराहारविहारप्रकृति महाभूतविकार-प्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते।' (चरक वि. ८ अ)

२ 'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन— ।' (सु शा)
'दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते।' (चरक)
एता हि येन येन दोषेणाधिकेनैकेनानेकेन वा समनुबध्यन्ते तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते, ततः सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्माच्छ्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः प्रकृत्या केचिद् भवन्ति।' (चरक वि ८ अ.)

निर्धारित होता है और इन्हीं के अनुसार उसके शारीरिक और मानसिक भाव संघटित होते हैं।[१]

१. **जातिप्रसक्त**—जब किसी विशिष्ट जाति से प्रकृति प्रभावित होती है तब उसे जातिप्रसक्त कहते हैं। यथा निग्रो जाति के मनुष्य पीतज्वर के लिए प्रकृत्या रोगक्षम होते हैं। यह जाति का ही प्रभाव है।

२. **कुलप्रसक्त**—जाति के अन्तर्गत विशिष्ट कुलों की प्रकृति में भी विभिन्नता पाई जाती है। यथा ब्राह्मण जाति के विभिन्न कुलों के आहार-विहार, आचार-विचार आदि में महान् अन्तर होता है।

३. **देशानुपातिनी**—विभिन्न देशों के पुरुषों की प्रकृति में भी भिन्नता पाई जाती है। यथा माल्टाज्वर प्रायः माल्टाद्वीप के निवासियों में ही मिलता है। उष्ण देश में पैत्तिक रोग तथा शीत देश में वात और कफ के रोग अधिक पाये जाते हैं। आनूप देश में श्लेष्मा, मरु में वात तथा समदोष का प्राधान्य होता है।

४. **कालानुपातिनी**—प्रकृति पर काल का प्रभाव भी पड़ता है। वर्षाऋतु में वातिक, शरद् ऋतु में पैत्तिक तथा वसन्त में श्लैष्मिक रोग होते हैं। मलेरिया और विसूचिका प्राय बरसात में देखे जाते हैं।

५. **वयोऽनुपातिनी**—यह प्रकृति आयु के अनुसार होती है। आयु के प्रभाव से ही बालकों में श्लेष्मा का, युवकों में पित्त का तथा वृद्ध में वात का प्राधान्य होता है। अश्मरी प्राय बालकों में होती है तथा कैन्सर नामक अर्बुद प्रायः प्रौढावस्था में पाया जाता है।

६ **प्रत्यात्मनियत**—परिस्थिति के उपर्युक्त प्रभावों के साथ-साथ व्यक्तित्व के कारण भी प्रकृतिगत विशेषताओं का निर्माण होता है। इससे आहार विहार, आचार-विचार की वैयक्तिक विशेषताओं का निर्माण होता है। कार्नेगी डिक्सन नामक अँगरेज विद्वान ने इस सम्बन्ध में निम्नांकित विचार प्रकट किये हैं:—

---

१. 'तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता च कुलप्रसक्ता च देशानुपातिनी च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च प्रत्यात्मनियता।चेति। जातिकुलदेशकालवयःप्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति।' (चरक इन्द्रिय. १ अ)

'Thus if several animals are inoculated with equal doses of the same bacterial culture, one may show no ill-effects, another may exhibit a slight amount of inflammation at the site of inoculation; a third may acquire a spreading inflammation which may progress to suppuration or gangrene, whilst a fourth may develop a fatal general infection.'

—Rose & Carless Surgery.

अर्थात्—'यदि किसी वर्धित जीवाणु की समान मात्रा अनेक व्यक्तियों में प्रविष्ट की जाय तो एक को कोई हानि नहीं हो सकती है, दूसरे में प्रवेशस्थान पर व्रणशोथ का स्वल्प चिह्न दिखलाई पड़ सकता है, तीसरे में प्रसरणशील व्रणशोथ हो सकता है जो अन्त में पूयभवन या कोथ का रूप धारण कर सकता है और चौथे में घातक सर्वांगीण संक्रमण हो सकता है'।[1]

प्रत्यात्मनियत प्रकृति

प्रत्यात्मनियत प्रकृति में निम्नांकित बातों का विचार किया जाता है :—

आहार, सात्म्य, विहार, निद्रा, व्यसन, व्यवसाय, अग्नि, कोष्ठ, मलप्रवृत्ति, सत्त्व, बल, देहप्रकृति, पूर्वव्याधि, दाम्पत्यजीवन।[1]

(१) आहार

भोज्य तथा पेय पदार्थ किस परिणाम तथा किस रूप में लिये जाते हैं और उनका चर्वण पर्याप्त रूप में किया जाता है या नहीं इत्यादि बातों पर प्रकाश डालना

---

1. 'प्रश्नेन च विजानीयाद्देशं कालंजाति सात्म्यमातंकसमुत्पत्तिं वेदनासमुच्छ्रायबल दीप्ताग्नितां वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्त्यप्रवृत्ती कालप्रकर्षादींश्च विशेषान् आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्विजानीयात्।' (सु सू १० अ.)
'ग्रहण्यास्तु मृदुदारुणत्वं स्वप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टसुखदुःखानि चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति'। (च वि ४)
'हेत्वर्त्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः।' (च चि २५)
'दूष्यं दोषं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्त्वं सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥' (अ. हृ. सू १२)

चाहिये। दिन-रात में भोजन कितनी वार किया जाता है, यह भी देखना चाहिये। उदरसम्बन्धी रोगों में इसका विशेष उपयोग होता है। विरुद्ध भोजन का भी विचार करना चाहिये क्योंकि प्राय: इससे रक्तविकार उत्पन्न होते हैं।

शाकाहारी अधिकतर उदर रोगों के शिकार होते हैं तथा मांसाहारी वृक्करोगों से पीड़ित होते हैं। मधुर रस, दही और नवान्न के अधिक सेवन से प्रमेह; अम्ल-लवण-कटु, तीक्ष्ण और उष्ण द्रव्यों के अधिक सेवन से रक्तपित्त तथा रूक्ष द्रव्यों के निरन्तर सेवन से वातविकार होते हैं। भोजन नियमित रूप से नियत समय पर किया जाता है या नहीं यह भी देखना चाहिये क्योंकि विषमाशन से त्रिदोष प्रकुपित होकर अन्त में क्षय रोग उत्पन्न होता है।[1]

(२) सात्म्य

जो आहार-विहार पुरुष के लिए हितकर हो वह सात्म्य कहलाता है।[2]

जो आहार-विहार निरन्तर सेवन करने के कारण पुरुष के अनुकूल हो जाता है वह ओक-सात्म्य (अभ्यास-सात्म्य) कहलाता है।[3]

संतर्पण-अपतर्पण की दृष्टि से सात्म्य तीन प्रकार का होता है:—स्निग्ध-सात्म्य, रूक्षसात्म्य और व्यामिश्रसात्म्य। रसों के आधार पर भी यही तीन भेद होते हैं:—सर्वरससात्म्य, एकरससात्म्य और व्यामिश्रसात्म्य। इनमें सर्वरस प्रवर, एकरस अवर और व्यामिश्र मध्यम होता है। स्निग्धसात्म्य तथा सर्वरस-सात्म्य पुरुष बलवान, क्लेशसह तथा चिरजीवी होते हैं। रूक्षसात्म्य तथा एकरस-

१. 'प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशात् विनश्यति॥'

२. 'सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः।' (च. वि. १)

३. 'सात्म्य नाम तद्यत् सातत्येनोपयुज्यमानमुपशेते।' (च. वि. ८ अ.)

'उपशेते यदौचित्यादोकसात्म्यं तदुच्यते।' (च.)

'सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नरसप्रभृतीनि प्रकृति-विरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति।'

'यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः।
व्यायामजातमन्यद्वा तत्सात्म्यमिति निर्दिशेत्॥' (सु. सू. ३५)

'तत् त्रिविधम्—प्रवरावरमध्यविभागेन, तत्र सर्वरसं प्रवरं, अवरमेकरसं, मध्यमं तु प्रवरावर-मध्यस्थम्।' (च. वि. ७

सात्म्य पुरुष अल्पबल, अल्पक्लेशसह, अल्पायु तथा अल्पसाधन होते हैं। व्यामिश्रसात्म्य मध्यबल तथा मध्यमायु होते हैं।[1]

(३) विहार

आहार के अतिरिक्त पुरुष की स्नान, शयन, भ्रमण आदि चेष्टाओं का भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। दिवास्वप्न से कफ रोगों की संभावना रहती है, धूप में काम करने से रक्तपित्त होता है और रात्रिजागरण से वात की वृद्धि होती है। अधिक सोने और बैठे रहने से प्रमेह होता है। वेगधारण आदि का विचार भी करना चाहिए।

(४) निद्रा

नींद कैसी और कितनी आती है? यह भी पूछना चाहिए। तामसी प्रकृति तथा कफाधिक्य वाले पुरुषों को नीद अधिक आती है। इसके विपरीत, सात्त्विक प्रकृति तथा वातिक विकारों का एक प्रधान लक्षण निद्रानाश है। मानसिक विकारों में भी निद्रा विकृत हो जाती है। दिवास्वप्न आदि का भी विचार करना चाहिए। शयन का स्थान कैसा है तथा रोगी किस चीज पर सोता है? यह भी विचारणीय है। खाट पर मुलायम गद्दे देकर सोने से कफ की वृद्धि होती है और कम विछावन देकर चौकी आदि कड़ी जमीन पर सोने से वायु की वृद्धि होती है।

(५) व्यसन

रोगी मद्य, तम्बाकू, अफीम आदि मादकद्रव्यों का सेवन करता है या नहीं? यदि करता है तो किस परिमाण में तथा किस रूप में? यह भी देखना चाहिए कि इनका सेवन भोजन के पहले किया जाता है या बाद में क्योंकि खाली पेट मे मद्य का सेवन करने से अनेक विकार होते हैं।[2]

---

१. 'तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्म्याः सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति ; रूक्षसात्म्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबलाश्चाक्लेशसहाऽल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति ; व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति।' (च वि ८)

२. 'निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम्।
आपादयेत् कष्टतमान् विकारान् आपादयेच्चापि शरीरभेदम्॥' (मा. नि)

इसके अतिरिक्त, जो लोग इन मादक द्रव्यों के अभ्यासी हैं उन पर औषध रूप में इन द्रव्यों का पर्याप्त प्रभाव नहीं होता या अभ्यस्त मात्रा का विचार कर अधिक मात्रा में प्रयोग करना पड़ता है या उसके बदले अन्य द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। यथा अफीम का निरन्तर सेवन करने वाला रोगी जब अतीसार से पीड़ित होता है तो अल्पमात्रा में अहिफेन के योगों का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता। अतः ऐसी अवस्था में अन्य अतीसारहर योगों का प्रयोग करते हैं। मद्य का अधिक सेवन करने से हृदय और वृक्क विकृत हो जाते हैं। चाय, कॉफी हानिकर हैं तथा तम्बाकू का सेवन करने से निकोटिन नामक विष शरीर में सञ्चित होता जाता है और अन्ततः हृदय को इतना दुर्बल बना देता है कि किसी साधारण कारण से ही हृदयावरोध होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है। हुक्का पीने वालों में पानी में विष घुल कर नीचे ही रह जाता है, अतः उतना हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता। सिगरेट, बीड़ी आदि का अधिक सेवन करने से कास, श्वास आदि फुफ्फुसगत विकार होते हैं और ओष्ठगत कैन्सर भी देखा गया है। मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्तियों की मानसिक शक्ति स्वभावतः दुर्बल हो जाती है। स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और शरीर भी आलसी हो जाता है।

(६) व्यवसाय

रोगी कौन सा व्यवसाय करता है? यह भी देखना चाहिए। विशेष प्रकार का व्यवसाय करने से विशेष प्रकार का रोग उत्पन्न होता है। साहसिक कर्म में प्रवृत्त होने से शोष और उरःक्षत रोग होने की संभावना रहती है। किस परिस्थिति में कार्य किया जाता है इससे भी रोग का संकेत मिलता है यथा चूने और कपड़े के कारखानों में काम करने वालों को यक्ष्मा आदि फुफ्फुसविकार, सीसक (Lead) के कारखाने में सीसविष तथा मैंगनीज के कारखाने में अनेक वातिक विकार उत्पन्न होते हैं। अधिक धूप में काम करने से रक्तपित्त होता है। बैठे-बैठे काम करने वाले व्यक्तियों में एक ओर जहाँ प्रमेह और अर्श अधिक देखे जाते हैं तो दूसरी ओर अत्यधिक शारीरिक परिश्रम करने वाले मजदूर वातव्याधि से पीड़ित होते हैं। अत्यधिक बोझ उठाने तथा बैठकर हाथ से परिश्रम करने वालों यथा सोनार, लोहार आदि में अन्त्रवृद्धि अधिक देखी जाती है। रिक्शा चलाने वाले तथा अत्यधिक भाषण देने वाले

फुफ्फुसविकार से पीड़ित होते हैं। पर्दे में रह कर दिन-रात चूल्हा फूँकने वाली भारत की स्त्रियाँ अधिकाश क्षयरोग का शिकार होती हैं। कृष्णपट पर अधिक लिखनेवाले अध्यापक फुफ्फुसगत यक्ष्मा से पीडित देखे जाते हैं।

व्यवसाय के स्वरूप के अतिरिक्त, काम कितने घंटे करना पड़ता है? काम कठिन है या आसान? काम करने का स्थान स्वास्थ्यकर है या नही? वह काम उसकी रुचि के लिए अनुकूल है या नही? इत्यादि बातों पर भी प्रकाश डालना चाहिए।

(७) अग्नि

रोगी को भूख कैसी लगती है? भोजन कितना करता है? तथा उसका पाचन ठीक होता है या नहीं? इन बातों से आहार शक्ति का पता चलता है। आहार शक्ति से अग्नि का अनुमान होता है। अग्नि प्राकृत रहने से आहारशक्ति प्राकृत फलतः भोजन और उसका पाचन ठीक होता है। इसके विपरीत, अग्नि वैकृत रहने से आहार शक्ति भी वैकृत हो जाती है और अन्न का आहार और पाचन सम्यक् नही हो पाता। आहारशक्ति का विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि रोगी की आयु तथा बल इसी पर निर्भर रहते हैं। औषध तथा पथ्य का प्रयोग रोगी की आहारशक्ति के अनुकूल ही किया जाता है।[1]

अग्नि चार प्रकार की होती है—सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द। सम परिमाण में आहार करने पर यदि उसका पाचन ठीक से हो जाय तो अग्नि सम समझनी चाहिए। यह स्वस्थ पुरुष में होती है। रोगियों में दोष के अनुसार तीन प्रकार की अग्नि मिलती है—वातप्रकोप से विषम, पित्तप्रकोप से तीक्ष्ण तथा कफप्रकोप से मन्द। विषमाग्नि में अन्न कभी ठीक से पच जाता है और कभी नहीं पचता है। अधिक मात्रा में भोजन करने पर भी यदि आसानी से पच जाय तो तीक्ष्णाग्नि और अल्पमात्रा में भोजन लेने पर भी पाचन न हो तो मन्दाग्नि समझनी चाहिए।[2]

---

१. 'आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्या, बलायुषी ह्याहारायत्ते।' (च. वि. ८ अ)

२. 'मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥' (मा नि)

'अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति, तद्यथा—तीक्ष्णो मन्दः समो विषमश्चेति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः, तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्दः,

- अग्नि
  - प्राकृत (सम) (समदोष)
  - वैकृत
    - विषम (वात)
    - तीक्ष्ण (पित्त)
    - मन्द (कफ)

अग्नि के विचार से निम्नांकित बातों के ज्ञान में सहायता मिलती है :—

१. अग्नि की स्थिति से प्रकृति का परिज्ञान होता है। सम अग्नि से सम-प्रकृति, विषम से वातिक प्रकृति, तीक्ष्ण से पैत्तिक प्रकृति तथा मन्द से श्लैष्मिक प्रकृति का बोध होता है।[1]

२. जाठराग्नि के मन्द होने पर शरीर में प्रायः सभी विकार उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु विशेषतः उदर रोगों की संभावना रहती है।[2]

समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारतस्तु प्रकृतावतिष्ठते। समलक्षण-विपरीतलक्षणस्तु विषम इति।' (च. वि ६ अ.)

'प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः। स चतुर्विधो भवति, दोषानभिपन्न एको विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति-विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति। तत्र यो यथाकालमन्नमुपयुक्तं सम्यक् पचति स समः समैर्दोषैः। यः कदाचित् सम्यक् पचति कदाचिदाध्मानशूलोदावर्त्तातिसारजठर-गौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा स विषमः। यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः। स एवाभिवर्द्धमानोऽत्यग्निरिति आभाष्यते। स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युप-युक्तमन्नमाशुतरं पचति पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोषदाहसन्तापान् जनयति। यः स्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्दः।' (सु सू ३५ अ)

१ 'एते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम्। तत्र, समवातपित्त-श्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः, श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः।' (च. वि ६)

२. 'रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसंचयात्॥' (मा. नि.)

विषमाग्नि से वातिक रोग, तीक्ष्णाग्नि से पैत्तिक रोग तथा मन्दाग्नि से श्लैष्मिक रोग होते हैं।[1]

धात्वग्नि के मन्द होने से क्षय रोग होता है।[2]

३. रोगी की आहारशक्ति तथा पाचनशक्ति नष्ट हो जाने से रोग असाध्य हो जाते हैं तथा अग्नि दीप्त रहने पर साध्य होते हैं।[3]

४. चिकित्सा में भी रोगी की अग्नि का विचार होता है। औषध के किस कल्प का प्रयोग किया जाय यह अग्नि का विचार करने पर ही निश्चित होता है। पञ्चविध कषाय-कल्पनाओं में स्वरस गरिष्ठ होने के कारण उसका व्यवहार मन्दाग्नि वाले पुरुषों में नहीं करना चाहिए और यदि करे भी तो अल्प मात्रा में।[4]

इसी प्रकार औषध की मात्रा के निर्धारण में अग्नि का विचार होता है।[5]

पथ्य के विचार में अग्नि पर ध्यान दिया जाता है। अल्पाग्नि पुरुषों में अल्पसिक्थ पेया, यूष आदि का प्रयोग किया जाता है। अग्नि के अनुसार पेया आदि के निर्माण में भी भेद हो जाता है[6]:—

---

१. 'विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान्॥' (सु. सू ३५ अ.)

२. 'स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्।
धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥' (च. चि ८ अ.)

३ 'ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्॥' (मा. नि)
'नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते।'

४ 'पञ्चैताश्च समुद्दिष्टाः कषायाणां प्रकल्पनाः।
गुरवः स्युर्यथापूर्वं लघवः स्युर्यथोत्तरम्॥' (प. प्र.)
'स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्धं प्रयोजयेत्।
निःशेषितश्चापि सिद्धं पलमात्रं रसं पिबेत्॥' (प. प्र.)

५. 'स्थितिर्नास्त्येव मात्रायाः कालमग्निं वलं वयः।
प्रकृतिं देशदोषौ च दृष्ट्वा मात्रां प्रयोजयेत्॥' (प प्र)

६. 'एवमन्यत्रापि पेयादिसाधने प्रबलाग्निपुरुषादौ युक्त्या प्रचुरतरं सलिलं कल्कद्रव्यं वा ग्राह्यम्।' (प. प्र)

(८) कोष्ठ

रोगी के कोष्ठ की भी परीक्षा करनी चाहिए। कोष्ठ की परीक्षा से पुरुष की दोषप्रकृति का भी ज्ञान होता है और संशोधन चिकित्सा में मृदु या तीक्ष्ण किस प्रकार की औषध देनी चाहिए इसका भी संकेत मिल जाता है। मृदुकोष्ठ में मृदु संशोधन तथा क्रूरकोष्ठ में तीक्ष्ण संशोधन दिया जाता है।

कोष्ठ-भेद से पुरुष तीन प्रकार के होते हैं:—क्रूरकोष्ठ, मृदुकोष्ठ और मध्यमकोष्ठ। जिस पुरुष का कोष्ठ कड़ा होता है और निशोथ आदि तीक्ष्ण विरेचन देने पर भी कठिनता से पुरीष आते हैं उसे 'क्रूरकोष्ठ' कहते हैं। इसमें वात और श्लेष्मा की प्रधानता होती है। जिस पुरुष का कोष्ठ मुलायम होता है और अमलतास आदि मृदु विरेचन देने से भी आसानी से पर्याप्त पुरीष आते हैं उसे 'मृदुकोष्ठ' कहते हैं। यह पित्त के आधिक्य से होता है। मध्यम कोष्ठ में तीनों दोषों की समता होती है अत: इसका कार्य साधारण और प्राकृत होता है।[1]

(९) मलप्रवृत्ति

पुरीष, मूत्र, स्वेद आदि मलों की प्रवृत्ति कैसे होती है? यह भी प्रश्न से ज्ञात करना चाहिए। स्त्रियों में आर्त्तव एवं स्तन्य की प्रवृत्ति के संबन्ध में भी पूछना चाहिए।

(१०) बल

रोगी के शारीरिक बल की परीक्षा भी करनी चाहिए। परिश्रम करने की शक्ति से ही शारीरिक बल का अनुमान किया जाता है।[2]

---

१. 'तत्र मृदुः क्रूरो मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते, बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्यः; समदोषो मध्यमः, स साधारण इति।' (सु. चि ३३ अ)

'भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्बणानिला।
उदीर्णपित्ताऽल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता॥
मृदुकोष्ठस्य तस्मात् स सुविरेच्यो नरः स्मृतः।' (च. सू. १३ अ)

२ 'व्यायामशक्तितश्चेति-व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या परीक्ष्या; कर्मशक्त्या ह्यनुमीयते बलत्रैविध्यम्।' (च. वि. ८)

कर्मशक्ति से ही पुरुष के त्रिविध वल का निर्णय होता है:—

वल
- प्रवर
- मध्य
- अवर

पुन. इसके तीन विभाग किये गये हैं.[1]—

सहज, कालज और युक्तिकृत। प्राकृत वल को 'सहज' कहते हैं, ऋतु प्रभावजन्य तथा आयुप्रभावजन्य वल 'कालज' कहा जाता है एवं आहार-विहार के संयोग से जो वल उत्पन्न होता है वह युक्तिकृत कहा जाता है—

वल
- सहज
- कालज
- युक्तिकृत

वल विचार का प्रयोजन

१ रोगी वलिष्ठ रहने पर रोग के लक्षण उग्र नही होते और रोग शीघ्र शान्त हो जाता है। दुर्वल रोगियों में अनेक उपद्रव होते जाते हैं और रोग असाध्य हो जाता है।

२ अत: रोग की साध्यासाध्यता के विचार में भी यह महत्त्वपूर्ण है। यक्ष्मा के प्रसंग में कहा है कि वल-मास क्षीण रहने पर असाध्य एवं वल-मास ठीक रहने पर साध्य होता है।[2]

३. चिकित्सा में रोगी के वल पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

---

१. 'त्रिविधं वलमिति–सहज कालजं युक्तिकृत च। सहजं यच्छरीरसत्त्वयोः प्राकृतं, कालकृतमृतुविभागजं वयः कृत च, युक्तिकृत च पुनस्तद्यदाहारचेष्टायोगजम्।' (च सू ११ अ.)

२. 'सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वापि लिंगैर्मांसवलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा॥' (मा नि.)

(क) दुर्वल रोगी में तीक्ष्ण औषध का प्रयोग हानिकर होता है तथा सबल रोगी में हीन औषध का प्रयोग करने से कोई प्रभाव नहीं होता।[1]

(ख) संशोधन औषध का प्रयोग भी वल का विचार कर किया जाता है क्योंकि दुर्वल रोगियों में मल ही वल का आश्रय होता है, अतः अति मलक्षय से रोगी और भी दुर्वल हो जाता है।[2]

(ग) ज्वर आदि रोगों में लंघनकर्म वल को देखते हुए ही करना पड़ता है क्योंकि रोगी की वलवृद्धि करना ही चिकित्सा का लक्ष्य होता है[3]:—

(११) सत्त्व

मन को सत्त्व कहते हैं। यह आत्मा के संयोग से शरीर का धारक होता है। सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के सारे कार्य मन के ही अधीन होते हैं वल के अनुसार यह तीन प्रकार का होता है:—प्रवर, मध्य और अवर। प्रवरसत्त्व पुरुष शारीर वल कम रहने पर भी गम्भीर पीड़ा में भी व्याकुल नहीं होता। मध्यसत्त्व पुरुष स्वयं या दूसरों के उपदेश से अपनी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित रखते हैं। अवरसत्त्व पुरुप न तो स्वयं और न दूसरों के उपदेश से अपनी प्रवृत्तियों को

---

१ तत्र तावदियं वलदोपप्रमाणज्ञानहेतोः—दोपप्रमाणानुरूपो हि भेपजप्रमाणविशेपो वलप्रमाणविशेपापेक्षो भवति। सहसा ह्यतिवलमौपधमपरीक्षकप्रयुक्तमल्पवलमातुरमतिपातयेत्, न ह्यतिवलान्याग्नेयसौम्यवायवीयान्यौपधान्यग्निक्षारशस्त्रकर्माणि वा शक्यन्तेऽल्पवलैः सोढुम्, असह्यातितीक्ष्णवेगत्वाद्धि तानि सद्यः प्राणहराणि स्युः, एतच्चैव कारणमपेक्षमाणा हीनवलमातुरमविपादकरैर्मृदुसुकुमारप्रायैरुत्तरोत्तरगुरुभिरविभ्रमैरनात्ययिकैश्चोपचरन्त्यौपधैः, विशेपतश्च नारीः, ता ह्यनवस्थितमृदुवृत्तविक्लवहृदयाः प्रायः सुकुमार्योऽवलाः परसंस्तभ्याश्च। तथा वलवति वलवद्व्याधिपरिगते स्वल्पवलमौपधमपरीक्षकप्रयुक्तमसाधकं भवति।' (च. वि ८ अ.)

२ 'मलायत्तं वलं पुंसां शुक्रायत्तं तु जीवितम्।
तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्यक्ष्मिणो मलरेतसी॥' (च. चि ८ अ.)
सर्वधातुक्षयार्त्तस्य वलं तस्य हि विड्वलम्।

३. 'प्राणाविरोधिना चैनं लंघनेनोपपादयेत्।
वलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः॥' (च. चि ३ अ.)

नियन्त्रित करने में समर्थ होते हैं तथा महान् शरीर होने पर भी थोड़े कष्ट से भी अधिक घवड़ा जाते हैं।[१]

सत्त्व

प्रवर	मध्य	अवर
(सात्त्विक)	(राजस)	(तामस)

व्याधि के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करने के लिए सत्त्व का विचार महत्त्वपूर्ण है। इसका विचार नहीं करने से रोग का महत्त्व ठीक-ठीक मालूम नही होता, फलतः चिकित्सा का भी परिणाम अनुकूल नही निकलता।[२]

अतः रोगी की मानसिक स्थिति, उसका जीवन, समाज तथा कर्म के प्रति दृष्टिकोण और पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्ध आदि का विचार अवश्य करना चाहिए, विशेषतः मानस रोगों के अध्ययन में इसका विशेष महत्त्व है।

---

१. 'सत्त्वतश्चेति सत्त्वमुच्यते-मनः, तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्। तत्त्रिविधं बलभेदेन-प्रवरं मध्यमवरं चेति, अतश्च प्रवरमध्यावरसत्त्वाः पुरुषाः भवन्ति। तत्र प्रवरसत्त्वाः सत्त्वसाराः, ते सारेषूपदिष्टाः, स्वल्पशरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यग्रा दृश्यन्ते, सत्त्वगुणवैशेष्यात्। मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्त्यात्मनाऽऽत्मानं परैर्वापि संस्तभ्यन्ते। हीनसत्त्वास्तु नात्मना न च परैः सत्त्वबलं प्रति शक्यन्त उपस्तम्भयितु, महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्रभैरवद्विष्टबीभत्सविकृतकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति।' (च वि ८)

'सत्त्वन्तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेषु अवैकल्यकरम्।
सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः॥' (सु सू ३५ अ)

२. 'सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याधीनां रूपमातुरे।
दृष्ट्वा विप्रतिपद्यन्ते बाला व्याधिबलाबले॥
ते भेषजमयोगेन कुर्वन्त्यज्ञानमोहिताः।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा॥
प्राज्ञास्तु सर्वमाज्ञाय परीक्ष्यमिह सर्वथा।
न स्खलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन॥ (च. वि. ७ अ)

इसी प्रसंग में सत्त्व-प्रकृतियों का भी विचार कर लेना चाहिए।

सत्त्वप्रकृति या महाप्रकृति

मानस दोषों के आधार पर भी प्रकृति का वर्गीकरण किया गया है और उसे 'महाप्रकृति' संज्ञा दी गई है:[1]

पहले प्रकृति के तीन भेद किये गये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। फिर एक-एक के दोषों के तारतम्य से असंख्य भेद होते हैं, किन्तु शील के आधार पर निदर्शनार्थ कुछ भेदों का वर्णन किया गया है:[2]—

इस प्रकार सात्त्विक प्रकृति के सात, राजस के छ तथा तामस के तीन भेद किये गये हैं:[3]—

सात्त्विक प्रकृति के भेद

१ ब्राह्म २. आर्ष ३. माहेन्द्र ४ याम्य ५ वारुण ६. कौबेर ७. गान्धर्व।

राजस प्रकृति के भेद

१. आसुर २ राक्षस ३. पैशाच ४. सार्प ५. प्रैत ६. शाकुन।

तामस प्रकृति के भेद

१. पाशव २. मात्स्य ३. वानस्पत्य।

सात्त्विक प्रकृतियों के लक्षण

१—ब्राह्म

शौच, आस्तिकता, कामादिविकाररहितता, परोपकार, शास्त्राभ्यास, गुरुपूजन,

---

१. 'महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्त्वतमःकृता.।' (सु शा अ ४)

२. 'तेषां तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं तरतमयोगात्..... तस्मात् कतिचित्सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः।' (च शा ४ अ)

३. 'इत्यपरिसंख्येयभेदानां खलु त्रयाणामपि सत्त्वानां भेदैकदेशो व्याख्यातः। शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधो ब्रह्मर्षिशक्रयमवरुणकुबेरगन्धर्वसत्त्वानुकारेण, राजसस्य षड्विधो दैत्यराक्षसपिशाचसर्पप्रेतशकुनिसत्त्वानुकारेण, तामसस्य त्रिविधः पशुमत्स्यवनस्पतिसत्त्वानुकारेण।' (च. शा अ ४)

अतिथिसेवा, यज्ञ आदि ब्राह्म प्रकृति के लक्षण हैं।[1] इसके प्रतीक ब्रह्म हैं।

२—आर्ष

जप, व्रत, ब्रह्मचर्य, होम, अध्ययन एवं ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न आर्ष सत्त्व कहलाता है।[2] इसके प्रतीक ऋषि हैं।

३—माहेन्द्र

पराक्रम, माहात्म्य, दूरदर्शिता, धर्म-अर्थ-काम में रति, भृत्यों का भरण-पोषण, शास्त्रानुकूल आचरण माहेन्द्र प्रकृति के लक्षण हैं।[3] इसके प्रतीक इन्द्र हैं।

४—याम्य

योग्यता और दृढता से कार्य करने वाला, निर्भय, स्मृतिमान्, शुचि, राग-मोह आदि से रहित, लेखक स्वभाव का पुरुष याम्यसत्त्व वाला होता है।[4] इसके प्रतीक यमराज हैं।

---

१. 'शुचि सत्याभिसन्ध जितात्मानं संविभागिन ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नं स्मृतिमन्त कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्याहर्षापेत सम सर्वभूतेषु ब्राह्म विद्यात्।' (च शा. अ. ४)

'शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥', (सु शा. ४ अ)

२. इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषप्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात्।' (च शा अ ४)

'जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नमृषिसत्त्व नर विदुः ॥' (सु शा अ ४)

३. 'ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्यं यज्वान शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लिष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्र विद्यात्। (च शा अ ४)

'माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सतत शास्त्रबुद्धिता।
भृत्यानां भरणञ्चापि माहेन्द्र कायलक्षणम् ॥' (सु. शा अ ४)

४. 'लेखस्थवृत्त प्राप्तकारिणमसम्प्रहार्यमुत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमैश्वर्यालम्बिन व्यपगतरागेर्ष्याद्वेषमोह याम्यं विद्यात्।' (च शा अ ४)

'प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः।
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥' (सु शा अ ४)

५—वारुण

शीत द्रव्यों का सेवन, सहिष्णुता, केश आदि की पिंगलता (भूरापन), प्रियवादिता ये वारुण सत्त्व के लक्षण हैं। इसके प्रतीक वरुण हैं[1]।

६—कौवेर

मध्यस्थता, सहिष्णुता, अर्थ का आगम और सञ्चय, विहार में प्रवृत्ति, परिवार-सम्पन्नता, शुचिता तथा स्पष्ट रूप से क्रोध और प्रसन्नता होना ये कौवेर प्रकृति के लक्षण हैं। इसके प्रतीक कुवेर हैं।[2]

७—गान्धर्व

नृत्य-गान आदि में रुचि, विहारशीलता, गन्धमाल्यवस्त्रप्रियता, स्त्रीविहार, कविता, कहानी, इतिहास, पुराण में कुशलता गान्धर्व सत्त्व के लक्षण हैं। इसके प्रतीक गन्धर्व हैं।[3]

राजस प्रकृतियों के लक्षण

१—आसुर

ऐश्वर्ययुक्त, रौद्र, शूर, ईर्ष्यालु, आत्मप्रशंसी, अकेला भोजन करने वाला और पेटू व्यक्ति आसुर सत्त्व का होता है। इसका प्रतीक असुर है।[4]

---

१. 'शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं वारुणं विद्यात्।' (च. शा. अ. ४)

'शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम्॥' (सु. शा. अ ४)

२ 'स्थानमानोपभोगपरिवारसम्पन्नं सुखविहारं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं व्यक्तकोपप्रसादं कौवेरं विद्यात्।' (च शा. अ. ४)

'मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसञ्चयौ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौवेरं कायलक्षणम्॥' (सु. शा अ ४)

३ 'प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकं श्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारकामनित्यमनसूयकं गान्धर्वं विद्यात्।' (च शा अ ४)

'गन्धमाल्यप्रियत्वञ्च नृत्यवादित्रकामिता।
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम्॥' (सु शा अ. ४)

४. शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौपधिकं रौद्रमननुक्रोशकमात्मपूजकमासुरं विद्यात्।' (च. शा. अ ४)

२—राक्षस

क्रोधी, क्रूर, अति भोजन करने वाला, मांसाहारी, अधिक निद्रा और परिश्रम करने वाला, अवसर मिलने पर प्रहार करने वाला, अधर्मी पुरुष राक्षस प्रकृति का होता है। इसका प्रतीक राक्षस है।[1]

३—पैशाच

'आलसी, स्त्रियों में लिप्त, स्त्रैण, अपवित्र, डरपोक, डरावना, उच्छिष्टभोजी, तीक्ष्ण, साहसी और निर्लज्ज पुरुष पैशाच प्रकृति का होता है। इसका प्रतीक पिशाच है।[2]

४—सार्प

तीक्ष्ण, परिश्रमी, भीरु, क्रुद्धावस्था में शूर और अक्रुद्धावस्था में भीरु, मायावी, आहार-विहार में चञ्चल पुरुष सार्प सत्त्व का होता है। इसका प्रतीक सर्प है।[3]

५—प्रेत

आलसी, भोजन में अधिक रुचि रखने वाला, लालची, दुःखी, ईर्ष्यालु और

'ऐश्वर्यवन्त रौद्रञ्च शूरं चण्डमसूयकम्।
एकाशिनञ्चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम्॥' (सु. शा. अ. ४)

१. 'अमर्षिणमनुबन्धकोपं छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिषप्रियतमं स्वप्नायासबहुलमीर्ष्युं राक्षसं विद्यात्।' (च शा. अ ४)

'एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता।
भृशमात्र तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम्॥' (सु शा. अ. ४)

२. 'महालसं स्त्रैणं स्त्रीरहस्काममशुचिं शुचिद्वेषिण भीरुं भीषयितारं विकृतविहाराहारशीलं पैशाचं विद्यात्।' (च. शा. अ. ४)

'उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा।
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम्॥' (सु. शा. अ. ४)

३. 'क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुतीक्ष्णमायासबहुलं संत्रस्तगोचरमाहारविहारपरं सार्पं विद्यात्।' (च. शा. अ. ४.)

'तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा।
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम्॥' (सु. शा. अ. ४)

दान न देने वाला पुरुष प्रेत प्रकृति का होता है। इसका प्रतीक प्रेत है।[१]

६—शाकुन

अतिकामी, निरन्तर भोजन करने वाला, असहिष्णु, संचय न करने वाला तथा अस्थिर पुरुष शाकुन-सत्व होता है। इसका प्रतीक शकुन (पक्षी) है।[२]

तामस प्रकृतियों के लक्षण

१—पाशव

'मन्दबुद्धि, स्वप्न में मैथुन करने वाला, दूसरे के कार्य में विघ्न डालने वाला, निन्दित आचार-आहार-विहार से युक्त, अधमवेष, अधिक सोने वाला पुरुष पाशव प्रकृति का होता है। इसका प्रतीक पशु है।'[३]

२—मात्स्य

'डरपोक, निर्बुद्धि, आहारलोलुप, अस्थिर, काम-क्रोधयुक्त, जल की अधिक चाह करने वाला, परस्पर कलह-शील पुरुष मात्स्य सत्त्व का होता है। इसका प्रतीक मत्स्य है।'[४]

---

१. 'आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात्।' (च. शा. अ ४)

'असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम्।
लोलुपञ्चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम्॥' (सु शा. अ ४)

२ 'अनुषक्तकाममजस्रमाहारविहारपरमनवस्थितममर्षिणमसञ्चयं शाकुनं विद्यात्।' (च. शा अ. ४)

'प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च।
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम्॥' (सु शा अ ४)

३. 'निराकरिष्णुमधमवेशं जुगुप्सिताचाराहारविहारं मैथुनपरं स्वप्नशीलं पाशवं विद्यात्।' (च. शा अ ४)

'दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेया पाशवा गुणाः॥' (सु. शा अ. ४)

४. 'भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुषक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात्।' (च. शा अ ४)

'अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता।
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम्॥' (सु शा. अ ४)

३—वानस्पत्य

'आलसी, केवल आहार में लीन, बुद्धिहीन, स्थावर, धर्म-अर्थ-काम से रहित पुरुष वानस्पत्यसत्त्व माना जाता है। इसका प्रतीक वनस्पति है।'[1]

१२. देह-प्रकृति

प्रकृति-परीक्षा में पुरुष की शारीर तथा मानस प्रकृतियों का विचार प्रधानतः किया जाता है। अनेक आचार्यों ने भूतप्रकृति का भी वर्णन किया है। इसके अनुसार इसके तीन वर्ग निर्धारित किये गये हैं:—

१. दोषप्रकृति।

२. सत्त्वप्रकृति या महाप्रकृति।

३. भूतप्रकृति।

सत्त्वप्रकृतियों का वर्णन सत्त्व के विचार प्रसंग में किया गया है।

दोषप्रकृति

सुश्रुत ने दोषबाहुल्य के अनुसार प्रकृति के सात भेद किये हैं, किन्तु चरक केवल समवात-पित्त-कफ को ही प्रकृति मानते हैं क्योंकि त्रिदोष की साम्यावस्था में ही पुरुष स्वस्थ रहता है और आरोग्य को ही प्रकृति कहते हैं।[2]

इसके अनुसार किसी एक दोष की अधिकता होने पर उसकी प्रकृति संज्ञा न

---

१ 'अलस केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्वबुद्ध्या हीन वानस्पत्यं विद्यात्।'

(च. शा. अ. ४)

'एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः॥' (सु. शा अ. ४)

२. 'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।' (च. सू. ९ अ)

'तत्र केचिदाहुः—

न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणां, तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित्, केचित् पित्तप्रकृतयः, केचित् पुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति। तच्चानुपपन्नं, कस्मात् कारणात्? समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः; यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः सा चेष्टरूपा, तस्मात् सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः, न तु खलु सन्ति वातप्रकृतयः पित्तप्रकृतयः श्लेष्मप्रकृतयो वा।' (च वि ६ अ)

होकर विकृति संज्ञा होती है और ऐसे पुरुष प्रायः तत्तद्दोपजन्य रोगों से पीडित रहते हैं।[1]

दोपप्रकृति के भेद

दोषप्रकृति सात प्रकार की मानी गई है:—

१. वात। २. पित्त। ३. कफ। ४. वातपित्त।
५. वातकफ। ६. कफपित्त। ७. त्रिदोष।

वातप्रकृति के लक्षण

वात गुण में रूक्ष, लघु, चल, वहु, शीघ्र, शीत, परुष और विशद होता है, अतः इन कारण गुणों से प्रकृति में भी तदनुकूल ही कार्यगुण आविर्भूत होते हैं।[2]

---

१. 'तस्य तस्य किल दोपस्याधिकभावात् सा सा दोपप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां; न च विकृतेषु दोपेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते, तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति; सन्ति तु खलु वातलाः, पित्तलाः श्लेष्मलाश्च, अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः।' (च. वि. ६ अ)

'एता हि येन येन दोपेणाधिकेनैकेनानेकेन वा समनुवध्यन्ते तेन दोपेण गर्भोऽनुवध्यन्ते, ततः सा सा दोपप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्माच्छ्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः प्रकृत्या केचिद् भवन्ति।' (चरक वि ८ अ.)

'समपित्तानिलकफाः केचिद् गर्भादि मानवाः।
दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तला श्लेष्मलास्तथा॥
तेपामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदाऽऽतुराः॥' (च. सू. ७ अ)

२. 'वातस्तु रूक्षलघुचलवहुशीघ्रशीतपरुपविशदः। तस्य रौक्ष्यात्—वातला रूक्षापचितात्पशरीराः, प्रततरूक्षक्षामभिन्नमन्दसक्तजर्जरस्वराः जागरूकाश्च,
लघुत्वात्—लघुचपलगतिचेष्टाहाराः,
चलत्वात्—अनवस्थितसन्ध्यस्थिभ्रूहन्वोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपादः,
वहुत्वात्—वहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः,
शीघ्रत्वात्—शीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रोत्त्रासरागविरागाः, श्रुतिग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च।
शैत्यात्—शीतासहिष्णवः, प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः।
पारुष्यात्—परुपकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाङ्गाः।
वैशद्यात्—स्फुटिताङ्गावयवाः सततसन्धिशव्दगामिनश्च भवन्ति त एवं गुणयोगाद्वातलाः, प्रायेणाल्पवलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाधनाश्च भवन्ति।'
(चरक वि. ८ अ)

इसके अतिरिक्त, वातल पुरुष अल्पबल, अल्पायु, अल्पप्रज, अल्पसाधन और निर्धन होते हैं।

वातप्रकृति[1]

वातगुण	वातप्रकृति गुण
१. रौक्ष्य	रूक्ष, अपचित और कृश शरीर, रूक्ष, क्षीण, भग्न और मन्द स्वर, जागरूकता (निद्राल्पता)।
२. लघुत्व	गति, चेष्टा और आहार लघु और चञ्चल।
३. चलत्व	सन्धि, अस्थि, भ्रू, हनु, ओष्ठ, जिह्वा, शिर, स्कन्ध, हाथ और पैर अस्थिर।
४. बहुत्व	प्रलाप, कण्डरा तथा सिरा का बाहुल्य।
५. शीघ्रत्व	शीघ्रता से किसी कार्य को प्रारम्भ करना, क्षोभ होना या विकार होना, शीघ्रता से क्रोध, प्रेम और उदासीनता होना, शीघ्र स्मरण करना (श्रुतिधर) और शीघ्र भूल जाना।
६. शैत्य	शीत का सहन न करना, सदा शीत, कम्प और जाड्य से पीड़ित होना।
७ पारुष्य	केश, श्मश्रु, रोम, नख, दन्त, मुख, हाथ-पैर आदि अंगों में पारुष्य।
८. वैशद्य	अङ्ग-प्रत्यङ्गों का फटना और चलते समय सन्धियों से शब्द होना।

पित्तप्रकृति के लक्षण

पित्त उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्र, अम्ल तथा कटु होता है। अत इन गुणो से

१. 'तत्र जागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्य्यनार्यो गन्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽतिरूक्षश्मश्रुनखकेशः क्रोधी दन्तनखखादी च भवति।'

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीतत' प्रलापी।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा वियदपि गच्छति संभ्रमेण सुप्तः॥
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसञ्चयमित्रः।
किञ्चिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्य'॥
वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्त्तिता नराः॥ (सु. शा. अ ४)

प्रभावित होकर प्रकृति भी तदनुकूल ही होती है।[1] पित्तप्रकृति पुरुष मध्यबल, मध्यायु, मध्यबुद्धि, मध्यधन और मध्यसाधन होते हैं।

पित्तप्रकृति

पित्तगुण	पित्तप्रकृति गुण
१ उष्णता	उष्ण का सहन न करना, अङ्गों में सौकुमार्य और पाण्डुता, शरीर में व्यङ्ग, तिलक और पिडकाओं की अधिकता, भूख और प्यास अधिक लगना, अल्प आयु में ही झुर्रियाँ, पालित्य (बाल पकना) और खालित्य (बाल उड़ना), केश, श्मश्रु और रोम प्रायः मृदु, अल्प और भूरे रंग के।
२. तीक्ष्णता	तीक्ष्ण पराक्रम, तीक्ष्ण अग्नि, अन्नपान का बाहुल्य, क्लेश को न सहना।
३ द्रवता	सन्धिबन्ध और मांस की मृदुता तथा शैथिल्य, स्वेद, मूत्र और पुरीष का बाहुल्य।
४ विस्रता (दुर्गन्धिता)	कक्षा मुख, शिर और शरीर में दुर्गन्ध का आधिक्य।
५ कट्वम्लता	शुक्र, मैथुन और सन्तान की कमी।

१. पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। तस्य—

औष्ण्यात्—पित्तला भवन्त्युष्णासहा, उष्णमुखाः, सुकुमारावदातगात्राः, प्रभूतपिप्लुव्यङ्गतिलकपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः।

तैक्ष्ण्यात्—तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवः, दन्दशूकाः।

द्रवत्वात्—शिथिलमृदुसन्धिबन्धमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च।

विस्रत्वात्—प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः।

कट्वम्लत्वात्—अल्पशुक्रव्यवायापत्याः।

त एवंगुणयोगात् पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति।

(च वि ८ अ.)

२ 'लाङ्गो दुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो

कफप्रकृति के लक्षण

कफ स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार, सान्द्र, मन्द, स्तिमित, गुरु, शीत, पिच्छिल और अच्छ होता है। अतः तज्जन्य प्रकृति भी उसी के अनुकूल होती है।[1]

कफप्रकृति पुरुष बलवान्, धनवान्, विद्वान्, ओजस्वी, शान्त और दीर्घायु होते हैं।

बलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यमबलो मध्यमायुश्च भवति।

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः॥
न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः॥
भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः॥' (सु. शा ४ अ)

१, 'श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतपिच्छिलाच्छः।
तस्य—
स्नेहात्—श्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः।
श्लक्ष्णत्वात्—श्लक्ष्णाङ्गाः।
मृदुत्वात्—दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः।
माधुर्यात्—प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः।
सारत्वात्—सारसंहतस्थिरशरीराः।
सान्द्रत्वात्—उपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः।
मन्दत्वात्—मन्दचेष्टाहारव्याहाराः।
स्तैमित्यात्—अशीघ्रारम्भक्षोभविकाराः।
गुरुत्वात्—साराधिष्ठितावस्थितगतयः।
शैत्यात्—अल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषाः।
पिच्छिलत्वात्—सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथा
अच्छत्वात्—प्रसन्नदर्शनाननाः, प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। त एवंगुणयोगात् श्लेष्मलाः बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति।' (च. वि. ८ अ)

कफप्रकृति[1]

कफगुण	कफप्रकृति गुण
१. स्निग्धता	अङ्गों में स्निग्धता।
२. श्लक्ष्णता	अङ्गों में श्लक्ष्णता।
३. मृदुता	शरीर सुकुमार, गौर और देखने में सुन्दर।
४. माधुर्य	शुक्र, मैथुन और सन्तान की अधिकता।
५. सारत्व	सारवान्, संहत और दृढ शरीर।
६. सान्द्रता	सर्वाङ्ग उपचित और परिपूर्ण।
७. मन्दता	चेष्टा, आहार और वचन की मन्दता।
८. स्तैमित्य	देरी से कार्य को प्रारम्भ करना तथा विलम्ब से मन में क्षोभ और विकार होना।
९. गुरुत्व	दृढ और स्थिर गति।
१०. शैत्य	भूख, प्यास, सन्ताप और पसीना कम होना।
११. पिच्छिलता	सन्धिबन्धन सारवान् और सन्धियाँ सुश्लिष्ट।
१२ अच्छता	प्रसन्न नेत्र और मुख, वर्ण तथा स्वर की प्रसन्नता और स्निग्धता।

---

१ 'दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवाँश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति।

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलातिनीलकेशो
लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
सम्पश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्॥

रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः॥
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा॥'

(सु शा ४ अ.)

दोषप्रकृतियों का तुलनात्मक कोष्ठक

	वातप्रकृति	पित्तप्रकृति	कफप्रकृति
रस	अल्प	×	प्रभूत
शुक्र	अल्प	अल्प	प्रभूत
ओज	अल्प	×	प्रभूत
व्यवाय	अल्प	अल्प	प्रभूत
अपत्य	अल्प	अल्प	प्रभूत
अग्नि	विषम	तीक्ष्ण	मन्द
ऊष्मा	अल्प	प्रभूत	अल्प
क्षुधा	विषम	प्रभूत	अल्प
तृषा	अल्प	प्रभूत	अल्प
अशन	×	प्रभूत	×
पान	×	प्रभूत	×
पुरीष	×	प्रभूत	×
मूत्र	×	प्रभूत	×
स्वेद	×	प्रभूत	×
बल	×	मध्यम	प्रभूत
पराक्रम	×	तीक्ष्ण	×
गन्ध	×	प्रभूत और पूति	×
चेष्टा	लघु और चपल	×	×
गति	लघु और चपल	×	×
प्रलाप	बहु	×	×
निद्रा	अल्प	×	प्रभूत
आरम्भ	शीघ्र	×	मन्द
क्षोभ	शीघ्र	×	मन्द
विकार	शीघ्र	×	मन्द
त्रास	शीघ्र	×	मन्द
राग	शीघ्र	×	मन्द

	वातप्रकृति	पित्तप्रकृति	कफप्रकृति
विराग	शीघ्र	×	मन्द
श्रुतग्राहिता	शीघ्र	+	मन्द
स्मृति	अल्प	×	दीर्घ
असहिष्णुता	शीत	उष्ण	×
प्रिय रस	मधुराम्ललवण	मधुरकषायतिक्त	कटुतिक्तकषाय
आकांक्षा उपशय	स्निग्ध उष्ण	शीत	रूक्ष
अभिरुचि	गीत, हास्य, शिकार, कलह, स्वेदन, उष्ण और विमर्दन मे	माल्य, विलेपन, आभूषण और शीत में	श्रुत, शास्त्र, उष्ण, निद्रा, संगीत और तन्द्रा में
अनभिरुचि	शैत्य मे	उष्ण में	शैत्य में
स्वप्नदर्शन	वृक्ष, आकाश और पर्वत	स्वर्ण, पलाश, सूर्य, अमलतास, दीप्ताग्नि, विद्युत्, दिग्दाह और उल्का	विहंगमाला, कमल, हंस, चक्रवाक, जलाशय, वादल
वाल्यावस्था	×	×	अतिरोदन तथा चंचलता का अभाव
नखकेशवृद्धि		×	प्रभूत
शील	अज, शृगाल खरगोश, चूहा, ऊट, कुत्ता, गीध, कौआ और गदहे के सदृश	सर्प, वाघ, मार्जार, वानर, उल्लू, भालू, गन्धर्व, यक्ष और नकुल के सदृश	सिंह, गो, वृष, गज, अश्व, हंस, गरुड़, ब्रह्मा, रुद्र, वरुण और इन्द्र के सदृश
गुणस्वभाव	अनार्य, दोषात्मा, नास्तिक, अधन्य, दुर्भग, कृतघ्न, मत्सरी, चोर, अजितेन्द्रिय,	क्लेशभीरु, स्त्रियों मे असत्कृत, शुचि, अक्षय, वैभवशील, तेजस्वी, शूर, मानी, कोपन,	आर्य, धर्मात्मा, आस्तिक लक्ष्मीवान्, सुभग, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, द्युतिमान्, दयावान्, स्थिरमित्र, वहुमित्र,

	वातप्रकृति	पित्तप्रकृति	कफप्रकृति
	अद्युतिमान्, क्लेशप्रिय, हिंसाशील, चलसौहार्द, अल्पमित्र, पुरुषप्रिय, स्त्रीप्रिय नहीं, चंचलमति-बुद्धि चित्त-चेष्टा-गति-दृष्टि, जागरूक, दन्तखादी, अल्पबल, अल्पधन, अल्पापत्य, अल्पायु, अल्पसाधन	क्रोधी, साहसिक, क्षिप्रकोपप्रसाद, सभाओं मे विगृह्य वक्ता, दुर्निवारवीर्य, उद्धत के प्रति कठोर, आश्रितवत्सल, मध्यबल, मध्यवित्तोपकरण मध्यायु, मध्यज्ञान-विज्ञान	प्रिययोषित्, स्थिरमति, व्यायामशील, स्वच्छ, ऋजु, विनीत, प्रियभाषी, मितवाक्, परिनिश्चितवाक्, क्षमावान्, गभीर, बहुमद; निपुणमति, मेधावी, महोत्साह, बुद्धिमान्, दृढवैरी, चिरग्राही, दीर्घदर्शी, दीर्घसूत्री, बलवान्, वसुमान्, विद्यावान्, ओजस्वी, शान्त, आयुष्मान्
मुख	दुर्भग	सुकुमार, अवदात	सुकुमार, सुभग, अवदात, स्निग्ध, प्रसन्न, प्रियदर्शन
देह	अल्प, कृश, दीर्घ अपचित, रूक्ष, परुष, दुर्बल, स्थाणु	मृदु, मध्यबल	उपचित, स्निग्ध, मृदु, बलवान्, मासल
शरीररचना	×	शिथिल, अयथोपचित	मासल, परिपूर्ण, समसुविमल, सारसहत; स्थिर
		शरीरावयव	
ललाट	×	×	प्रशस्त, उपचित
नेत्र	×	×	रक्तान्त
दन्त	अतिसूक्ष्म, परुष	विशुद्ध	×
वक्ष	×	×	पृथु, पीन

	वातप्रकृति	पित्तप्रकृति	कफप्रकृति
उदर	अपचित	×	उपचित
बाहु	×	×	प्रलम्ब
पाद	परुष, स्फुटित	ताम्रवर्ण	
कण्डरा	बहुल	×	×
सिरा	व्यक्त, बहुप्रतान	×	×
सन्धिबन्ध	×	×	सुश्लिष्टसार
अस्थि	×	×	गूढ
मांस	×	×	श्लिष्ट
चक्षु	उद्धृत, खर	×	स्निग्ध
दर्शन	अचारु, मृतोपम	×	चारु
परिमाण	तनु	तनु	विशाल
पक्ष्म	तनु, अल्प	×	दीर्घ, विशाल
तारका	विकृत	×	घननील
शारीर स्राव	अल्प	×	प्रभूत
निमेष	अति, शीघ्र	×	अल्प, मन्द
दृष्टि	चल	×	स्तिमित
प्रिय	×	हिम	×
नेत्रवैशिष्ट्य	उन्मीलितता, सुप्तता	क्रोध, मद्य तथा सूर्य-किरणों से शीघ्र लाली	सुस्निग्ध-सुव्यक्त-शुक्ला-सितपक्ष्मता
वर्ण	कृष्ण, धूसर	गौर, पीत, पिंग	गौर, प्रसन्न, शुक्ल
नख, नयन, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, पाणि, पाद, वक्त्र	×	ताम्र	×

	वातप्रकृति	पित्तप्रकृति	कफप्रकृति
त्वक्	रूक्ष, परुष, खर, शीत और अस्वेदन	प्रभूत, पिप्लुव्यङ्ग-तिलकालकान्वित, उष्ण, अतिस्वेदन	स्निग्ध, मृदु, श्लक्ष्ण, शीत
केश-रोम-वाल-श्मश्रु-पक्ष्म	अल्प, परुष, रूक्ष, खर, धूसर, स्फुटित	अल्प, मृदु, कपिल, पिंग, क्षिप्रपतित, अकालपलित, खालित्य, अलोमक, वलि से युक्त	अतिमृदु-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-घननील स्थिर-सुबन्ध कुटिल-बहुल-दीर्घ
नख	अल्प-परुष-रूक्ष-खर-धूसर-स्फुटित, कम बढ़ने वाले	×	दीर्घ मृदु-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-शुक्ल-सुबन्ध-बहुल
स्नायुसन्धि	अनवस्थित, चल, वेपन, शब्दसहित, स्तब्ध	शिथिल	व्यवस्थित, सुश्लिष्ट, संहत
गति-चेष्टा			
भ्रूगति	शीघ्र	×	मन्द
हनुगति	लघु	×	गुरु
ओष्ठ	चल	×	स्थिर
जिह्वा			
शिर			
स्कन्ध			
हाथ			
पैर			
गति	×	×	समदा, द्विरदेन्द्रतुल्या
पादचिह्न	अस्पष्ट	×	स्पष्ट
शरीरभार	अल्प	×	प्रभूत
दशन	परुष	×	श्लक्ष्ण, स्निग्ध

	वातप्रकृति	पित्तप्रकृति	कफप्रकृति
हाथ पैर अन्यअंग	परुष	×	श्लक्ष्ण, स्निग्ध
श्वास	अल्प	उष्ण और अधिक	×
ऊष्मा	अल्प	अधिक	
गन्ध			
वक्ष-कक्षा-मुख-शिर और शरीरकी	×	प्रभूतपूतिगन्ध, अगुरुगन्ध	
वाणी	प्रतत, रूक्ष, क्षाम, भिन्न, सक्त, जर्जर, मग्न, चल	×	प्रसन्न, गंभीर, मेघ, मृदंग और सिंह के समान

संसर्गज प्रकृति

उपर्युक्त तीनों दोष-प्रकृतियों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। उन्हीं के आधार पर संसर्गज (वातपैत्तिक, वातकफज तथा कफपैत्तिक) और सान्निपातिक (त्रिदोषज) प्रकृतियों का स्वरूप समझना चाहिये।[1]

समप्रकृति

चरक के मत से समप्रकृति उसे कहते हैं जिसमें उपर्युक्त तीनों दोषों के गुण साम्यावस्था में मिलें।[2]

चूँकि समप्रकृति पुरुष स्वस्थ होते हैं अतः उनके लक्षण वे ही हैं जो स्वस्थ पुरुषों के लक्षण बतलाये गये हैं।[3]

---

१. 'द्वयोर्वा तिसृणां वाऽपि प्रकृतीनां तु लक्षणैः।
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥' (सु शा ४ अ.)

२ 'सर्वगुणसमुदितास्तु समधातव इति ॥' (च वि ८)

३. 'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥' (सु सू. १५ अ.)
सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः।

संक्षेप में, समप्रकृति के निम्नांकित लक्षण होते हैं:—

१. समदोष, २. समाग्नि, ३. समधातुक्रिय, ४. सममलक्रिय, ५. प्रसन्नात्मा, ६. प्रसन्नेन्द्रिय, ७. सममांसप्रमाण, ८. समसंहनन, ९. दृढेन्द्रिय, १०. क्षुत्पिपासासह, ११. शीतातपसह, १२ व्यायामसह, १३ समजर, १४. सर्वरससात्म्य।

भूतप्रकृति

कुछ आचार्य महाभूतों के अनुसार प्रकृति का वर्गीकरण करते हैं और उसे 'भूतप्रकृति' की संज्ञा देते हैं।

सुश्रुत ने अपनी संहिता में यद्यपि यह मत उद्धृत किया है तथापि 'केचित्' शब्द से उस मत के प्रति उनकी अरुचि ही प्रकट होती है[1]। इसका कारण संभवतः यह हो सकता है कि दोषप्रकृति के वर्णन में ही भूतप्रकृति गतार्थ हो जाती है, क्योंकि शरीरदोषों का संघटन महाभूतों से ही होता है और इसी लिए वायव्य, आग्नेय और आप्य भूतप्रकृतियों के लक्षण पृथक् न लिखकर वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक दोष प्रकृतियों के समान ही इनके लक्षण होते हैं, ऐसा संकेत किया है।[2]

भूतप्रकृति के भेद

इसके पाँच भेद होते हैं:—

१. वायव्य, २. आग्नेय, ३. आप्य, ४. पार्थिव, ५. नाभस।

भूतप्रकृति के लक्षण

(१) **वायव्य**—इसके लक्षण वातिक प्रकृति के समान होते हैं।

(२) **आग्नेय**—यह पित्तप्रकृति के समान होती है।

(३) **आप्य**—इसके लक्षण कफप्रकृति के समान होते हैं।

दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते॥
क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः।
समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः॥' (च सू २१ अ.)

१. 'प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः।' (सु शा. अ ४)

२. 'पवनदहनतोयैः कीर्त्तितास्तास्तु तिस्रः।' (सु शा अ ४)

(४) **पार्थिव**—'पार्थिव'प्रकृति का पुरुष स्थिर और विशाल शरीरवाला तथा क्षमाशील होता है।[1]

(५) **नाभस**—'नाभस'प्रकृति का पुरुष शुचि, चिरजीवी तथा बड़े स्रोतों वाला होता है।[2]

प्रकृति-विचार का प्रयोजन

रोगनिर्णय तथा चिकित्सा की दृष्टि से प्रकृति का विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे रोग के स्वरूप, उसकी गतिविधि ज्ञात होती ही है, चिकित्साकाल में भी रोगी के लिए औषध तथा पथ्य आहार-विहार की व्यवस्था करने में सहायता मिलती है। इस संबन्ध में निम्नांकित बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

(१) रोगी की स्थिति:—

प्रकृति के विचार से रोगी की स्थिति, विशेषतः उसके पूर्ववृत्त पर प्रकाश पड़ता है। समप्रकृति पुरुष सदा स्वस्थ रहते हैं तथा अन्य दोषप्रकृतिवाले पुरुष सदैव तत्तद्दोषों से उत्पन्न विकारों के कारण पीडित रहते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि उन-उन विकारों के प्रति उनके शरीर में रोगक्षमता स्वभावत कम रहती है, अत उनसे शीघ्र आक्रान्त होते हैं और ये विकार बलवान् भी होते हैं[3]।

किन्तु सुश्रुत इस मत में आस्था नही रखते क्योंकि उनका विचार है कि निरन्तर संयोग से वह विषम प्रकृति (विकृति) भी प्रकृतिगत हो जाती है और उससे पुरुष को कोई कष्ट नहीं होता। यथा विष से उत्पन्न कीट पर विष का घातक प्रभाव नही होता, उसी प्रकार गर्भ या जन्मकाल से संघटित विषम प्रकृतियों का भी कोई प्रभाव नहीं होता[4]।

---

१. 'स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्।' (सु. शा. अ. ४)

२ 'शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः।' (सु. शा. अ. ४)

३. 'तेषामनातुराः पूर्वे वातलाऽऽद्याः सदातुराः।' (च सू ७ अ.)
'वातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ताः व्याधयः प्रायेण भवन्ति बलवन्तश्च।' (च वि ६ अ.)

४. 'विषजातो यथा कीटो विषेण न विपद्यते।
तद्वत्प्रकृतयो: मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम्॥' (सु. शा. ४ अ.)

(२) रोग की साध्यासाध्यता :—

जिस दोष से विकार उत्पन्न हो, यदि वही दोषप्रकृति न हो तो रोग सुख-साध्य अन्यथा कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होता है।[१]

(३) चिकित्सा :—

(क) प्रतिषेधात्मक :—

विषमप्रकृति वाले पुरुषों के लिए दोष के विपरीतगुण आहार-विहार का विधान किया गया है तथा समप्रकृतिवाले पुरुषों को समसर्वरससात्म्य आहार-विहार का सेवन करना चाहिये।[२]

(ख) प्रशमनात्मक :—

वातप्रकृति

'वातप्रकृति पुरुष जब वातवर्धक आहार-विहार करते हैं तो उनका वात शीघ्र प्रकुपित हो जाता है और उनकी चिकित्सा में वात के शमन का विशेष ध्यान रखना होता है।[३]

पित्तप्रकृति

'पित्तप्रकृति पुरुषों में पित्तप्रकोपक आहार विहार से पित्त का प्रकोप शीघ्र होता है और उनकी चिकित्सा में भी पित्त को शान्त रखने का यत्न किया जाता है।[४]

'त्रयस्तु पुरुपा भवन्त्यातुराः ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम्।' (च. वि अ. ६)

१. 'हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वै।
न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्॥' (च सू अ १०)

२. 'विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः।
समसर्वरस सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते॥' (च सू अ. ७)

३. 'तत्र वातलस्य वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ। तस्यावजयनं-स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि बस्ति-नियमः सुखशीलता चेति।' (च. वि. अ. ६)

४. 'पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्र पित्तं प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ, तस्यावजयनं-सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोपहरणम्, मधुरतिक्तकषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः, सेवन च नलिनोत्पलपद्मकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रहस्तानां सौम्यानां च सर्वभावानामिति।' (च वि अ ६)

कफप्रकृति

कफप्रकृति पुरुषों में कफ-प्रकोपक आहार-विहार से कफ का प्रकोप शीघ्र होता है और उनकी चिकित्सा में भी कफ के शमन का विशेष यत्न किया जाता है।[1]

१३. दाम्पत्य जीवन

रोगी विवाहित है या अविवाहित? यदि विवाहित है तो कितने बच्चे हैं? कोई बच्चा मरा भी है, यदि मरा है तो किस रोग से? उसकी स्त्री किसी विकार से पीड़ित भी है? पत्नी से उसका संबन्ध कैसा रहता है? आदि प्रश्न पूछने चाहिये। यदि रोगी स्त्री हो, तो उसके मासिक की स्थिति, गर्भपात आदि के संबन्ध में जानकारी प्राप्त करनी चाहिये।

इससे रोगनिर्णय में अत्यधिक सहायता मिलती है। स्त्री और पुरुष में अत्यधिक घनिष्ठ सपर्क होने से एक दूसरे के विकार का संक्रमण होने की संभावना रहती है। पारस्परिक सवन्ध में जटिलता होने से मानसिक रोगों की उत्पत्ति देखी जाती है।

१४. पूर्वकालिक स्वास्थ्य

वर्तमान रोग का इतिवृत्त देखने के बाद रोगी का पूर्ववृत्त देखना चाहिए। वर्त्तमान रोग के पहले रोगी का स्वास्थ्य कैसा था? वह किसी रोग से पीड़ित भी हुआ था? यदि हुआ था तो उसके क्या लक्षण थे, वे कितने दिनों तक रहे तथा उनकी शान्ति कैसे हुई? भूतपूर्व विकारों के सम्बन्ध में रोगी के द्वारा व्यक्त रोगनिर्णय पर विश्वास न कर उस रोग के स्वरूप का पूर्ण उद्‌घाटन कराने की चेष्टा करनी चाहिए। यहाँ यह भी बतलाना आवश्यक है कि यह वृत्त रोग उत्पन्न होने के पूर्व का है, अत रोग के पूर्वरूप का भ्रमवश इस संबन्ध में उल्लेख नहीं करना चाहिए। किन्तु इसी प्रकार के विकार जो कुछ काल पूर्व हुए थे उनका उल्लेख होना चाहिए। यथा न्यूमोनिया या शूल के रोगी से यह पूछना चाहिए कि उसे यह रोग पहले भी कभी हुआ था? सभी रोगों में सामान्यत आमवात,

---

१. 'श्लेष्मलस्यापि श्लेष्मप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्र श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ, तदस्यावजयन-विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि सशोधनानि रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि, सर्वशश्चोपवासः तथोष्णं वासः, सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति।' (च. वि अ. ६)

सन्धिवात, कम्पवात, कण्ठशालूक, न्यूमोनिया, फुफ्फुसावरणशोथ, रोहिणी तथा आन्त्रिकज्वर, रोमान्तिका, कुकुरखाँसी, मलेरिया आदि रोगों के संबन्ध में प्रश्न करने चाहिये। युवा व्यक्तियों में यौन रोगों यथा पूयमेह तथा फिरंग का इतिहास लेना आवश्यक है। स्त्रियों में बच्चों की संख्या, गर्भपात या विस्फोटयुक्त बालकों के प्रसव का वृत्त ज्ञात करना चाहिए।

पूर्ववृत्त से ऐसी अवस्थाओं का ज्ञान होता है जिनसे रोग के विकास में सहायता मिलती है। अतः इस इतिहास का पूर्ण विवरण तैयार करने में वे ही सफल होते हैं जिन्हें विकृतिविज्ञान का पर्याप्त ज्ञान हो। इससे वर्त्तमान विकार से संबद्ध विकारों का पता लगाया जाता है और असंबद्ध विकारों को छोड़ दिया जाता है, किन्तु नवशिक्षितों के लिए यही पर्याप्त है कि वे भूतपूर्व सभी विकारों का विवरण एकत्र करें। विकारों के विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त यह भी देखना आवश्यक है कि इसके पूर्व रोगी का स्वास्थ्य बिलकुल ठीक था कि बराबर बीमार रहा करता था?

२. वयोऽनुपातिनी प्रकृति

रोगी की आयु पूछकर ठीक-ठीक लिखनी चाहिये। बहुत से अशिक्षित रोगी अपनी आयु का ठीक पता नहीं देते, अतः ऐसे रोगियों से किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का स्मरण दिलाकर उसी प्रसंग से आयु का निश्चय करना चाहिये। यथा प्रथम महायुद्ध, भूकम्प, द्वितीय महायुद्ध, ४२ की क्रान्ति, भारत की स्वतन्त्रताप्राप्ति आदि। सामान्यतः अनुभव से रोगी के शारीरिक विकास को देखकर आयु का आनुमानिक ज्ञान हो जाता है। कुछ शारीरिक चिह्न एक निश्चित आयु में प्रकट होते हैं यथा युवावस्था के प्रारम्भ में पुरुषों में मूँछ दाढ़ी तथा कक्षा आदि प्रदेशों केश की उत्पत्ति, स्त्रियों में स्तन का विस्तार आदि। बुद्धिदन्त की उत्पत्ति युवावस्था में होती है तथा अन्य दन्तों की संख्या देखकर आयु का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

युवा व्यक्तियों में दाँतों की संख्या ३२ होती है। इनका क्रम निम्नांकित होता है:—

ऊर्ध्वपंक्ति—	कर्त्तनक—	२
(दक्षिणपार्श्व)	रदनक—	१
	अग्रचर्वणक—	२
	चर्वणक—	३
		८

इसी प्रकार वामपार्श्व में भी ८ दाँत होते हैं। इस तरह ऊर्ध्वपंक्ति में १६ दाँत और अधःपंक्ति में ऐसे ही १६ दाँत होते हैं। बालकों में अस्थायी दाँत होते हैं जो नियत समय पर टूटकर गिर जाते हैं और उनके स्थान पर स्थायी दाँत निकल आते हैं। अस्थायी दाँत संख्या में २० होते हैं, कारण कि बालकों में अग्रचर्वणक और अन्तिम चर्वणक नहीं होते। अन्तिम चर्वणक को 'बुद्धिदन्त' (Wisdom tooth) भी कहते हैं। यह सब से अन्त में निकलनेवाला स्थायी दाँत है।

अस्थायी दन्त

इन्हें 'दुग्धदन्त' भी कहते हैं। इनका उद्भवकाल निम्नांकित है:—

अधःकर्त्तनक—	६–८ मास की	आयु में।
ऊर्ध्वकर्त्तनक—	८–१० "	"
अग्रचर्वणक—	१२–१४ "	"
रदनक—	१८–२० "	"
चर्वणक—	२–२½ वर्ष	"

स्थायी दाँत

स्थायी दाँत अस्थायी दाँतों के गिरने के बाद निकल आते हैं। इनका उद्भवकाल निम्नांकित है:—

अग्रचर्वणक—	६ वर्ष की	आयु में।
अन्त कर्त्तनक—	७ "	"
बाह्यकर्त्तनक—	८ "	"
पूर्वाग्रचर्वणक—	९ "	"
पश्चिमाग्रचर्वणक—	१० "	"
रदनक—	११–१२ "	"
मध्यचर्वणक—	११–१३ "	"
अन्तिमचर्वणक—	२४ "	"

रोगविनिश्चय के लिए आयु का विचार महत्त्वपूर्ण है। कुछ रोग एक विशिष्ट आयु में ही मुख्यतः होते हैं; यथा मूत्रकृच्छ्र बालकों में अश्मरी के कारण, युवावस्था में औपसर्गिक मेह से तथा वृद्धावस्था में पौरुष ग्रंथि के शोथ के कारण प्रायः होता है। रोग की साध्यासाध्यता में भी इसका विचार महत्त्वपूर्ण होता है। यथा ग्रहणी रोग बालकों में सुखसाध्य, युवकों में कष्टसाध्य तथा वृद्धों में असाध्य माना गया है।[1]

वृद्धों में निरन्तर धातुक्षय होने के कारण रोग प्रायः याप्य होते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त औषध के स्वरूप, मात्रा आदि का विचार आयु के अनुसार ही किया जाता है। बालकों में औषध का प्रयोग अल्प मात्रा तथा मृदु रूप में किया जाता है।[3]

शरीर धातुओं की स्थिति के अनुसार शास्त्रकारों ने वय के तीन विभाग किये हैं—बाल, मध्य और वृद्ध या जीर्ण। जब शरीर धातु अपरिपक्व अवस्था में अर्थात् अविकसित होते हैं तब वह बाल्यावस्था कहलाती है। इसकी अवधि सोलह वर्ष तक मानी गई है। जब शरीर के धातु क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पूर्ण विकसित हो जाते हैं तब वह युवावस्था या मध्यावस्था कहलाती है। इसकी अवधि साठ या सत्तर वर्ष तक मानी गई है। जब शरीर धातुओं में निरन्तर ह्रास होने लगता है तब वह वृद्धावस्था का परिचायक होता है। इसकी अवधि सौ वर्ष तक मानी गई है।[4] पूर्ण आयु का प्रमाण सौ वर्ष मानने पर यह विभाग

---

१. 'बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम्॥' (मा नि)
२. 'वृद्धो याप्यानाम्।' (च. सू. २५)
३. 'बालो मृदुभेषजीयानाम्।' (च. सू. २५)
४. 'बाल्यमाषोडशाद्वर्षान्मध्यमासप्ततेस्ततः।
वृद्धत्वमूर्ध्वं विज्ञेयं वयोमानमिति त्रिधा॥' (यो र)

प्रगत होता है, किन्तु 'संततसन्ताने पूर्वं माति संवत्सर प्रमाण' इस न्याय से क्रमशः पुरुषों की आयु का ह्रास होता जा रहा है। अतः इस पर पुनर्विचार आवश्यक है।

वय

	बाल	मध्य	वृद्ध
१. अवधि	१६ वर्ष तक	६० वर्ष तक	१०० वर्ष तक
२. धातु-	अपरिपक्वधातु	विवर्धमानसमत्वागतधातु	क्षीयमानधातु
३. दोष	श्लेष्मप्राय	पित्तप्राय	वातप्राय

सुश्रुत ने इन तीन अवस्थाओं के और प्रविभाग किये हैं:—

वय

१. बाल (१६ वर्ष) २. मध्य (७० वर्ष) ३. वृद्ध (१०० वर्ष)

क्षीरप क्षीरान्नाद अन्नाद वृद्धि यौवन सम्पूर्णता परिहाणि

१ वर्ष २ वर्ष १६ वर्ष २० वर्ष ३० वर्ष ४० वर्ष ७० वर्ष

'कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद्वयो यथास्थूलभेदेन त्रिविध—बाल, मध्यं जीर्णमिति। तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसम्पूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षं विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टं, मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टं, अतः परं परिहीयमानधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वातधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम्।' (च. वि. ८ अ.)

१. 'वयस्तु त्रिविधं बाल्यं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षा बालाः। तेऽपि

इन अवस्थाओं में उत्तरोत्तर औषध की मात्रा बढ़ती जाती है किन्तु परिहीयमान धातु होने पर वृद्धावस्था में पुनः मात्रा कम हो जाती हैं।[1]

आयु के अनुसार दोषों की प्रधानता का विचार भी चिकित्सा में उपयोगी होता है।[2]

बाल और वृद्ध में तीक्ष्ण क्रिया निषिद्ध की गई है और उसके स्थान पर शनैः शनैः मृदु क्रिया करने का विधान है[3]:—

३. देशानुपातिनी प्रकृति

देश तीन प्रकार का होता है—आनूप, जांगल और साधारण। जहाँ जलाशय की अधिकता हो उसे आनूप और जहाँ कमी हो उसे जांगल कहते हैं। दोनों देशों के मध्यवर्ती स्थान को साधारण कहते हैं।[4]

त्रिविधाः क्षीरपाः क्षीरान्नादाः अन्नादा इति। तेषु संवत्सरपरा क्षीरपा द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः परतोऽन्नादा इति। षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्राविंशतेर्वृद्धिरात्रिंशतो यौवनमाचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता अत ऊर्ध्वमीषत् परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति। सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियासु असमर्थं जीर्णागारमिव अभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते।' (सु सू ३५)

१. 'तत्रोत्तरोत्तरासु वयोऽवस्थासु उत्तरोत्तरा भेषजमात्राविशेषा भवन्ति ऋते च परिहाणेस्तत्राद्यापेक्षया प्रतिकुर्वीत।' (सु सू ३५)

२. 'बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत्॥' (सु. सू. ३५)

३ 'अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत्।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् क्रियां शनैः॥' (सु सू ३५)

४. 'देशस्त्वानूपो जांगलः साधारण इति। तत्र बहूदकनिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः। आकाशसमः प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपा-

रोगी उपर्युक्त देशों में से किस देश में उत्पन्न हुआ, किस देश में उसका पालन-पोषण हुआ तथा किस देश में वह रुग्ण हुआ, इसका विचार करना चाहिये। उस देश के निवासियों का आहार-विहार, रहन-सहन अमुक प्रकार का है, यह भी देखना आवश्यक है।[1]

देश-परीक्षा के निम्नांकित प्रयोजन हैं—

१. इससे रोगी की देशानुपातिनी प्रकृति का परिज्ञान होता है।

२. कुछ रोग देश विशेष में ही उत्पन्न होते हैं यथा श्लीपद आनूप देश में होता है।[2]

आनूप देश में कफ-वात-प्रधान रोग होते हैं तथा जांगल देश में वातपित्तात्मक रोगों की अधिकता होती है। साधारण देश में दोष सम होते हैं, अतः वहाँ मनुष्य प्रायः स्वस्थ होते हैं। जांगल देश में रोग कम होते हैं।

३. रोगों के बलाबल का ज्ञान भी इससे होता है यथा आनूप देशज श्लीपद गलगंड, वृषणोदकादि रोग यदि जांगल देश में हों तो दुर्बल होते हैं। इसी प्रकार जांगल देश में होने वाले वातपैत्तिक रोग आनूप देश में होने पर प्रबल नहीं होते। इसी प्रकार अपने देश में संचित दोष यदि विरुद्ध देश में प्रकुपित हों तो

नोदकप्रायः उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः। स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायः वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जांगलः। उभयदेशलक्षणः साधारण इति।' (सु. सू. ३५)

'देशोऽल्पवारिद्रुनगो जांगलः स्वल्परोगदः।
अनूपो विपरीतोऽस्मात् समः साधारणः स्मृतः॥' (यो. र.)
'मरुभूरारोग्यदेशानाम्, अनूपोऽहितदेशानाम्।' (च. सू. २५)

१. 'तत्र तावदियमातुरपरिज्ञानहेतोः; तद्यथा—अयं कस्मिन् भूमिदेशे जातः संवृद्धो व्याधितो वेति; तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं विहारजातमेतावद्बलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधं सात्म्यमेवंविधो दोषो भक्तिरियमिमे व्याधयो हितमिदमहितमिदमिति प्रायोग्रहणेन।' (च. वि. ८ अ.)

२. 'पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः॥' (मा. नि.)

ये भी दुर्बल होते हैं। इसका कारण यह है कि देश विशेष के गुण तथा तद्देशीय विरोधी आहार विहार से रोग का प्रभाव बाधित हो जाता है। ऐसी स्थिति में देश के विपरीतगुण-सात्म्य आहार-विहार का सेवन करनेवाले पुरुष स्वस्थ रहते हैं।[1]

४. रोग की साध्यासाध्यता के विचार मे भी इससे सहायता मिलती है। देश-गुण के विपरीत उत्पन्न रोग सुसाध्य माना गया है और देशगुण के अनुकूल रोग असाध्य, यथा जांगल देश मे उत्पन्न कफरोग सुखसाध्य तथा वही आनूप देश में होने पर असाध्य हो जाता है।

विशिष्ट प्रश्न से रोग के काल, वेदनासमुच्छ्राय, बल तथा स्वरूप के संबन्ध मे विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है जिससे रोग-निर्णय एवं चिकित्सा में सहायता मिलती है।

४. कालानुपातिनी प्रकृति

काल दो प्रकार का होता है—नित्यग और आवस्थिक। नित्यग काल संवत्सर-रूप है जिसमें ऋतुओं के अनुसार पुरुष के शरीरस्थ दोषों में परिवर्तन होते रहते हैं। आवस्थिक काल आतुरावस्था का बोधक है।[2] इन दोनों कालो के अनुसार आतुर की प्रकृति देखी जाती है। किस काल (ऋतु) में व्याधि उत्पन्न हुई, इससे विकार के स्वरूप का बहुत कुछ अनुमान हो जाता है। आतुरावस्था में स्वस्थावस्था की अपेक्षा रोगी की प्रकृति कैसी है, यह भी देखना चाहिए क्योंकि प्रकृति में सहसा परिवर्त्तन अरिष्टलक्षण माना गया है।

---

१. 'न तथा बलवन्तः स्युर्जलजाः वा स्थलाहृताः।
स्वदेशे निचिता दोषा अन्यस्मिन् कोपमागताः॥
उचिते वर्त्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।
आहारस्वप्नचेष्टादौ तद्देशस्य गुणे सति॥' (सु. सू ३५)

२. 'कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च, तत्रावस्थिको विकारमपेक्षते नित्यगस्तु खल्वृतुसात्म्यापेक्षः।' (च. वि. १)

षड्ऋतुओं में बल-अग्नि-रस एवं दोषावस्था आदि का निदर्शक कोष्ठक

ऋतु	शरीरबल	अग्नि	प्रधान रस	दोषावस्था	प्रमुख व्याधियाँ	विशिष्ट उपक्रम
वसन्त (चैत्र-वैशाख)	मध्यम	साधारण	कषाय	श्लेष्मा का प्रकोप वात एवं पित्त का अनुबंध।	प्रतिश्याय, फुफ्फुसपाक, श्लेष्मक ज्वर, रोमान्तिका, मसूरिका, कुकास एवं श्लेष्मोल्वण वातमध्य पित्त-न्यून ज्वर तथा इतर व्याधियाँ।	वमन द्वारा श्लेष्मा का चैत्र मास में शोधन। व्यायाम, भ्रमण, आसवारिष्टों के प्रयोग से श्लेष्मा का पाचन। दही, माष आदि गुरुपाकी अभिष्यंदी पदार्थों का त्याग।
ग्रीष्म (ज्येष्ठ-आषाढ)	अल्प	मन्द	कटु	श्लेष्मा का उपशम तथा वायु का संचय।	दौर्बल्य, धातुनाश, रूक्षदेह के कारण अंशुघात, अग्निमांद्य के कारण अतिसार-विसूचिका आदि का प्रकोप।	वायु का संचय अधिक न होने देने के लिए मधुर-तर्पक-लघुपाकी आहार तथा व्यायाम, भ्रमण आदि का परित्याग, श्रीखण्ड मधुर एवं शीत पेयों का उपयोग।

वर्षा (श्रावण-भाद्रपद)	अल्प	मन्द	अम्ल	वायु का प्रकोप । प्रायः सामता का अनुबंध । पित्त का संचय । श्लेष्मा का अनुबंध ।	प्रवाहिका, आमातिसार, श्वास, श्लीपद, आमवात, सामज्वर, वातबलासक एवं वातव्याधि की प्रधानता । पित्तका संचय होने के कारण त्वचा के विकार तथा दूसरी पित्तज व्याधियाँ ।	वातशमन के लिए स्निग्धोष्ण द्रव्यों का प्रयोग, वस्ति का मुख्य प्रयोग । पित्त का संचय रोकने के लिए मधुर स्रंसक या विरेचक योग ।
शरद (आश्विन-कार्तिक)	मध्य	साधारण	लवण रस	वायु का उपशम और श्लेष्मानुबंधित पित्त का प्रकोप ।	पैत्तिक ज्वर, सभी प्रकार के ज्वर, कामला, रक्त-पित्त, दाह, छर्दि, मूर्च्छा ।	मधुर रसवाले विरेचक योगों से पित्त का शोधन, मधुर स्निग्ध पदार्थों का उपयोग ।
हेमन्त (मार्गशीर्ष-पौष)	श्रेष्ठबल	तीव्र	मधुर रस	पित्त का उपशम तथा श्लेष्मा का संचय ।	श्लेष्मोल्वण व्याधियाँ, श्लैष्मिक एवं सान्निपातिक ज्वर, शोफ, मेदोवृद्धि ।	अग्नि तीव्र होनेके कारण मधुर स्निग्ध एवं गुरुपाकी द्रव्यों का प्रयोग । श्लेष्मा का संचय न होने देने के लिए व्यायाम, आयासकर दूसरे कार्य तथा धूप एवं अग्नि का सेवन ।
शिशिर (माघ-फाल्गुन)	श्रेष्ठबल	तीव्र	तिक्त रस	श्लेष्मा का संचय ।	हेमन्त के समान ।	हेमन्त के समान ।

नोट—ग्रीष्म के पूर्व प्रावृट् ऋतु की मान्यता दोषों के सचय प्रकोप की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। उसका क्रम वर्षा के समान जानना चाहिए। ऐसी अवस्था में हेमन्त तथा शिशिर के स्थान पर केवल एक ऋतु मानी जाती है।

५. जातिप्रसक्ता प्रकृति

पुरुष जिस जाति में उत्पन्न हुआ है उस जाति के संस्कार से जो विशिष्ट प्रकृति वनती है उसे जातिप्रसक्ता प्रकृति कहते हैं। कर्मव्यवस्था के अनुसार विशिष्ट जातियाँ विशिष्ट व्यवसाय (मानसिक या शारीरिक) करती हैं। उसके अनुसार उनमें विशिष्ट रोग उत्पन्न होते हैं। श्रोत्रिय, राजसेवक, वेश्या तथा वैश्य सदा रोगी रहते हैं।[1]

६. कुल-प्रसक्ता प्रकृति

विशिष्ट कुल में उत्पन्न होने से जो गुणदोष पुरुष में आते हैं उनका विचार कुलप्रसक्ता प्रकृति में किया जाता है। माता के रज और पिता के शुक्र[2] के दूषित होनेसे अनेक रोग यथा कुष्ठ, प्रमेह, अर्श, अपस्मार, यक्ष्मा, आमवात, सन्धिवात, श्वास, हृद्रोग, कुलज रक्तस्राव, कैन्सर आदि पिता-माता के रोग पुत्र में संक्रान्त होते हैं। ऐसे विकारों को 'आदिवलप्रवृत्त', 'कुलज' या 'क्षेत्रिय' कहा गया है।[3] अतः—

रोगी के परिवार के निकटतम व्यक्तियों (माता, पिता, स्त्री, भाई, बहन) की आयु और उनकी स्वास्थ्य-दशा की जानकारी करनी चाहिए। इन व्यक्तियों में से यदि किसी का देहान्त हुआ हो तो मृत्युकाल में उसकी आयु तथा मृत्यु का कारण पूछना चाहिए। यह भी देखना चाहिए कि इनमें से कोई व्यक्ति उपर्युक्त रोगों से पीड़ित हुआ या नहीं? इसके अतिरिक्त वर्तमान रोग का इतिहास भी परिवार में देखना चाहिए।

इसके ज्ञान का प्रयोजन यह है कि कौलिक वृत्त के आधार पर रोग-निर्णय करने में सुविधा होती है। दूसरी वात यह है कि कुलज रोग प्रायः दुश्चिकित्स्य होते हैं।[4]

---

१. 'सदातुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्याः सह पण्यजीविभिः।' (च. चि. १२)
२. 'शुक्र हि दुष्टं सापत्यं सदारं वाधते नरम्।'
३. 'तत्रादिवलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः।' (सु. सू. २४)
४ 'जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि वीजदोषात्।
चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान्॥' (च. चि. ६)

मुख्य व्यथा और उसका कालप्रकर्ष

रोग के सम्बन्ध में रोगी से प्रथम प्रश्न होना चाहिये कि उसे क्या कष्ट है ? किस कष्ट के कारण वह चिकित्सा के लिए आया है ? क्योंकि इस मुख्य लक्षण से रोग के अन्य सामान्य और विशिष्ट लिंगों का पता चलता है। रोगी अपनी व्यथा का जो विवरण दे उसे उसी के शब्दों में लिखना चाहिये। बुद्धिमान् रोगी अपने लक्षणों का ऐसा वर्णन करते हैं जिससे किस संस्थान में विकार है यह आसानी से पता चल जाता है, किन्तु मन्दबुद्धि रोगी ऐसा नहीं करते, अत उन्हें सहायता देकर सामान्य प्रश्नों के द्वारा उनकी वेदना का स्वरूप जानना चाहिये।

प्रधान कष्ट से रोग के विशिष्ट लिंग और उससे मूलविकार का सकेत मिलता है। यथा-यदि किसी को वक्ष के ऊपरी भाग में तीव्र पीड़ा हो जो वाम बाहु की ओर फैलता हो तथा परिश्रम के बाद प्रारंभ होता है तो उससे हृद्गत विकार का पता चलता है। इसी प्रकार उदर में शूल होने से उदरसबन्धी विकारों का संकेत मिलता है।

इसके अतिरिक्त यह भी जानना चाहिए कि मुख्य व्यथा कितने दिनों से है। उसका कालप्रकर्ष (अवधि) स्पष्ट लिखना चाहिए।

आतंक समुत्पत्ति-क्रम

निदान का सेवन करने के पश्चात् किस क्रम से विकार का प्रादुर्भाव हुआ और वर्त्तमान काल तक कौन-कौन लक्षण किस क्रम से उत्पन्न हुये इसका ज्ञान निदान-चिकित्सा के लिए परमावश्यक है। इस प्रकरण में रोग के निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय इनका परिज्ञान प्रश्न के द्वारा किया जाता है। इसको निम्नांकित रूप में क्रमबद्ध करने से परीक्षा में सुविधा होगी—

१. **निदान**—किन कारणों से रोग का प्रादुर्भाव हुआ ? उस समय रोगी की स्थिति, उसका आहार-विहार क्या था ?

२ **पूर्वरूप**—निदान सेवन के बाद सर्वप्रथम कौन से लक्षण किस रूप में उत्पन्न हुये ? रोग सहसा प्रादुर्भूत हुआ या क्रमश. ?

३. **रूप**—इसमें निम्नांकित प्रश्न करने चाहिए:—

(क) **व्याधिजन्म**—रोग के प्रत्येक लक्षण का प्रारंभकाल क्या है ? इसे पृथक्-पृथक् देखना चाहिए—यथा श्वासकष्ट–६ मास, हृद्द्रव–३ मास आदि।

(ख) **स्वरूप**—लक्षणों का स्वरूप तीव्र है या मन्द ?

(ग) **गति**—लक्षणों की क्रमशः वृद्धि हो रही है या ह्रास ? यदि कुछ लक्षण घट रहे हों और कुछ बढ़ रहे हों या नये उत्पन्न हो रहे हों तो उनका निर्देश स्पष्टतः करना चाहिए।

(घ) **स्थिरता**—लक्षण स्थिर हैं या अनवस्थित ? रोग विसर्गी है या अविसर्गी ? यदि रोग के आक्रमण आते हों तो उनके बीच का विसर्गकाल कितना है ? साथ ही उसका वेग, प्रारंभ, अवधि, गति और उपद्रव भी ज्ञात करने चाहिए।

४. **उपशय-अनुपशय**—व्यथा की शान्ति किस उपाय से होती है ? और क्रमिक शान्ति होती है या सहसा ? इससे दोषनिर्णय में तथा गंभीर व्याधियों के विनिश्चय में सहायता मिलती है।

विशिष्ट प्रश्न (Special interrogation)

उपर्युक्त प्रश्नों के अतिरिक्त विशिष्ट रोगों में उनके अधिष्ठान तथा स्वरूप के आधार पर विशिष्ट प्रश्न पूछे जाते हैं। विशिष्ट प्रश्नों का निर्णय अनुभव के द्वारा ही होता है। अतः नवीन चिकित्सकों को इसमें कठिनाई होती है। ऐसे वैद्यों की सहायता के लिए यहाँ कुछ संकेत दिये जाते हैं।

लक्षण	विशिष्ट प्रश्न
१. शूल—	१. कब से है ?
	२. सान्तर है या निरन्तर ? यदि सान्तर है तो अन्तर कितना ?
	३. भोजन के साथ क्या संबन्ध है ?
	४. रात में शूल के कारण रोगी जग भी जाता है ? यदि हाँ तो कब ?
	५. शूल का शमन कैसे होता है–आहार से, क्षार से या वमन से ?
	६. शूल का नियत स्थान क्या है ? स्थिर है या प्रसरणशील ?
	७. शूल का प्रभाव उदर के अतिरिक्त अन्य अंगों पर भी होता है ?

८. शूल से वमन भी होता है ?
९. तीव्र है या मन्द ?
१०. उसकी वृद्धि कैसे होती है ?
११. अन्य आनुषंगिक लक्षण क्या हैं ?

२ आध्मान— १. भोजन के साथ संवन्ध, भोजन के वाद या खाली पेट में ?
२. विशिष्ट आहार से सम्वन्ध ?
३. वायु की गति—अवरुद्ध, ऊर्ध्व या अधः ?
४. अपानवायु की गन्ध।

३. छर्दि— १. संख्या।
२. वेग।
३. काल।
४. भोजन से सम्वन्ध
५. इसके पूर्व हृल्लास या शूल? इससे शूल की निवृत्ति होती है या नहीं ?
६. छर्दित पदार्थ की मात्रा और स्वरूप (वर्ण, गन्ध आदि)

४. लालाप्रसेक— १. लालास्राव का आधिक्य।
२. मुह में पानी भर जाना।

५. हृद्दाह— १. वक्षोऽस्थि के अधःप्रान्त के पीछे जलन भी मालूम होती है ?

इनके अतिरिक्त आहार, अग्नि, क्षुधा तथा पुरीषोत्सर्ग के संवन्ध में पूछना चाहिये।

६. अतीसार— १. नवीन या जीर्ण।
२. मलों की संख्या और काल।
३. मलों का स्वरूप (वर्ण, बँधा या पतला)
४. भोजन तथा विशिष्ट आहारद्रव्यों से उनका सम्बन्ध।
५. पुरीष में रक्त या श्लेष्मा तो नहीं आता ?
६. पुरीषोत्सर्गकाल में कुन्थन या प्रवाहण की उपस्थिति ?
७. आध्मान तो नही रहता ?

८. पुरीपोत्सर्ग के समय उदर में या गुदप्रदेश में शूल तो नहीं होता ?
९. ज्वर या मांसक्षय की उपस्थिति ।
१०. सेवित आहारद्रव्य ।
११. अन्य व्यक्तियों में संक्रमण ।
१२. रोगी विरेचन का प्रयोग भी करता है ?

७. विबन्ध—
१. नवीन या जीर्ण ।
२. सामान्य आहार-विहार ।
३. आंशिक या पूर्ण ।
४. यदि आंशिक तो वर्धमान या क्षयोन्मुख ।
५. कभी अतीसार भी होता है ?
६. अन्य आनुषंगिक लक्षण (शूल, वमन आदि)

रक्तवह-संस्थान

इस संस्थान के रोगों के संबन्ध में निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए :—

(१) **पारिवारिक वृत्त**—आमवात, हृच्छूल, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, हृद्रोग का पारिवारिक वृत्त लेना चाहिए ।

(२) **वैयक्तिक वृत्त**—रोगी को कभी आमवात, कम्प या रोहिणी हुआ है ?

८. श्वास—
१. उत्तान स्थिति में सो सकता है या बिछावन पर उठकर बैठ रहता है ?
२. कब इसका आक्रमण होता है ? (सोते समय या मानसिक उत्तेजना आदि के समय)
३. यह बराबर बना रहता है या परिश्रम के बाद ही होता है ?
४. कितना व्यायाम करने से होता है ?
५. रात में भी इसके आक्रमण होते हैं ?
६. सहसा होता है या क्रमिक रूप से ?

७. अन्य हृदय या श्वसनसंबन्धी लक्षण ।
८ श्वास का स्वरूप ।
९. कष्ट का परिमाण ।
१०. अन्य लक्षण (कास, स्वेद, हृद्द्रव आदि)

९. हृच्छूल— १. अधिष्ठान ।
२. स्वरूप ।
३. प्रसरणशील या स्थानिक, यदि प्रसरणशील तो प्रसार की दिशा ।
४. उपशय और अनुपशय ।

१०. हृद्द्रव— १. स्थायी या कभी-कभी ? यदि कभी-कभी तो प्रारंभ और शान्ति का प्रकार ।
२. रोगी का व्यसन ।
३. भावावेश, परिश्रम तथा भोजन के साथ संबन्ध ।

११. भ्रम— १. निरन्तर या सान्तर ? ५
२. क्या रोगी किसी विशिष्ट दिशा में गिर पड़ता है ?
३ स्थिति-परिवर्त्तन का प्रभाव ।
४. अन्य लक्षण-वमन, बाधिर्य, कर्णनाद आदि ।

इनके अतिरिक्त, सामान्य सिरागत रक्तसचय के लक्षणों की जॉच भी करनी चाहिए यथा पादशोथ, काम, पाचनदशा आदि ।

रक्त के विकार

इसमे रक्तस्राव का पारिवारिक वृत्त लेना चाहिये । इसके अतिरिक्त रक्तक्षय, अर्श, पाचन की स्थिति, आहार, व्यसन, व्यवसाय इनके संबन्ध में पूछना चाहिये। रोगी को कभी शीशविष या मलेरिया तो नही हुआ ? व्यायाम के बाद श्वासकष्ट, शिर शूल, भ्रम तथा पादशोथ के विषय में भी पता लगाना चाहिये ।

श्वसनसंस्थान

श्वसनसस्थान के रोगों मे कास, श्वास, तथा क्षय का पारिवारिक वृत्त अवश्य लेना चाहिये । रोगी की पाचनदशा, व्यवसाय, रात्रिस्वेद तथा वर्धमान क्षय का भी पता लगाना चाहिये ।

१२. कास— १. स्वरूप तथा तीव्रता।
२. अवधि।
३. आक्रमण का काल।
४. शुष्क या आर्द्र।
५. श्लेष्मा का परिमाण और स्वरूप।
६. रक्त की उपस्थिति और उसका स्वरूप—चमकीला, फेनिल या कृष्णवर्ण।
७. शूल-वक्ष आदि में।

१३. पार्श्वशूल— १. श्वास लेने से बढ़ता है ?
२. बराबर बना रहता है या कभी कभी ?
३. इसकी स्थिति।

मूत्रवह-संस्थान

इस में स्कार्लेट फीवर, कण्ठशालूक या वृक्कविकार का इतिहास लेना चाहिए। रोगी को कभी कटिप्रदेश में पीड़ा भी होती है या ऐसा तीव्रशूल कभी होता है जो वंक्षण प्रदेश की ओर बढ़ता हो। शिरःशूल, छर्दि, तन्द्रा, पक्षाघात, मूर्च्छा, दृष्टिशक्ति का ह्रास, श्वासकृच्छ्र इन लक्षणों के विषय में भी पूछना चाहिये। वृक्कविकारों में जब रोगी प्रातःकाल बिछावन से उठता है तब उसका मुख सूजा हुआ मालूम होता है। अतः इसका भी पता लगाना चाहिए। पाचन की स्थिति के संबन्ध में भी पूछना चाहिए।

१४. बहुमूत्र— १. मूत्र की मात्रा क्या है ?
२. रात में भी मूत्रत्याग के लिए उठना पड़ता है ? कितनी वार ?
३. रक्त भी आता है कभी ? यदि हाँ तो मूत्रोत्सर्ग की किस अवस्था में ? पहले, बीच में या पीछे ?
४. क्या अधिक वार पेशाव के लिए जाना पड़ता है ?
५. दिन में वृद्धि होती है या रात में ?

१५. मूत्रकृच्छ्र— १. मूत्रोत्सर्ग के समय भी पीड़ा होती है ? यदि हाँ, तो पहले, बीच में या बाद में ?

२. पीड़ा कैसी और कहाँ प्रतीत होती है ?

३. चलने से पीड़ा बढ़ती है ?

चर्म-रोग

त्वचा के विकारों में रोगी के वैयक्तिक वृत्त विशेषतः आहार, वस्त्र और स्नान, सफाई आदि के विषय में पूछना चाहिए। उसका व्यवसाय क्या है ? रासायनिक या अन्य क्षोभक पदार्थ उसे छूने पड़ते हैं ? उसका व्यसन क्या है ? फिरंग रोग तो नहीं हुआ ? त्वचा के विस्फोटों में कण्डू भी है ? यदि हाँ, तो कण्डू कब अधिक होती है ? विस्फोट समस्त शरीर में एककालिक निकले या क्रम से ?

नाड़ी-संस्थान

इसमें मानस रोग, पक्षाघात या मूर्च्छा का पारिवारिक वृत्त लेना चाहिए। रोगी के वैयक्तिक वृत्त विशेष कर उसके व्यवसाय के संबन्ध में पूछना चाहिए। वह नाग, पारद, मैंगनिज, कार्बन बाइसलफाइड या अन्य उड़नशील पदार्थों के सपर्क में तो नहीं रहता ? उसे कभी फिरंग रोग भी हुआ ? वह मद्य का सेवन करता है ? कर्णस्राव तो नहीं होता ? (मस्तिष्क के विकारों में इसका विशेष महत्व है)।

१६. मूर्च्छा— १ संज्ञा बिलकुल नष्ट हो जाती है ? यदि हाँ तो कब ?

२. आक्षेप भी आते हैं ?

३. रोगी का वर्ण

४. सहवर्त्ती लक्षण यथा हृल्लास, कम्प, स्वेद आदि।

५ प्रारंभ की स्थिति—(उत्तेजक कारण)—भावावेश, शूल, या अधिक देर तक खड़ा रहना।

१७. आक्षेप— १. अवधि तथा संख्या

२. सर्वाङ्गीण या स्थानिक।

३. संज्ञानाश।

४. आक्रमण के समय क्षत, जीभ काटना या मूत्रोत्सर्ग, या पुरीषोत्सर्ग।

५. अन्य वातिक लक्षण या गिर पड़ना।

६. प्रथम आक्षेप के समय आयु।

७. आक्रमण का संभावित कारण।

८. आक्रमणों के बीच की अवधि—न्यूनतम और अधिकतम।

९. निद्रा में भी आक्षेप आते हैं?

१०. पूर्वग्रह भी होते हैं?

११. संज्ञानाश के कितना पहले आक्षेप आते हैं?

१२. प्रारम्भ—सहसा या क्रमिक?

१३. आक्षेप का स्वरूप।

१४. आक्षेप के उत्तरवर्ती लक्षण यथा निद्रा, शिरःशूल, पक्षाघात या अन्य मानसिक विकार।

१८. पक्षाघात— १. हृद्रोग या जीर्ण वृक्कविकार के लक्षणों की उपस्थिति।

२. पूर्वरूप।

३. शिरःशूल या वमन?

४. शिरःशूल का अधिष्ठान।

५. चलने में कष्ट या चक्कर आना?

चालक-संस्थान

अस्थियों और संधियों के विकारों में क्षयरोग, आमवात, सन्धिवात, फिरंग का पारिवारिक वृत्त तथा क्षयरोग सन्धिवात या आमवात, फिरंग या पूयमेह तथा किसी आघात का पूर्ववृत्त लेना चाहिए।

यदि पीड़ा अस्थि में है तो यह दिन में अधिक रहती है या रात में? यदि

पीड़ा सन्धि में है तो यह बराबर रहती है या गति करने पर ही ? ऋतु का भी प्रभाव पड़ता है ? पीड़ा स्थिर रहती है या भ्रमणशील ?

ताप-संबन्धी विकार

१६. ज्वर—१. प्रारंभ शीत से हुआ या उष्णता से ?
२. सन्ताप कितना है ? स्थिर रहता है या अनवस्थित ?
३. अविसर्गी है, विसर्गी है या मुक्तानुबन्धी है ?
४. अन्य लक्षण क्या हैं ?
५. मल की प्रवृत्ति कैसी है ?
६. रात्रि के अन्त में पसीना तो नहीं आता ?[1]

—००:०:००—

१. 'गोसर्गे वदनाद् यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् ।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥' (च इ ८)

द्वितीय अध्याय

पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा

(Physical Examination)

दर्शन, स्पर्शन आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से जो परीक्षा की जाती है उसे 'पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा' कहते हैं। इसके दो मुख्य विभाग हैं—अष्टस्थान-परीक्षा तथा अंग-प्रत्यंगपरीक्षा। अष्टस्थान-परीक्षा से रोगी की सामान्य दशा (general condition) का ज्ञान होता है तथा अंगप्रत्यंग-परीक्षा से विकार के अधिष्ठान का ज्ञान होता है।

(क) अष्टस्थान-परीक्षा (General condition)

प्राचीन संहिताओं में अष्टस्थान-परीक्षा का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम वाग्भट ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है :—

'रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती ॥' (वा.)

अर्थात्—'रोगी के आठ स्थानों (अवयवों) की परीक्षा करनी चाहिए। ये अवयव हैं—नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, नेत्र और आकृति। इनमें मल और मूत्र की परीक्षा अन्य अंगों की परीक्षा से भिन्न है अतः पृथक् होते-होते आजकल उसका एक स्वतन्त्र अंग बन गया है। मेरे विचार से, उनका विवरण आगे मलों के प्रकरण में होना चाहिए। यदि इस प्रकार परिवर्तन करके 'मल' और 'मूत्र' के स्थान पर 'गन्ध' और 'रस' शब्द रख दिये जायँ तो अष्टस्थान की संगति उत्तम रीति से हो जाती है यथा—

'रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडीं गन्धं रसं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती ॥'

इस पाठान्तर से पञ्चेन्द्रिय के विषयों का पूर्ण समावेश हो जाता है और पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा इस प्रकार पूर्णरूप से सार्थक होती है।

अष्टस्थान-परीक्षा के परीक्ष्य भाव निम्नांकित हैं:—

इन्द्रिय	परीक्ष्य भाव
१. दर्शन—	१. आकृति—मुखाकृति, वर्ण, सार, संहनन, प्रमाण, देह, स्थिति, शोथ, श्वासगति।
	२. जिह्वा—वर्ण, स्पर्श।
	३. नेत्र—वर्ण, शोथ आदि।
२. स्पर्शन—	४. नाडी—दोषगति, क्रम, नियम, शक्ति, पूर्णता, रक्तभार।
	५. स्पर्श—शीतोष्ण, स्निग्धरूक्ष आदि, तापक्रम।
३ श्रवण—	६. शब्द—स्वर तथा शरीरावयवों की व्यक्त ध्वनि।
४ घ्राण—	७. गन्ध—शरीर की प्राकृत या वैकृत गन्ध।
५. रसना—	८. रस—शरीर तथा शरीरज स्रावों का प्राकृत या वैकृत रस।

इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियों से आठ परीक्ष्य भावों की परीक्षा की जाती है।

१. आकृति

रोगी को ऊपर से नीचे तक देखने से आकृति की परीक्षा होती है। 'आकृति' शब्द बड़ा व्यापक है और सामान्यतः दर्शनेन्द्रिय से ज्ञातव्य सभी स्थूल भावों का इसमें समावेश होता है। इससे मुख्यतः निम्नांकित भावों का अवलोकन किया जाता है:—

(क) **मुखाकृति** (Physiognomy or Expression)—विशिष्ट रोगों में रोगी के मुखमंडल पर एक विशिष्ट प्रभाव पड़ता है जिसके कारण उसकी आकृति और मुद्रा में परिवर्त्तन मिलता है। सामान्यतः स्वस्थ व्यक्ति में मुखमंडल उपचित और प्रसन्न होता है किन्तु रोगी पुरुषों में मुखमंडल कृश, और विषादयुक्त हो जाता है। तरुण और गंभीर व्याधियों यथा तीव्रज्वर, सन्निपात आदि में मुखाकृति रक्तवर्ण, त्वचा तप्त और शुष्क, नासा प्रसारित तथा श्वासगति तीव्र होती है। मुखमण्डल पर स्पष्टतः व्यथा के भाव अङ्कित होते हैं। इसे 'व्यथित मुखाकृति' (Anxious Expression) कहते हैं।[1] रसक्षयजन्य

---

१. 'नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः।
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः॥
साश्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः।
श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः॥' (सु. उ ३९)

रोगों की अन्तिम अवस्था में मुखाकृति एक विशिष्ट प्रकार की हो जाती है। इसे 'अवसन्न मुखाकृति' (Facies Hippocratica) कहते हैं। इसमें शंखदेश गंभीर, नेत्र अन्तःप्रविष्ट, पलक कुछ अलग-अलग, आँखें कुछ पथरीली तथा अधोहनु नीचे की ओर झुका होता है। यह विसूचिका, अतिसार आदि रोगों में देखी जाती है।[१] धनुस्तम्भ आदि आक्षेपयुक्त रोगों में शरीर कठिन एवं आक्षेपयुक्त होता है तथा मुखकोण कुछ ऊपर की ओर खिंचे हुए होते हैं। दूर से ऐसा प्रतीत होता है कि रोगी हँस रहा हो या जँभाई ले रहा हो। इसे हसित या जृम्भित मुखाकृति (Risus Sardonicus) कहते हैं।[२]

संक्षेप में, मुखाकृति दो प्रकार की होती है—सुषम और विषम।[३] सुषम मुखाकृति स्वस्थ व्यक्तियों में तथा विषम मुखाकृति रोगों में होती है। मुखाकृति में यह भी देखना चाहिए कि मुखमण्डल पर व्यङ्ग, तिल, पिड़का आदि तो उत्पन्न नहीं हुये हैं।[४]

(ख) **वर्ण** (Complexion)—कृष्ण, श्याम, श्यामावदात और अवदात (गौर) ये चार शरीर के प्राकृतिक वर्ण होते हैं। इनके अतिरिक्त, नील, श्याम, हरित, हारिद्र, ताम्र, शुक्ल आदि वर्ण वैकारिक होते हे।[५] ये वर्ण-विकार निम्नाङ्कित रोगों में देखे जा सकते हैं यथा—

नील—श्वासावरोध

श्याम—क्षय, (ज्वर, अतिसार आदि से उत्पन्न दौर्बल्य)

हरित—हलीमक

---

१. 'यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥' (मा)

२. 'चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः।
उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवावमृद्यते ॥
दन्तानां दशनं जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रहः।' (च. चि २८)

३. 'सस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च या।' (च इ ७)

४ 'पिप्लुव्यङ्गतिलकालकपिडकानामन्यतमस्यानने जन्मातुरस्यैवमेवाप्रशस्तं विद्यात्।' (च. इ. १)

५ 'कृष्ण' श्याम' श्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य'—नीलश्यावताम्रहरितहारिद्रशुक्लाश्च वर्णाः शरीरस्य वैकारिकाः।' (च इ. १)

हारिद्र—कामला

ताम्र—शंखविष

शुक्ल—वृक्क रोग

पीत—यक्ष्मा, फिरंग

पाण्डुर—पाण्डु

ये वर्ण विशेषतः मुख, नख, नेत्र, हाथ, पैर, ओष्ठ आदि में अभिव्यक्त होते हैं अतः इनकी परीक्षा उन्ही स्थानों में करनी चाहिए।[1]

(ग) छाया—वर्ण में जो कान्ति (चमक) होती है उसे 'छाया' कहते हैं।[2] यह निकट से देखने पर प्रतीत होती है तथा इससे शरीर की रूक्षता, स्निग्धता आदि का भी ज्ञान होता है। अभिव्यक्त और तीव्र छाया को 'प्रभा' कहते हैं। यह दूर ही से देखी जा सकती है।[3] जल, आइने आदि में जो छाया पड़ती है उसे 'प्रतिच्छाया' (प्रतिविम्ब) कहते हैं।

अवभासिनी नामक त्वचा में सब वर्णों और छायाओं की स्थिति मानी गई है। त्वचा में स्थित भ्राजक पित्त छाया और प्रभा का कारण होता है।[4]

छाया पाञ्चभौतिक दृष्टि से पाँच प्रकार की होती है—

१. नाभसी—यह निर्मल, नीलवर्ण, स्निग्ध और प्रभासहित होती है।

२. वायवी—यह रूक्ष, श्याव-अरुण तथा हतप्रभ होती है।

३. आग्नेयी—रक्तवर्ण, प्रियदर्शन तथा प्रभायुक्त छाया आग्नेयी होती है।

४. आभासी—वैदूर्य मणि के समान श्वेत और स्निग्ध छाया जलीय होती है।

५. पार्थिवी—श्वेत, श्याम, स्थिर, स्निग्ध, घन और श्लक्ष्ण छाया पार्थिव

---

१. 'नखनयनवदनमूत्रपुरीषहस्तपादौष्ठादिष्वपि च वैकारिकोक्तानां वर्णानामन्यतमस्य प्रादुर्भावः।' (च. इ १)

२. 'छाया वर्णप्रभाश्रया।' (च. इ ७)

३. 'वर्णमाक्रामतिच्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिनी।
आसन्ना लक्ष्यते छाया विकृष्टा भाः प्रकाशते॥' (च. इ. ७)

४. 'तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम या सर्ववर्णानवभासयति, पंचविधां च छायां प्रकाशयति।' (सु शा ४)
'यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति सञ्ज्ञा, सोऽभ्यंगपरिषेकावगाहलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता, छायानाञ्च प्रकाशकः।' (सु सू. २१)

होती है। इनमें वायवी विकारसूचक और शेष आरोग्यसूचक होती हैं।[1]

प्रभा तैजस होती है और सात प्रकार की मानी गई है—रक्त, पीत, श्याव, श्वेत, हरित, पाण्डुर और कृष्ण। इनमें स्निग्ध और शुद्ध प्रभा शुभ तथा अशुद्ध, रूक्ष और मिश्रित प्रभा अशुभ होती है।[2]

(घ) सार—जिस प्रकार पुरुष में किसी एक या अनेक दोषों के आधिक्य से प्रकृति का निर्माण होता है उसी प्रकार उसमें किसी एक या अनेक धातुओं की प्रधानता देखी जाती है। इसे 'सार' कहते हैं।

शरीर की कृशता या स्थूलता से पुरुष के बल का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। कभी कभी स्थूल व्यक्ति भी दुर्बल और कृश व्यक्ति भी बलवान् दृष्टिगोचर होते हैं और केवल स्थौल्यकार्श्य से भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अतः सार की परीक्षा रोगी के आन्तरिक बल के परिज्ञान के लिए आवश्यक है।[3]

सार आठ प्रकार का बताया गया है[4]—

१. रससार—रस धातु की प्रधानता जिस पुरुष में होती है उसे 'रससार

---

१ 'खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः।
नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च॥
रूक्षा श्यावाऽरुणा या तु वायवी सा हतप्रभा।
विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया॥
शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता।
स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी॥
वायवी गर्हिता त्वासां चतस्रः स्युः शुभोदयाः।
वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा॥' (च. इ. ७)

२. 'स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता॥
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विमलाश्च याः।
ताः शुभा रूक्षमलिनाः संक्लिष्टाश्चाशुभोदयाः॥ (च. इ. ७)

३. 'कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ्मुह्येदयमुपचितत्वाद् बलवान्, अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति; दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्त, तत्र पिपीलिकाभारहरणवत् सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेतेत्युक्तम्।' (च. वि. ८)

४ 'साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते, तद्यथा त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रसत्त्वानीति।' (च वि ८)

या त्वक्सार' कहते हैं। इसकी त्वचा और रोम स्निग्ध तथा मृदु होते हैं।

२. **रक्तसार**—रक्तसार पुरुष के नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, करतल और पादतल स्निग्ध और ताम्रवर्ण होते हैं।

३. **मांससार**—जिसके शरीर में मास पूर्ण उपचित हो तथा मास के आधिक्य से अस्थि और संधियाँ बिलकुल ढँकी हों उसे 'मांससार' कहते हैं।

४. **मेदःसार**—जिसके मूत्र और स्वेद स्निग्ध हों, जिसका शरीर विशाल हो तथा जो आयास (व्यायाम) आदि लंघन कर्म सह सके उसे मेद.सार कहते हैं।

५. **अस्थिसार**—जिसके शिर और स्कन्ध देश बडे तथा दन्त, हन्वस्थि और नख कठिन और दृढ हों वह अस्थिसार कहलाता है।

६. **मज्जसार**—कृशतारहित, उत्तम बलशाली, स्निग्ध-गंभीर-स्वरयुक्त तथा विशाल नेत्रवाला पुरुष मज्जसार होता है।

७. **शुक्रसार**—जिसकी त्वचा स्निग्ध हो, अस्थि, दन्त और नख दृढ और श्वेत हो तथा जिसमें कामशक्ति की अधिकता और सन्तान अधिक हों वह शुक्रसार कहलाता है।[1]

८ **सत्त्वसार**—स्मृति, भक्ति, ज्ञान, शौर्य, परोपकार आदि गुणों से युक्त पुरुष सत्त्वसार होता है।

इनमें क्रमश. आयु और सौभाग्य की अधिकता होती है।

कुछ व्यक्ति सभी सारों से युक्त होते हैं। वे अति बलवान, परमसुखी, क्लेश-सहिष्णु, दीर्घायु, प्रजावान् तथा नीरोग होते हैं, उनकी संतान भी चिरजीवी होती हैं। इसके विपरीत, कुछ पुरुष सब सारों से रहित होते हैं, वे दुर्बल, दु खी, असहिष्णु, अल्पायु, अल्पप्रज तथा चिररोगी होते हैं।[2] उनकी सतान भी अल्पायु और रोगी होती हैं।

---

१ 'स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौर्यशौचोपेत कल्याणाभिनिवेश सत्त्वसार विद्यात्, स्निग्धं सहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रज शुक्रेण। अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगंभीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्र च मज्ज्ञा। महाशिरःस्कन्धदृढदन्तहन्वस्थिनखम-स्थिभिः। स्निग्धमूत्रस्वेदस्वर बृहच्छरीरमायाससहिष्णुं मेदसा। अच्छिद्रगात्र गूढास्थिसन्धि मांसोपचित च मांसेन। स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणि-पादतलं रक्तेन। सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादित्येषां पूर्वं पूर्वं प्रधान-मायु. सौभाग्ययोरिति।' (सु. सू ३५)

२. 'सर्वैः सारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यतिबला' परमसुखयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भे

(च) संहनन—संहनन शरीर के अवयवों के समुचित नियोजन या संघटन (Constitution) को कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है। जिन व्यक्तियों का शरीर सुसंघटित होता है वे प्रवरसंहनन, जिनका शरीर असंघटित होता है वे अवरसंहनन तथा जिनका संघटन मध्यम होता है वे मध्यसंहनन कहलाते हैं।

संहनन से पुरुष के बल का ज्ञान होता है। प्रवरसंघटन पुरुष बलवान तथा अवरसंहनन व्यक्ति दुर्बल होते हैं।[१]

(छ) प्रमाण (Measurement & Weight)—प्रमाण शब्द से दैर्घ्यमान (Measurement) और गुरुत्वमान (Weight) दोनों अभिप्रेत हैं। दैर्घ्यमान के प्रसंग में शारीर के प्रकरण में समस्त मानव-शरीर तथा उसके अंग-प्रत्यंगों का प्राकृत प्रमाण (Measurement) दिया गया है। पुरुष के पूरे शरीर का नाप चरक ने ८४ अंगुलिपर्व तथा सुश्रुत ने १२० अंगुल दिया है। इसी प्रकार वक्ष, कटि, हृदय आदि अंग-प्रत्यंगों का भी नाप बतलाया है जिसे चरक विमानस्थान अध्याय ८ और सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ३५ में देखना चाहिये।

गुरुत्वमान के लिए शरीर का भार भारमापक यन्त्र (Weighing machine) द्वारा लेना चाहिए। व्यक्ति की वय और ऊँचाई के अनुसार शरीर भार का विचार करना होता है। सामान्यतः $\text{शरीरभार} = \frac{\text{ऊँचाई} \times \text{वक्ष की परिधि}}{१७}$ (इंचों में), इस सूत्र (Vicrordt formula) से भार पौंड में निकलता है।

राजयक्ष्मा, प्रमेह और कैन्सर में भार विशेष रूप से घट जाता है। पोषणक ग्रंथि एवं अवटुग्रंथि की स्वाल्पता में तथा स्त्रियों में रजोनिवृत्तिकाल में भार प्रायः बढ़ जाता है।

त्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनादा स्निग्धगंभीरमहास्वराः सुखैश्वर्यवित्तोपभोगसंमानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च। अतो विपरीतास्त्वसाराः।' (च. वि. ८)

१. 'संहननं, संघात', संयोजनमित्येकोऽर्थः। तत्र समसुविभक्तास्थि सुबद्धसन्धि सुनिविष्टमांसशोणितं सुसंहतं शरीरमित्युच्यते। तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषा बलवन्तः, विपर्ययेणाल्पबलाः, प्रवरावरमध्यत्वात् संहननस्य मध्यबला भवन्ति।' (च. वि ८.)

प्रमाण-परीक्षा

अग-प्रत्यंग	ल. या अन्त.	चौड़ाई	परि. या घेरा
पुरुष की लम्बाई या ऊँचाई	१२० अ०	—	—
पादागुष्ठ तथा प्रदेशिनी अंगुली	२ अ०	—	—
मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका	६/५, ६/५, ४/५ क्रमसे	—	—
प्रपाद (अङ्गुलियों के नीचे का पॉव का अग्रभाग)	४ अं०	५ अगुल	—
पादतल	४ अ०	५ अ०	—
पार्ष्णि (एड़ी)	५ अ०	४ अ०	—
पार्ष्णि से अङ्गुष्ठपर्यन्त पैर	१४ अ०	—	—
पादमध्य, गुल्फमध्य, जंघामध्य, तथा जानुमध्य	—	—	१४ अंगुल
जघा	१८ अ०	—	—
कटिसंधि से जानुसधि तक अन्तर	३२ अ०	—	—
कटिसधि से जघापर्यन्त	५० अ०	—	—
वृषण, हनु, दत, वाह्यनासापुट, कर्णमूल तथा दोनों नेत्रों के वीच का अन्तर	२ अ०	—	—
उच्छ्रायरहित शिश्न, खुला हुआ मुख, नासावश, कर्ण, ललाट, ग्रीवा तथा दोनों दृष्टिमडलों के वीच का अंतर	४ अं०	—	—
योनि का विस्तार, शिश्न और नाभि का अतर, नाभि और हृदय का अतर हृदय और ग्रीवामूल का अन्तर, दोनों स्तनों का वीच, चिवुक से ललाटपर्यन्त लम्बाई	१२ अं०	—	—

अंग-प्रत्यंग	ल. या अन्त.	चौडाई	परि. या घेरा
मणिवंध तथा प्रकोष्ठ	—	—	१२ अं०
उरु	—	—	३२ अं०
जंघा	—	—	१६ अं०
स्कंध से कूर्परसंधि तथा कूर्पर से मणिवंध का अन्तर	१६ अं०	—	—
कूर्पर से मध्यमांगुलिपर्यन्त	२४ अं०	—	—
कक्षा से मध्यमांगुलि तक भुजा	३२ अं०	—	—
हस्ततल	६ अं०	४ अं०	—
अङ्गुष्ठमूल से तर्जनी का अन्तर, मध्यमांगुलि की लंबाई, नेत्र के बाह्य कोण से कान तक का अन्तर	५ अं०	—	—
प्रदेशिनी तथा अनामिका	४ अं०	—	—
अङ्गुष्ठ तथा कनिष्ठिका	३ अं०	—	—
ग्रीवापरिधि	—	—	२० अं०
नासापुट का विस्तार	१⅔ अं०	—	—
कृष्णमण्डल	नेत्रका ⅓ भाग	—	—
दृष्टिमण्डल	कृष्णमण्डल का ⅐ भाग	—	—
केशान्त (शंखप्रदेश मे केशों की अंतिम सीमा) से मध्यसिर	११ अं०	—	—
ग्रीवा के पश्चिम केशान्त से मध्यशिर	१० अं०	—	—
पीछे से दोनों कानों के बीच का अंतर	१४ अं०	—	—
पुरुषों का वक्ष तथा स्त्रियों की श्रोणि	—	२४ अं०	—
स्त्रियों का वक्ष तथा पुरुषों की श्रोणि	—	१८ अं०	—

बाल्यावस्था में आयु एवं ऊँचाई आदि का अनुपात

आयु	भार	ऊँचाई	वक्ष	शिर
जन्म के समय	६–७ पौ०	२० इञ्च	१३–१४ इञ्च	१८ इञ्च
२ सप्ताह	८ पौ०	२१"	१३"	१४"
४ सप्ताह	९ पौ०	२२"	१५"	१५"
२ मास	११–१२ पौ०	२४"	१५"	१५"
६ मास	१५–१७ पौ०	२७"	१६–१७"	१६-१७"
१ वर्ष	२०–२२ पौ०	२९"	१८"	"
२	२६–२७ पौ०	३२½"	१९"	१८"
३	३०–३२ पौ०	३५"	२०"	१९"
४	३४–३५ पौ०	३८"	२०–२१"	१९–२०"
५	४० पौ०	४१–४२"	२१–२२"	१९–२०"
६	४४–४५ पौ०	४४"	२३–२४"	२०"
७	४८–५० पौ०	४६"	२३–२४"	२०–२१"
८	५४–५५ पौ०	४८"	२५–२५"	"
९	६० पौ०	५०"	२५"	"
१०	६६–६८ पौ०	५२"	२६"	२१"
१२	७०–७२ पौ०	५४–५५	२७"	"
१६	७८–८४ पौ०	६०–६२	२९–३०"	२२"

युवावस्था (२०–३० वर्ष) में शरीर की ऊँचाई, अंग-प्रत्यंगों का परिणाह एवं भार का अनुपात

ऊँचाई	भार	वक्ष	ग्रीवा	बाहु	मणिबन्ध	उरु	जंघा	कटि
५ फुट	११६ पौं०	३१–३४"	१२ १/२"	११ ३/४"	११"	१८"	१२"	२५"
५–१	१२०	३१–३५"	१२ ३/४	१२	११ १/४	१८ १/२	१२ १/४	२५ ३/४
५–२	१२६	३२–३६"	१३	१२ १/४	११ १/२	१९	१२ १/२	२६ १/२
५–३	१३३	३३–३७"	१३ १/४	१२ १/२	११ ३/४	१९ १/२	१२ ३/४	२७ १/४
५–४	१३६	३४–३८"	१३ १/२	१२ ३/४	१२	२०	१३	२८
५–५	१४२	३४ १/२–३८ १/२"	१३ ३/४	१३	१२	२० १/२	१३ १/४	२८ ३/४
५–६	१४३	३५–३९"	१४	१३ १/२	१२ १/४	२१	१३ १/२	२९ १/२
५–७	१४६	३५ १/२–३९ १/२"	१४ १/४	१३ ३/४	१२ १/४	२१ १/२	१३ ३/४	३० १/४
५–८	१५५	३६–४०"	१४ १/२	१३ ३/४	१२ १/२	२२	१४	३० ३/४
५–९	१६१	३६ १/२–४० १/२"	१४ ३/४	१४	१२ ३/४	२२ १/२	१४ १/४	३१ १/२
५–१०	१६९	३७–४१"	१५	१४ १/४	१२ ३/४	२३	१४ १/२	३२ १/४
५–११	१७४	३७ १/२–४१ १/२"	१५ १/४	१४ १/२	१३	२३ १/२	१४ ३/४	३२ ३/४
६–०	१७८	३८–४२"	१५ १/२	१४ ३/४	१३	२४	१५	३३ ३/४

स्वस्थ पुरुषों का अवस्था एवं ऊँचाई के अनुपात में शरीरभार

ऊँचाई / आयु	५'–२"	५'–३"	५'–४"	५'–५"	५'–६"	५'–७"	५'–८"	५'–९"	५'–१०"	५'–११"	६'	६'–१"	६'–२"
१६	११४	११७	१२०	१२४	१२८	१३२	१३६	१४०	१४४	१४९	१५४	१५९	१६४
१८	११८	१२१	१२४	१ ८	१३२	१३६	१४०	१४४	१४८	१५३	१५८	१६२	१६८
२०	१२२	१२५	१२८	१३२	१३६	१४०	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६५	१७१
२२	१२४	१२७	१३१	१३५	१३९	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८	१६३	१६८	१७३
२४	१२६	१२९	१३३	१३७	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६०	१६५	१७१	१७७
२६	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०
२८	१२९	१३२	१३५	१३९	१४३	१४७	१५१	१५५	१५९	१६४	१७०	१७६	१८२
३०	१३०	१३३	१३६	१४०	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७२	१७८	१८४
३२	१३१	१३४	१३७	१४१	१४५	१४९	१५३	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०	१८६
३४	१३२	१३५	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४	१६०	१६५	१७०	१७६	१८२	१८८
३६	१३३	१३६	१३९	१४३	१४७	१५१	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०
३८	१३४	१३७	१४०	१४४	१४८	१५२	१५७	१६२	१६७	१७३	१७९	१८५	१९२
४०	१३५	१३९	१४०	१४५	१४९	१५३	१५८	१६३	१६८	१७४	१८०	१८६	१९३
४२	१३६	१३९	१४२	१४६	१५०	१५४	१५९	१६४	१६९	१७५	१८१	१८७	१९४
४४	१३७	१४०	१४३	१४७	१५१	१५५	१६०	१६५	१७०	१७६	१८२	१८८	१९५
४६	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१८९	१९६
४८	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०	१९६
५०	१३८	१४१	१४४	१४८	१५२	१५६	१६१	१६६	१७१	१७७	१८३	१९०	१९७

स्वस्थ स्त्रियों का अवस्था एवं ऊँचाई के अनुपात में शरीरभार

ऊँचाई / आयु	४'-९"	४'-१०"	४'-११"	५'-०"	५'-१"	५'-२"	५'-३"	५'-४"	५'-५"	५'-६"	५'-७"	५'-८"
१६	१०४	१०६	१०८	१०९	१११	११४	११७	१२०	१२४	१२८	१३२	१३६
१८	१०५	१०८	११०	११२	११४	११७	१२०	१२३	१२६	१३०	१३४	१३८
२०	१०८	११०	११२	११४	११६	११९	१२२	१२५	१२८	१३१	१३६	१४०
२२	१०९	१११	११३	११५	११७	१२०	१२३	१२६	१२९	१३३	१३७	१४१
२४	१११	११३	११५	११७	११९	१२१	१२४	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२
२६	११२	११४	११६	११८	१२०	१२२	१२५	१२८	१३१	१३५	१३९	१४३
२८	११३	११५	११७	११९	१२१	१२३	१२६	१३०	१३३	१३७	१४१	१४५
३०	११४	११६	११८	१२०	१२२	१२४	१२७	१३१	१३४	१३८	१४२	१४६
३२	११५	११७	११९	१२१	१२३	१२५	१२८	१३२	१३३	१४०	१४४	१४८
३४	११७	११९	१२१	१२२	१२५	१२७	१३०	१३४	१३८	१४२	१४६	१५०
३६	११८	१२०	१२२	१२४	१२६	१२८	१३१	१३५	१३९	१४३	१४७	१५१
३८	११९	१२१	१२३	१२५	१२७	१३०	१३३	१३७	१४१	१४५	१४९	१५३
४०	१२१	१२३	१२५	११७	१२९	१३२	१३५	१३८	१४२	१४६	१५०	१५४
४२	१२२	१२४	१२६	१२८	१३०	१३३	१३६	१३९	१४३	१४७	१५१	१५५
४४	१२४	१२६	१२८	१३०	१३२	१३५	१३८	१४१	१४५	१४९	१५१	१५७
४६	१२५	१२७	१२९	१३१	१३३	१३६	१३९	१४२	१४६	१५०	१५४	१५८
४८	१२६	१२८	१३०	१३२	१३४	१३७	१४०	१४३	१४७	१५२	१५६	१६०
५०	१२७	१२९	१३१	१३३	१३५	१३८	१४१	१४४	१४८	१५३	१५६	१६२

शरीर-प्रमाण से पुरुष की आयु, आन्तरिक बल, रोगक्षमता, स्वास्थ्य तथा सुखैश्वर्य का ज्ञान होता है। यथोक्त प्रमाणयुक्त पुरुष दीर्घायु, बलवान, स्वस्थ और सुखी होता है। इसके विपरीत, अल्प या अधिक प्रमाण होने से अल्पायु, निर्बल, रोगी तथा दुखी होता है। मध्य प्रमाण होने से मध्यमायु तथा मध्यम बल, स्वास्थ्य और सुख से संपन्न होता है।[1] अतिदीर्घ एवं अतिह्रस्व पुरुष निन्दित माने गये हैं।

शरीर के समुचित विकास में नि स्रोत ग्रन्थियों का अत्यधिक महत्व होता है। इनका कार्य ठीक होने पर शरीर का प्रमाण प्राकृत होता है। यदि इनमें न्यूनता या अधिकता होती है तो शरीर प्रमाण में भी न्यूनाधिक्य हो जाता है। विशेषतः अवटु और पोषणक ग्रंथियों से शरीरप्रमाण नियन्त्रित होता है। अवटु ग्रन्थि तथा पोषणक ग्रन्थि की वृद्धि से शरीर के अंग-प्रत्यंगों का प्रमाण बहुत बढ़ जाता है और मानव दानव के सदृश दिखने लगता है। (Gigantism) में ये लक्षण प्रकट होते हैं। इनके विपरीत, इन ग्रन्थियों का ह्रास होने से शरीर का विकास नहीं हो पाता और अंग-प्रत्यंगों का प्रमाण ह्रस्व रह जाता है जिससे वामनत्व (Dwarfism), अस्थिक्षय (Cretinism) आदि विकार होते हैं। साराश यह कि शरीरप्रमाण के समुचित होने से नि स्रोत ग्रंथियों की स्वस्थता का पता चलता है तथा इसके द्वारा पुरुष के वर्त्तमान स्वास्थ्य-सुख और भावी सुख-समृद्धि का बोध होता है क्योंकि मानव का सुख-दुख, प्रेरणायें, कार्यप्रणाली बहुत-कुछ इन ग्रन्थियों के द्वारा नियंत्रित होती हैं। इस प्रकार समष्टि रूप से मनुष्य की आयु का भी ज्ञान हो जाता है।[2]

इसके अतिरिक्त, शरीर के अंग-प्रत्यंगों का प्रमाण उनमें होने वाले विकारों के ज्ञान में सहायक होता है। उदाहरणार्थ, वक्ष का समुचित प्रमाण न होने से वक्ष,

---

१ 'तत्रायुर्बलमोजः सुखमैश्वर्य वित्तमिष्टाश्चापरे भावाः भवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीरे, विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा।' (च. वि. ८)

'युक्तप्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाङ्गना।
दीर्घामायुरवाप्नोति वित्त च महदच्छति॥
मध्यम मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथावरम्।' (सु. सू ३५)

२. 'सामान्यतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारतः।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु॥' (सु सू ३५)

फुफ्फुस के रोगों की उत्पत्ति में सहायता मिलती है। स्त्री-श्रोणि का प्रमाण कम होने (Contracted pelvis) होने से प्रसव में कष्ट होता है तथा उसकी पूर्व व्यवस्था करने का सकेत मिलता है। इसी प्रकार बालक के मस्तक का प्रमाण शिरस्तोय (Hydrocephalus) नामक रोग में बढ जाता है।

(ज) देह (General conformation)—'देह' शब्द से शरीर के सामान्य उपचय-अपचय (स्थौल्य-कार्श्य) का बोध होता है। इस दृष्टि से, शरीर तीन प्रकार का माना गया है—१. अतिस्थूल, २. अतिकृश और ३ मध्यम।[1] जिस व्यक्ति के शरीर में मेद और मांस अधिक बढ़ने से चलते समय नितम्ब, उदर और स्तन हिलते हों, अन्य धातुओं का निर्माण समुचित न हो तथा शरीर और मन में शैथिल्य हो उसे अतिस्थूल (Plethoric type) कहते हैं। जिस व्यक्ति के नितम्ब, उदर, ग्रीवा आदि प्रदेश सूखे हों, त्वचा पर सिरायें स्पष्ट उभरी हों, अंगुलियों और अस्थियों के पर्व बडे और स्पष्ट हों तथा शरीर में त्वचा और अस्थिमात्र दीखता हो उसे अतिकृश (Asthemic type) कहते हैं। मध्यम स्थौल्य (जो न अतिकृश हो, न अतिस्थूल हो) के पुरुष मध्यदेह कहलाते हैं।

इनमें समदेह व्यक्ति स्वस्थ और बलिष्ठ होता है और शेष दोनों सदा व्याधित रहते हैं अतएव अतिनिन्दित माने गये हैं।[2] अतिस्थूल व्यक्ति में सामान्यत' आठ दोष होते हैं:—आयु की कमी, शैथिल्य, मैथुन में कष्ट, दौर्बल्य, दुर्गन्ध, अतिस्वेद, अतिक्षुधा तथा अतितृष्णा। सामान्य रोगक्षमता कम होने के कारण अतिस्थूल पुरुष में सभी रोगों से आक्रान्त होने की अधिक संभावना

---

१. 'देहः स्थूलः कृशो मध्य इति प्रागुपदिष्टः।' (सु. सू ३५)

२. सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः।
दृढेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न बलेनाभिभूयते॥'
क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः।
समपक्ता: समजरः सममांसचयो मतः॥' (च. सू २१)
'सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ।' (च. सू २१)

'इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति तद्यथा अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति।'
(च. सू. २१)

रहती है।[1] फिर भी इन व्यक्तियों में प्रमेह, कण्डू, पिडका, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, आमवात, क्लैब्य, शोथ, तन्द्रा, संन्यास आदि सन्तर्पणज विकार अधिक होते हैं। अत. इनकी चिकित्सा अपतर्पण और कर्शन से होनी चाहिए।

इसके विपरीत, कृश व्यक्ति क्षय, ज्वर, पार्श्वशूल, श्रोत्रदौर्बल्य, उन्माद, हृदयशूल, विबन्ध, उदरशूल, वातव्याधि आदि से पीड़ित होते हैं। ऐसे पुरुषों की चिकित्सा संतर्पण तथा बृंहण से करनी चाहिए।

इस प्रकार शरीरोपचय (स्थौल्यकार्श्य) का विचार रोगविज्ञान तथा चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। स्थूल पुरुषों का कर्शन गुरु और अपतर्पण औषध से करना चाहिए तथा कृश पुरुषों का बृंहण लघु और सन्तर्पण औषध से करना चाहिए।[2] मध्यदेह पुरुषों का उपचार ऐसा करना चाहिए जिससे उनका स्वास्थ्य बना रहे।[3]

(क) **शरीर की स्थिति** (Decubitus or attitude)—रोगी के शरीर की विशिष्ट स्थिति, आसन, गति आदि को देख कर भी रोग के सम्बन्ध में अनेक बातों का पता चलता है तथा रोग-विनिश्चय में सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ—

१. **आसीन स्थिति** (Orthopnoea)—यह स्थिति हृद्दौर्बल्य, फुफ्फुस रोग तथा तमकश्वास में होती है। इसमें रोगी लेट नही सकता क्योंकि लेटे रहने से श्वास लेने में कष्ट होता है। अत वह बैठ जाता है और थोड़ा आगे झुक कर सामने तकिये के सहारे सास लेता रहता है।[4] इस स्थिति में श्वसन की सहायक पेशियाँ पूर्णरूप से कार्य करती हैं तथा उदरस्थ अंगों के नीचे की ओर हट जाने के कारण हृदय और फुफ्फुस पर दबाव भी कम हो जाता है।

---

१. 'स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवाति पीडयेत्॥' (च. सू. २१)

२ 'सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ।
सतत चोपचर्यौ हि कर्शनैर्बृंहणैरपि॥'
'गुरु चातर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्शनं प्रति।
कृशानां बृंहणार्थं तु लघु संतर्पणं च यत्॥' (च. सू. २१)

३. 'कर्शयेद् बृंहयेच्चापि सदा स्थूलकृशौ नरौ।
रक्षणं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक्॥' (च. सू. ३०)

४. 'आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति।' (मा. नि)

२. **पार्श्विक स्थिति** (Lateral position)—पार्श्वशूल (Pleurisy) में रोगी वेदनायुक्त पार्श्व की ओर लेटे रहना पसन्द करता है क्योंकि दवाव से वेदना का कुछ उपशम होता है तथा उस स्थिति में उस पार्श्व के फुफ्फुस की गति भी सीमित हो जाती है जिससे पार्श्व में संक्षोभ नहीं हो पाता।[1] यह स्थिति विशेषतः गले के द्वारा संक्रमण होने से होती है। इसलिए आचार्यों ने गलरोगों में इसका वर्णन किया है।

३. **शयान स्थिति** (Dorsal decubitus)—जीर्ण और कष्टसाध्य रोगों में रोगी दुर्बल होकर शय्या में चुपचाप पड़ा रहता है और क्रमशः नीचे की ओर खिसकता जाता है। सन्निपातज्वर[2] में ऐसा देखा जाता है। उदरावरण-शोथ में रोगी दोनों पैर ऊपर की ओर मोड़े रहता है या एकांगी शोथ होने से उसी ओर का पैर मोड़े रहता है। इससे उदर की पेशियों पर तनाव कम होता है और पीड़ा कम होती है।[3]

४. **धनुस्तम्भ**[4]—आक्षेपक रोग में बहिरायाम (Opisthotonus), अन्तरायाम (Emprosthotonus), दण्डापतानक[5] (Plenosthotonus) आदि अनेक अवस्थायें होती हैं जिनका परिज्ञान रोगी की शारीरिक स्थिति

---

१. 'तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहाः।
निष्ठीवेत् कफपित्तं च तृष्णा कण्डूश्च जायते॥
विड्भेदश्वासहिक्काश्च बाधन्ते सप्रमीलकाः।
विभुफल्गू च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ॥' (मालुकि तंत्र)
'सदाहतोदं श्वयथुं सरक्तमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम्।
पित्तेन विद्याद् वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते॥'
(सु. नि. १६)

२. 'श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः।
अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे॥' (सु उ. ३९)

३. 'उत्तानः सर्वदा शेते पादौ विकुरुते च यः।
विप्रसारणशीलो वा न स जीवति मानवः॥' (सु. सू. ३१)

४. 'धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः।' (मा. नि.)

५. 'दण्डवत् स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः।' (मा. नि.)

देख कर किया जाता है। अपतंत्रक[1], अर्दित[2] आदि की विशिष्ट चेष्टा से भी रोगज्ञान होता है।

५. **मन्यास्तम्भ**[3] (Retraction of head)—शिरोरोगों में विशेषतः अनन्तवात, शंखक तथा मस्तिष्कावरणशोथ में शिर पीछे की ओर खिंच जाता है तथा ग्रीवा जकड़ जाती है। शिर में भयानक पीड़ा भी होती है।

६. **अरति या व्यग्रता** (Restlessnes)—तीव्र रोगों में विशेष कर सन्निपात, विष[4] आदि में रोगी अत्यन्त व्यग्र होता है तथा प्रलाप आदि भी होते हैं।

(ट) शरीर की गति (Gait)—

१. **कम्प**—नाडीसंस्थान के अनेक रोगों में विश्राम या चलने के समय शरीर में कम्पन होता है। जराशोष, कम्पवात[5] में बैठे-बैठे भी शिर, हाथ आदि हिलते रहते हैं। कलायखंज[6] में रोगी जब चलता है तब काँपता है और लँगड़ा कर चलता है।

(ठ) शोथ (Swelling)—रोगी के शरीर में यदि कहीं शोथ हो तो उसे ध्यान से देखना चाहिए। शोथ का स्थान, वृद्धि का काल, दबाने पर स्वरूप तथा अन्य आनुषंगिक लक्षणों की परीक्षा करनी चाहिए।

१. **शोथ का स्थान**—शोथ शरीर के किस अंग में है इससे विकृति का बहुत कुछ संकेत मिलता है। विशेषतः शोथ हृदय, यकृत तथा वृक्क इन तीन अंगों के विकार से होता है। हृज्जन्यशोथ सर्वप्रथम पैर से प्रारंभ होता है और क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ता है। यकृज्जन्यशोथ उदर से प्रारंभ होता है।

---

१. 'धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा ।
……कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतंत्रकः ॥' (मा. नि)

२ 'वक्रीभवति वक्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्त्तते ।
शिरश्चलति वाक्संगो नेत्रादीनां च वैकृतम् ॥' (मा. नि.)

३. 'दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् ।' (मा नि)

४. 'शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ।' (मा नि)
'आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ।' न गच्छेत् (मा. नि)

५. 'जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः ।
कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः ॥' (मा नि)

६. 'प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ।
कलायखंजं तं विद्यान्मुक्तसंधिप्रबन्धनम् ॥' (मा नि)

वृक्कविकारजन्य शोथ मुखमंडल, विशेषतः नेत्र और गण्डकूट से प्रारंभ होता है। 'पादशोथ' हृद्दौर्बल्य का सूचक होने से अनेक जीर्ण रोगों में असाध्यता का द्योतक होता है। लोक में यह उक्ति प्रचलित है कि रोगी का पादशोथ होने पर वह नहीं बचता।[१]

२. **शोथ की वृद्धि का काल**—शोथ कब अधिक होता है इससे कारणभूत दोषों का ज्ञान होता है। दिन में बढनेवाला शोथ वातप्रधान तथा रात में बढनेवाला शोथ कफप्रधान होता है।[२]

३. **दबाने पर शोथ का स्वरूप**—जो शोथ दबने पर पुनः उठ जाय वह वातिक तथा जो दबा रह जाय वह श्लैष्मिक होता है।

४. **शोथ के आनुषंगिक लक्षण**—शोथ के साथ यदि ज्वर और पीड़ा भी हो तो पैत्तिक शोथ, श्लीपद या व्रणशोथ का अनुमान होता है।[३]

(ड) **श्वास की गति**—रोगी सामान्य रूप से श्वास-प्रश्वास कर रहा है या अधिक या मन्द गति से कर रहा है इसे देखकर अनेक विकारों का ज्ञान होता है। श्वास रोग,[४] हृद्दौर्बल्य तथा फुफ्फुस के रोगों[५] में रोगी जोर-जोर से साँस

---

१. 'अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः।
पुरुषं हन्ति नारीं च मुखजो गुह्यजो द्वयम् ॥' (मा. नि.)
'श्वयथुर्यस्य पादस्थस्तथा स्रस्ते च पिण्डिके।
सीदतश्चाप्युभे जंघे तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥' (च इ. ६)

२. 'प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथुः समीरणात्।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ॥' (मा नि)

३. 'मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान् भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः।
य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत् स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ॥' (मा नि.)
'यः सज्वरो वंक्षणजो भृशार्त्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् ॥' (मा नि)

'शोथो भवेदाध्मातवस्तिवत्।
ज्वरस्तृष्णारुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥' (मा. नि)

४. 'करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥' (मा. नि.)

५. 'उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम्।
......महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ॥' (मा नि)

लेता रहता है। फुफ्फुसशोथ में श्वास की गति बहुत बढ जाती है। अवसाद की अवस्था में श्वास की गति मन्द हो जाती है और छिन्न श्वास में बीच-बीच में रुक जाती है।[1]

२. जिह्वा

दर्शन-परीक्षा से ज्ञातव्य विषयों में जिह्वा प्रमुख है। जिह्वा का वर्ण एवं उसके पृष्ठभाग की श्लक्ष्णता-कार्कश्य देखकर रोगों के विषय मे अनेक बातें स्पष्ट होती हैं। पाण्डुरोग में जिह्वा का वर्ण पाण्डुर तथा कामला में हारिद्र होता है। वातिक रोगों में जिह्वा श्यामवर्ण, पैत्तिक रोगों मे पीत तथा रक्त एवं श्लैष्मिक रोगों में श्वेताभ होती है। अंकुशकृमि में जीभ पर काले धब्बे पड़ जाते हैं। उदर-विकार, अन्त्ररोध तथा आन्त्रिक ज्वर में जिह्वा के ऊपर मल का श्वेत स्तर जमा होता है तथा जिह्वा कंटकित होती है।[2] वातिक विकारों में जिह्वा रूक्ष और कर्कश होती है तथा उसमें विदार भी होते हैं। फिरंग रोग की द्वितीयावस्था में जिह्वा में क्षत होते हैं। जिह्वास्तम्भ में रोगी जीभ बाहर नही निकाल सकता।[3] अर्दित रोग में जीभ टेढ़ी निकलती है। बहिर्नैत्रिक गलगंड में जिह्वा में कम्पन होता है।

३. नेत्र

प्रथम सामान्य रूप से नेत्र की स्थिति देखते हैं। वातिक रोगों में नेत्र रूक्ष और चंचल, पैत्तिक रोगों में संतापयुक्त और पीत तथा श्लैष्मिक रोगों में आर्द्र और स्निग्ध होते हैं।[4]

---

१. 'न वा श्वसिति दुःखार्त्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून्॥' (मा नि)

२. 'जिह्वा शीता खरस्पर्शा स्फुटिता मारुतेऽधिके।
रक्ता श्यामा भवेत् पित्ते कफे शुभ्रातिपिच्छिला॥
कृष्णा सकंटका शुष्का सन्निपाताधिके तु सा।' (यो० र)

३. 'वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता॥' (मा० नि०)
'स्तब्धा निश्चेतना गुर्वी कण्टकोपचिता भृशम्।
श्यावा शुष्काऽथवा शूना प्रेतजिह्वा विसर्पिणी॥' (च० इ ८)

४. 'रूक्षा धूम्रा तथा रौद्रा चला चान्तर्ज्वलत्यपि।
दृष्टिर्यदा तदा वातरोगं रोगविदो जगुः॥

पुनः नेत्र का निचला पलक खोल कर उसका वर्ण देखते हैं। उसमें केशिकायें स्पष्ट होने से वहाँ रक्त की स्थिति साफ मालूम होती है। पाण्डु रोग में रक्ताल्पता होने के कारण उसका वर्ण भी पाण्डुर हो जाता है। कामला में नेत्रगोलक में हारिद्रवर्ण आ जाता है और देखते ही समूची आँख पीली मालूम होती है। बहिर्नेत्रिक गलगण्ड में आँखें बाहर की ओर निकली होती हैं तथा अवसाद या रसक्षय की अवस्था में आँखें भीतर की ओर धँस जाती हैं। नेत्रपलकों पर शोथ की भी परीक्षा करते हैं। वृक्कविकारजन्य शोथ में नेत्रपलक विशेषतः निचला पलक सूज जाता है और यह शोथ प्रातःकाल जब रोगी उठता है तब अधिक होता है और दिन में क्रमशः धीरे-धीरे कम हो जाता है। अर्दित रोग में आँख पूरी बन्द नहीं हो पाती। नेत्राभिष्यन्द में आँखें लाल हो जाती हैं और उनमें पीड़ा होती है।

४. स्पर्श

दर्शनपरीक्षा के अनन्तर स्पर्शनपरीक्षा में सर्वप्रथम रोगी की त्वचा को छूकर उसकी स्निग्धता-रूक्षता तथा शैत्य उष्णता का पता लगाते हैं। वातिक विकारों में त्वचा रूक्ष, विदीर्ण और शीत होती है। पैत्तिक विकारों में त्वचा उष्ण होती है, उष्णताधिक्य से विस्फोट भी हो सकते हैं। कफज विकारों में त्वचा आर्द्र और स्निग्ध-शीत होती है।[1]

सामान्य उष्णता की स्पर्शन से प्रतीति करने पर पुनः तापमापक यंत्र द्वारा उसके संताप का निश्चय करते हैं। विशेषतः ज्वर में संताप के निर्णय के लिए इसका व्यवहार होता है। स्वभावतः शरीर का तापक्रम ९७-९८ होता है। ज्वर में यह बढ़ जाता है। इसके निम्नांकित विभाग किए गये हैं:—

१०० डिग्री तक-मन्द ज्वर (Mild fever)
१०० से १०२ ,, मध्यम ,, (Moderate fever)
१०२ से १०५ ,, तीव्र ,, (High fever)
१०५ से ऊपर-अतितीव्र ,, (Hyperpyrexia)

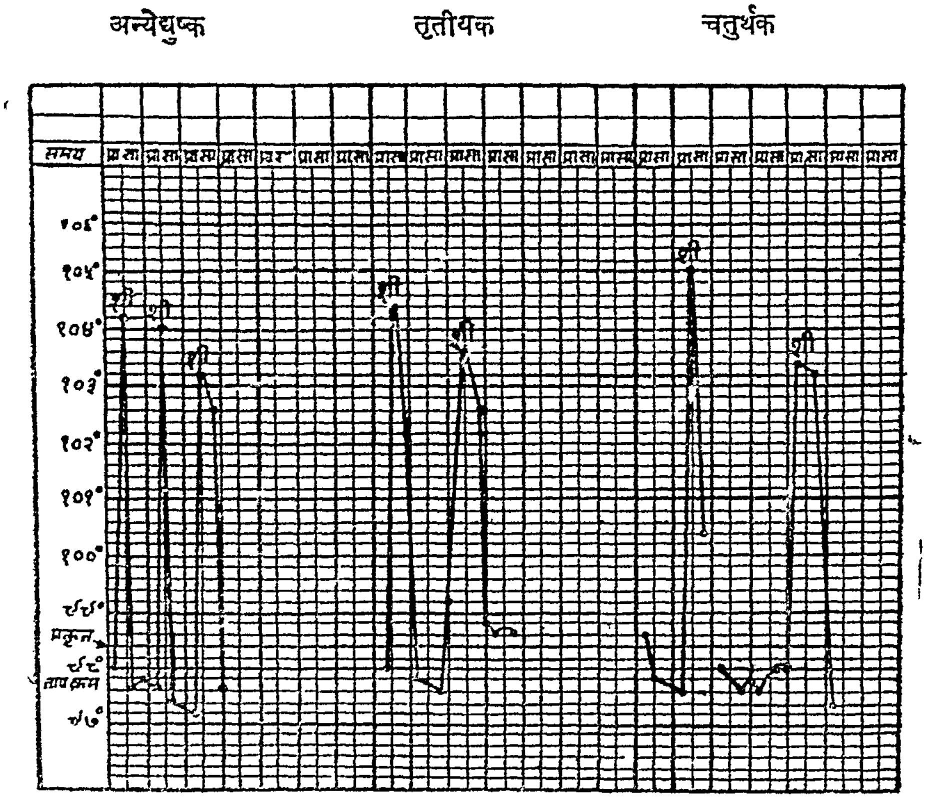
दीपद्वेषि च संतप्तं पीत पित्तेन लोचनम्।
जलार्द्रं ज्योतिषा हीन स्निग्ध मन्दं कफेन तत्॥' (यो र)

१. 'पित्तरोगी भवेदुष्णो वातरोगी च शीतलः।
श्लेष्मलः स भवेदार्द्रः स्पर्शतश्चैव लक्षयेत॥' (यो. र.)

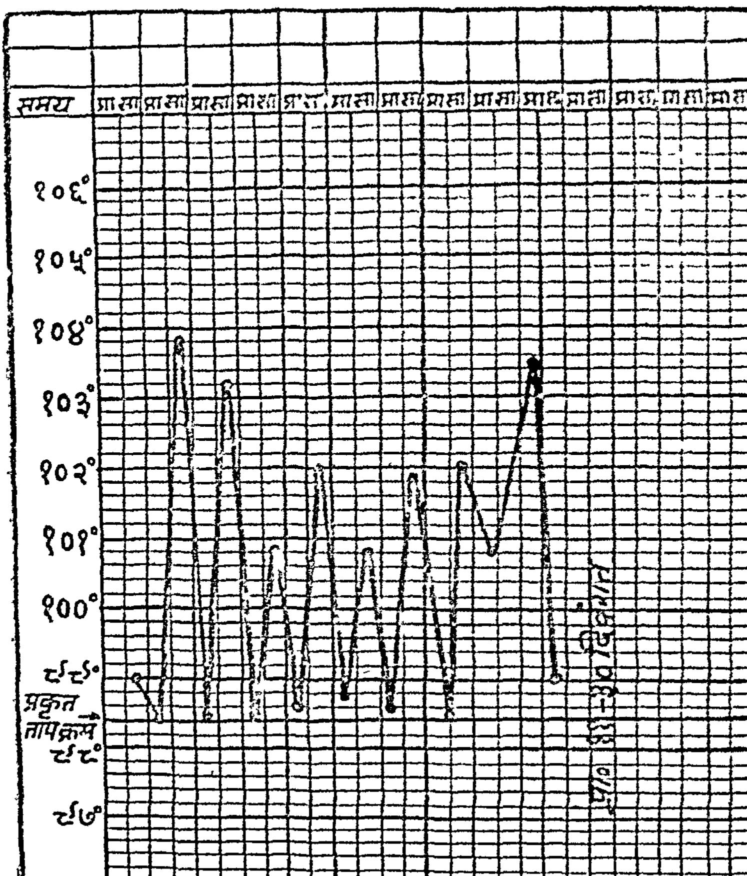
अवधि के अनुसार इसके तीन विभाग हैं:—

१. निरन्तर (Continuous) २. सन्तत (Remittent) ३. सान्तर (Intermittent)।

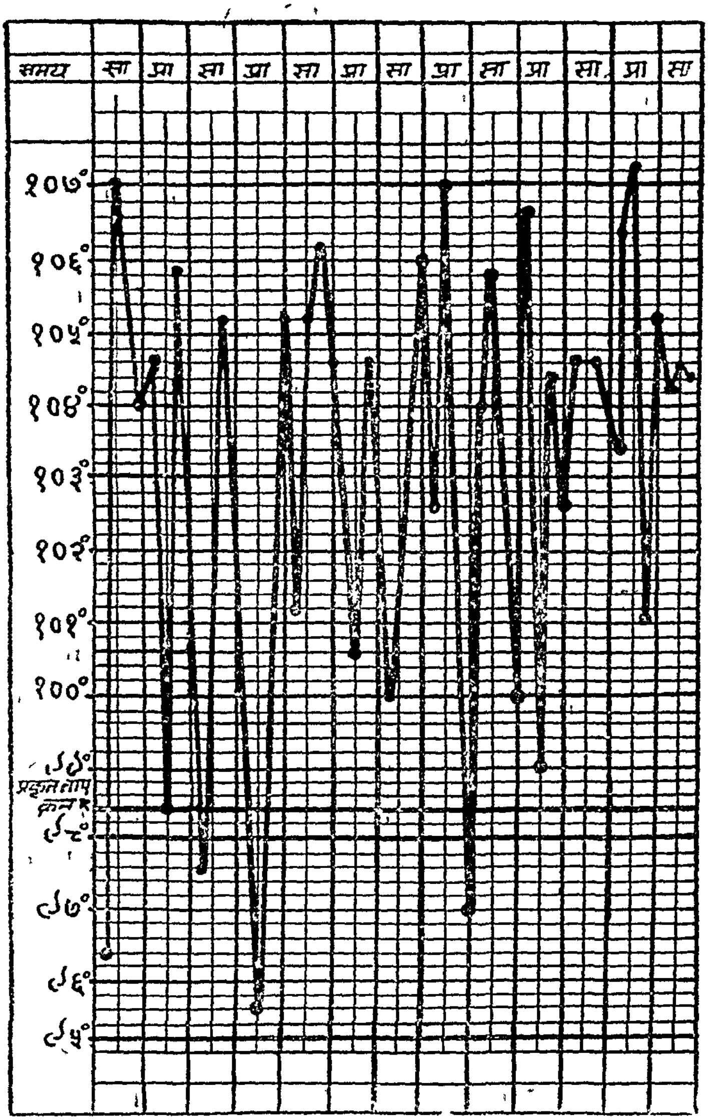
सामान्यतः प्रातःकाल का तापक्रम सायंकाल से कम रहता है। मलेरिया में जाड़ा देकर अतितीव्र ज्वर होता है और थोड़ी देर बाद पसीना देकर उतर जाता है। कालज्वर में ज्वर सान्तर या निरन्तर प्रकार का होता है। यक्ष्मा में प्रायः सायंकाल कुछ बढ़ता है और रात्रि में पसीना देकर प्रातः उतरता है। आन्त्रिक ज्वर में तापक्रम प्रथम सप्ताह में सोपान क्रम से बढ़ता है और दूसरे तीसरे सप्ताह में स्थिर हो जाता है, पुनः क्रमशः उतरता है। प्रथम दिन में ज्वर जाड़ा देकर काफी बढ़ता है।



चित्र २—विषमज्वर



चित्र ३—तीव्र राजयक्ष्मा



चित्र ४—तीव्र पूतिमयता

ज्वर का मोक्ष दो प्रकार से होता है—क्रमिक या अदारुण (Lysis) २. सहसा या दारुण (Crisis)। अधिक ज्वर में अदारुण मोक्ष तथा फुफ्फुस शोथ में दारुण मोक्ष देखा जाता है।

५. नाडी (Pulse)

नाडीपरीक्षा भी स्पर्शन-परीक्षा का एक अंग है। चरक ने अनेक स्थलों में स्पर्श द्वारा अंगों के स्पन्दन की परीक्षा का विधान किया है। अरिष्टविज्ञान में यह प्रसंग आता है कि यदि मन्या में स्पन्दन न हो तो रोगी को मृत समझना चाहिए।[1] तथापि नाडीपरीक्षा का विस्तृत विधान संहिताओं में नहीं मिलता। तांत्रिकों ने इस परीक्षा का महत्व विशेष बढ़ाया और रोगज्ञान में इसका चमत्कारपूर्ण उपयोग किया। इधर आकर भी वैद्यगण केवल नाडी देखकर रोग के विषय में सारी बातें बतला सकें, यह उनकी निपुणता की कसौटी माना जाने लगा। अष्टांगहृदय में सर्वप्रथम 'अष्टस्थान-परीक्षा' के प्रकरण में नाडीपरीक्षा का उल्लेख किया गया। शार्ङ्गधर, योगरत्नाकर आदि ग्रंथों में इसका विस्तृत वर्णन है तथा इस पर अनेक स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गए। इतना सब होने पर भी नाडीपरीक्षा का विषय पूर्णतः अभ्यासगम्य है; केवल नियमों के जानने से कुछ प्राप्त होने का नहीं। जिस प्रकार जौहरी अभ्यास से रत्नों की परीक्षा का ज्ञान प्राप्त करता है उसी प्रकार वैद्य को अभ्यास से नाडीज्ञान आता है।[2]

नाडीपरीक्षा से दोषों की गति का ज्ञान होता है। हृदय से संबद्ध होने के कारण नाडी के द्वारा हृदय की स्थिति का भी पूर्ण ज्ञान होता है।[3] इसके अतिरिक्त, रक्त के स्वरूप तथा धमनीभित्तियों की स्थिति से शारीरिक स्थिति का संकेत मिलता है।

नाडी-परीक्षा-विधिः—

प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होने पर रोगी जब थोड़ा विश्राम कर ले तब नाडी देखनी चाहिए। नाडीपरीक्षा के समय वैद्य और रोगी दोनों निश्चिन्त और सुखासीन हों, इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए क्योंकि वैद्य यदि एकाग्रमन

---

१. 'तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्।' (च इ. ३)

२. 'शास्त्रेण संप्रदायेन तथा स्वानुभवेन वै।
परीक्षा रत्नवच्चास्यास्त्वभ्यासादेव जायते॥' (यो. र.)

३. 'करस्यांगुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पंडितैः॥' (शा.)

न होगा तो नाडी का सम्यक् ज्ञान उसे न होगा और यदि रोगी की स्थिति में किंचित् भी वैषम्य हुआ तो नाडी की स्वाभाविक दशा में परिवर्त्तन हो सकता है।

वैद्य रोगी के दाहिने हाथ को कूर्पर संधि के पास मोड़ कर अपने बांये हाथ के सहारे पकड़े रहे और दाहिने हाथ की तर्जनी, मध्यमा और अनामिका इन तीन अंगुलियों को अंगुष्ठमूल से एक अंगुल छोड़ कर नीचे मणिबन्ध पर रक्खे। स्पर्श द्वारा नाडी की प्रतीति होने पर प्रत्येक अंगुलि से मृदु एवं गम्भीर स्पर्श द्वारा तथा दबा कर परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार तर्जनी स्थान पर वात, मध्यमा स्थान पर पित्त एवं अनामिका स्थान पर कफ का ज्ञान होता है।

सामान्यतः पुरुषों के दाहिने हाथ तथा स्त्रियों के बांये हाथ की नाडी देखते हैं किन्तु विशिष्ट ज्ञान के लिए दोनों हाथ की नाडियों की तुलनात्मक परीक्षा की जाती है। नाडी की सहज विकृति या अर्बुद आदि से दवाव पड़ने के कारण दोनों हाथ की नाड़ियों में अन्तर आ जाता है।

नाड़ी परीक्षा में निम्नाकित भावों का विचार किया जाता है :

(क) दोषगति

सामान्यतः यदि नाड़ी तीक्ष्ण हो तो पित्त, मन्द हो तो कफ तथा विषम हो तो वात की प्रधानता समझनी चाहिए। दृष्टांत के सहारे समझाने के लिए विभिन्न पक्षियों और प्राणियों की गति से नाड़ी की गति की तुलना की गई है। वातिक विकारों में नाड़ी जलौका और सर्प के समान (वक्र और विषम), पैत्तिक विकारों में गौरैया, काक और मण्डूक के सदृश (तीव्र), श्लेष्म विकारों में हंस और कबूतर के सदृश (मन्द) चलती है। सन्निपातज विकारों में लाव, तित्तिर और वटेर के समान अति चंचल। द्विदोपज विकारों में कभी मन्द और कभी तीव्र तथा स्थानभ्रष्ट होकर नाड़ी की गति होती है।[1]

---

१. 'नाडी धत्ते मरुत्कोपे जलौकासर्पयोर्गतिम्।
कुलिंगकाकमण्डूकगतिं पित्तस्य कोपतः॥
हंसपारावतगतिं धत्ते श्लेष्मप्रकोपतः।
लावतित्तिरवर्त्तीनां गमनं सन्निपाततः॥
कदाचिन्मन्दगमना कदाचिद्वेगवाहिनी।
द्विदोषकोपतो ज्ञेया हन्ति च स्थानविच्युता॥' (शा)

(ख) क्रम (Rate or frequency)

नाड़ी की गति संख्या प्रतिमिनट गिननी चाहिए। स्वभावतः युवा व्यक्तियों में नाड़ी की गति प्रतिमिनट ७२ बार होती है। बच्चों में यह अधिक लगभग ८०-१४० तक तथा वृद्धों में कम लगभग ५५-६० तक होती है। दिन में अधिकतम और निद्राकाल में न्यूनतम नाड़ी की गति होती है। आन्त्रिक ज्वर में नाड़ी अपेक्षाकृत मन्द चलती है। श्वास की गति और नाड़ी का अनुपात भी देखना चाहिए। यह स्वभावतः १ : ४ होता है किन्तु फुफ्फुस शोथ में यह भिन्न होकर १ : ३ या १ : २ हो जाता है। ज्वर में नाड़ी अतितीव्र तथा मन्दाग्नि और धातुक्षय में अतिमन्द हो जाती है।[1] ज्वर में एक अंश ताप की वृद्धि से नाड़ी की गति ८-१० प्रतिमिनट बढ़ जाती है। किसी भी स्थिति में ४० से कम या १५० से अधिक गति गंभीरता का सूचक है।

(ग) नियम (Rhythm)

नाड़ी नियमित क्रम से चलती है या अनियमित क्रम से ? जब नाड़ी समरूप से एक गति से चलती रहती है तो उसे नियमित और जब नाड़ी की गति में वैषम्य होता है तब उसे अनियमित कहते हैं। वैषम्य वायु का लक्षण है। तीव्र सान्निपातिक रोगों में जब वायु अत्यधिक कुपित होती है तब नाड़ी कभी चलती है और कभी रुक जाती है। यह नाड़ी गम्भीरावस्था का द्योतक है। जीर्ण हृद्रोग में भी जब धातुक्षय से वातप्रकोप होता है तब नाड़ी अनियमित हो जाती है।[2]

(घ) शक्ति (Force)

नाड़ी देखते समय अंगुलियों पर नाड़ी के वेग से जो आघात होता है उससे नाड़ी की शक्ति का पता चलता है। ज्वर, काम, क्रोध तथा अन्य पैत्तिक विकारों में नाड़ी प्रबल और रक्ताल्पता, चिन्ता, भय आदि में नाड़ी क्षीण होती है।[3] विसूचिका आदि में भी रक्तक्षय के कारण नाड़ी क्षीण हो जाती है।

(च) पूर्णता (Volume)

नाड़ी में रक्तप्रवाह के अनुसार उसका आयतन होता है। नाड़ी में जब रक्त

---

१. 'ज्वरकोपे तु धमनी सोष्णा वेगवती भवेत्।
मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च नाडी मन्दतरा भवेत्॥' (शा.)

२ 'स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणविनाशिनी।' (शा.)

३. 'कामक्रोधाद्वेगवहा क्षीणा चिन्ताभयप्लुता।' (शा.)

पूरा आता है तब नाडी 'पूर्ण' या 'गुरु' कहलाती है। इसके विपरीत, जब उसमे रक्त कम आता है तब वह 'अपूर्ण' या 'लघु' कहलाती है।[1] लोक में भी कहते हैं कि अमुक रोग में नाडी भारी चलती है और अमुक रोग में नाडी हलकी चलती है। आमदोष के कारण भी नाडी गुरु होती है। वातदोष के कारण नाडी लघु और कफ की प्रधानता से गुरु चलती है।[2]

(छ) नाडी का स्पर्श

नाडी मृदु है या कठिन इसकी परीक्षा भी करना चाहिए। मृदु नाडी थोडे दबाव से ही बन्द हो जाती है और कठिन नाडी को दबाने के लिए अधिक जोर की जरूरत पड़ती है। वृद्धावस्था, रक्तभाराधिक्य में कठिन नाडी तथा बाल्यावस्था एवं रक्तभाराल्पता में मृदु नाडी चलती है। सामान्यतः कफाधिक्य में मृदु नाडी और वाताधिक्य में कठिन नाडी चलती है।[3]

(ज) रक्तभार (Tension)

रक्तवह स्रोतों की दीवालों पर व्यान वायु से प्रेरित रक्त का जो दबाव पड़ता है उसे रक्तभार कहते हैं। इसे एक यंत्रविशेष से देखते हैं जिसे रक्तभारमापक यंत्र (स्फिग्मोमेनोमीटर–Sphygmomanometer) कहते हैं। सामान्यतः आयु + ९० संकोचकालिक रक्तभार तथा इसका ⅔ और वृद्धावस्था में इसका ½ प्रसारकालिक रक्तभार होता है। दोनों के अन्तर को नाडीभार कहते हैं। सामान्यतः नाडीभार, प्रसारकालिक रक्तभार तथा संकोचकालिक रक्तभार में १ : २ : ३ का अनुपात होता है। किसी भी अवस्था में १६० से अधिक रक्तभार विकृति का सूचक है।

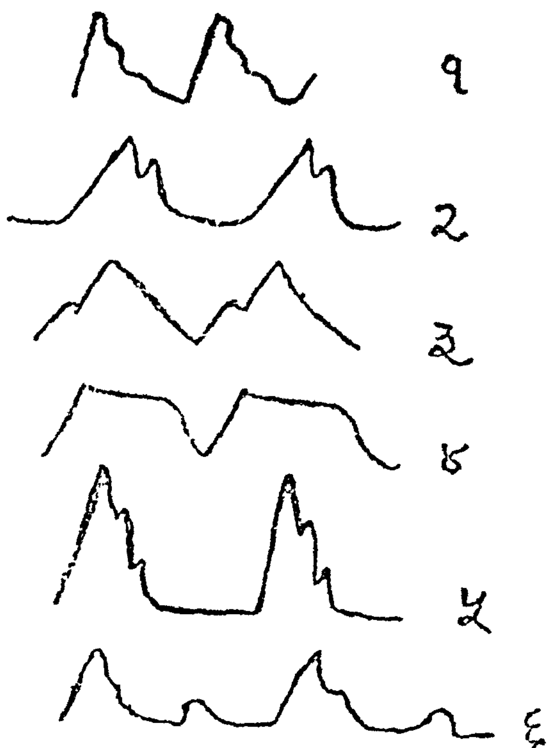
रक्तभारमापन की दो विधियाँ हैं—एक स्पर्शन विधि और दूसरी श्रवणविधि। स्पर्शन विधि में केवल नाडी के स्पर्श से रक्तभार का ज्ञान किया जाता है तथा श्रवण विधि में श्रवणयन्त्र की सहायता लेनी पड़ती है। रक्तभारमापक यन्त्र में एक पम्प लगा होता है जिससे नलिका लगी रहती है। एक नलिका का सबन्ध बाहुबन्धन से तथा दूसरी नलिका का संबन्ध पारदीय मापयंत्र से रहता है। बाहुबन्धन समरूप से बाहु पर कस कर बाँध दिया जाता है और पम्प से हवा

---

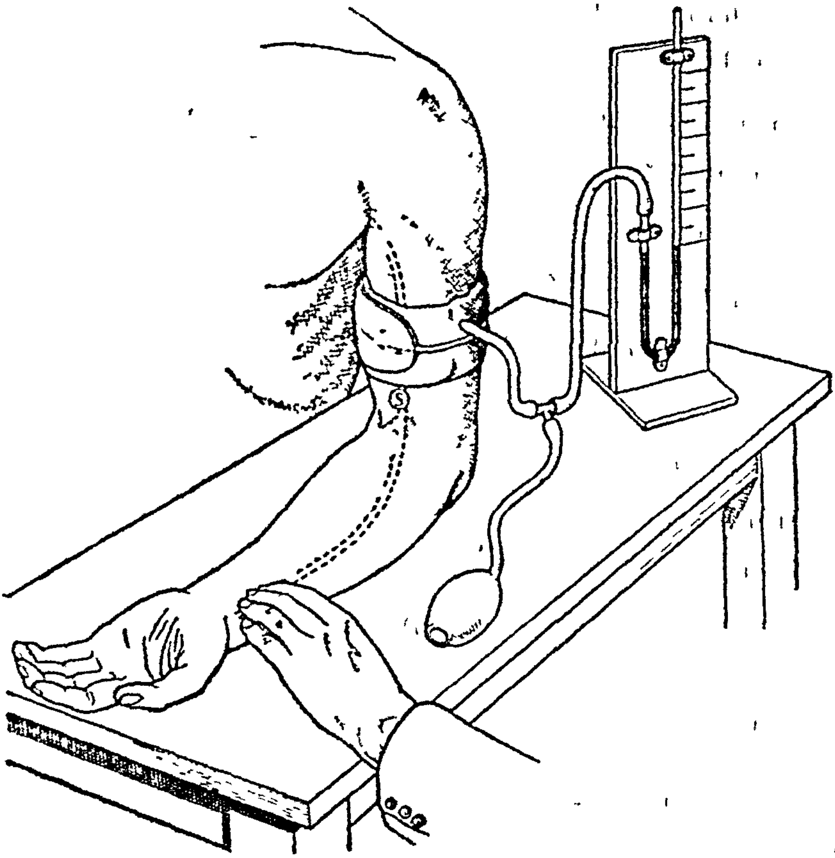
१. 'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय।' (मेघदूत)
२. 'असृक्पूर्णा भवेत् कोष्णा गुर्वी साम्रा गरीयसी। लघ्वी वहति दीप्ताग्नेः।' (शा)
३. 'मन्दा च सुस्थिरा शीता पिच्छिला श्लेष्मतो भवेत्।
वक्रा च ईषच्चपला कठिना वातपित्तजा॥' (यो र.)

भरी जाती है। उसी समय नाडी देखी जाती है। जब बाहुबन्धन में वायु का दबाव धमनीगत रक्तभार से अधिक हो जाता है तब धमनी दब जाती है और उसका स्पन्द बन्द हो जाता है, फलस्वरूप पारदयन्त्र में भी कम्पन नहीं होता। अब पम्प के स्क्रू को ढीला कर बाहुबन्धन से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाली जाती है। वायु के निकलने से थोड़ी देर में नाडी पुनः चलने लगती है। इसी समय पारदयन्त्र को देखने से जो अंक प्राप्त होगा वही संकोचकालिक रक्तभार है। पुनः वायु के अधिक निकालते जाने से नाडी अधिक स्पष्ट होती जायगी। इस प्रकार जब नाडी बिलकुल स्पष्ट हो जाय तथा पारदयंत्र में कम्पन भी अधिकतम हो तब पारदयंत्र में जो अंक होगा वह प्रसारकालिक रक्तभार का सूचक होगा। यह रक्तभारमापन की स्पर्शनविधि का वर्णन हुआ, किन्तु अब इसका प्रयोग प्रायः नहीं होता है क्योंकि इससे रक्तभार का ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

चित्र ५—विविध नाडीतरंग



१. प्राकृत नाडीस्पन्द। २. निम्नतरंगीय नाडी। ३. उच्चतरंगीय नाडी।
४. उपत्यका नाडी। ५. जलमुद्गर नाडी। ६. पर्यायित नाडी।



चित्र ६—रक्तभारमापन

व्यवहार में श्रवणविधि अधिक प्रचलित है। इसमें नाड़ीस्पर्श के बदले कफोणिखात में बाहवी धमनी के ऊपर श्रवणयन्त्र रख कर प्रत्येक स्पन्द के समय ध्वनि सुनी जाती है। बाहुबन्धन में वायुभार अधिक हो जाने से धमनी दब जाती है और ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। अब धीरे-धीरे वायु निकाली जाती है और जैसे ही ध्वनि सुनाई देती है वैसे ही पारदयन्त्र में अंक को देख लेते हैं। यही संकोच-कालिक रक्तभार है। और अधिक वायु निकालने से ध्वनि तीव्रतर होती जाती है, फिर अस्पष्ट और अन्त में बन्द हो जाती है। बिलकुल बन्द होने से पूर्व अस्पष्ट ध्वनि के समय पारदयंत्र के अंकों को देख लेते हैं। यह प्रसारकालिक रक्तभार है।

रक्तभारमापन के समय हृदय और बाहु समानान्तर रहें इसका ध्यान रखना चाहिए।

संप्रति नाडी-स्पन्दमापक यन्त्र (Sphygmograph) के द्वारा नाडी की स्थिति तरंगों द्वारा देखी जाती है। तरंग की दृष्टि से निम्नांकित विकृत नाडियाँ विभिन्न विकारों में मिलती हैं:—

१. उच्चतरंगीय नाडी (Anacrotic pulse)—यह नाडीस्पन्दमाप की ऊर्ध्वरेखा में एक अतिरिक्त संकोच के कारण होती है और महाधमनीद्वार-संकोच, रक्तभाराधिक्य आदि में मिलती है।

२. निम्नतरंगीय नाडी (Dicrotic pulse)—इसमें नाडीस्पन्द की निम्नरेखा में एक अतिरिक्त संकोच होता है। यह नाडी आन्त्रिक ज्वर तथा तीव्र औपसर्गिक विकारों में मिलती है।

३. जलमुद्गर नाडी (Water-hammer pulse)—यह निम्नरेखा में संयुक्त गौणतरंगों के कारण होती है और महाधमनी-रक्तप्रत्यावर्त्तन में मिलती है।

४. उपत्यका-नाडी (Plateau pulse)—इसमें नाडी का चरम उत्कर्ष-काल बढ जाता है और यह उच्च प्रान्तीय प्रतिरोध, महाधमनीद्वारसंकोच में मिलती है।

५. पर्यायित नाडी (Pulsus alternance)—इसमें एक उच्च नाडीस्पन्द के बाद दूसरा स्पन्द पर्यायक्रम से निम्न होता है। यह हृत्पेशी के अपकर्ष का सूचक है।

६. द्विगुणित नाडी (Pulsus bigeminus) इसमें प्राकृत स्पन्द के बाद एक और स्पन्द होता है जिसको स्पर्श द्वारा प्रतीत किया जा सकता है।

७. त्रिगुणित नाडी (Pulsus trigeminus) इसमें तीन स्पन्द एक साथ होने के बाद विराम होता है।

८. लुप्त नाडी (Pusus Paradoxus)—इसमें गंभीर श्वसन के समय नाडी लुप्त हो जाती है। ऐसा हृदयावरणशोथ में देखा जाता है।

६ शब्द

रोगी के समीप जाने पर विना यंत्र की सहायता के जो शब्द (Fxtra-auscultatory sounds) सुनाई देते हैं उनकी परीक्षा श्रवण से की जाती है। यथा उदर विकारों में अन्त्र कूजन, आटोप आदि; वातरक्त में सन्धियों और पर्वों का स्फुटन आदि; कास में घुघुर शब्द, श्वास में भस्त्राध्मानवत् ध्वनि; सन्निपातज ज्वर में कण्ठकूजन; अपतन्त्रक में कपोतकूजन आदि। शल्यतन्त्र में भी व्रणों तथा शस्त्रकर्म में श्रवणपरीक्षा का उपयोग होता है। सामान्यत: कफाधिक्य से स्वर भारी, पित्ताधिक्य से स्पष्ट तथा वाताधिक्य से अन्य विकार होते हैं।[1]

७. गन्ध

घ्राणेन्द्रिय से गन्ध की परीक्षा की जाती है। अनेक विकारो के परिज्ञान में गन्ध परीक्षा काउ पयोग होता है। मूत्र-विषमयता (Uraemia) में शरीर से मूत्र की गन्ध आती है। मूत्र में एसिटोन आने पर फल के सदृश गन्ध आती है।[2] रक्तपित्त में निश्वास में लौह की गन्ध आती है।[3] अरिष्ट लक्षणों में भी अनेक गन्ध विकार होते हैं जिनसे रोगी की मृत्यु की सूचना मिलती है।[4] व्रणों में भी गन्ध की परीक्षा की जाती है।[5]

८. रस

रसनेन्द्रिय का विषय होने पर भी रस का ज्ञान अनुमान से ही किया जाता है। रोगी के मुख का रस (कषाय, माधुर्य, वैरस्य आदि) प्रश्न से ज्ञात किया जाता है। वातिक विकारों में मुख का रस कषाय, कफज विकारों में मधुर-लवण

---

१. गुरुस्वरो भवेच्छ्लेष्मा स्फुटवक्ता च पित्तलः।
उभाभ्यां रहितो वातः स्वरतश्चैव लक्षयेत्॥' (यो र.)

२. 'आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गन्धा. शुभाशुभाः।
व्यस्यासेनानिमित्ताः स्यु' स च पुष्पित उच्यते॥'
तद्यथा चन्दन कुष्ठ तगरागुरुणी मधु।
माल्य मूत्रपुरीषे वा मृतानि कुणपानि च॥ (च इ. २)

३. 'लोहगन्धिश्च नि.श्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति।' (मा. नि.)

४. ये चान्ये विविधात्मानो गन्धा विविधयोनयः।
तेऽप्यनेनानुमानेन विज्ञेया विकृतिं गताः॥' (च. इ. ०)

५. 'घ्राणेन्द्रियविज्ञेया अरिष्टलिंगादिषु व्रणानामव्रणानां च गन्धविशेषाः। (सु सू ९)

तथा पैत्तिक विकारों में कटुतिक्त होता है। ज्वर व्याधि में मुख का स्वाद भिन्न हो जाता है।[1] प्रमेह में शरीर पर मक्खियाँ अधिक लगने से माधुर्य का ज्ञान होता है। कुष्ठ में यूका आदि शरीर छोड़ कर भागने लगते हैं। इससे शरीर के वैरस्य का पता चलता है।[2] रक्तपित्त में भी इसी प्रकार रस की परीक्षा होती है। कुत्ते, कौए आदि यदि रक्त को खा लें तब जीवरक्त, अन्यथा रक्तपित्त समझना चाहिए।[3] मूत्र में चीनी आने पर उसका ज्ञान मूत्र में चींटा लगने पर या रासायनिक परीक्षा द्वारा किया जाता है।[4]

---

१. 'वाते च मधुरास्यत्वं पित्ते च कटुकं तथा।
मधुराम्लं कफे चैव सर्वलिङ्गं त्रिदोषजे॥
अजीर्णे घृतपूर्णं स्यात् कषायं चाग्निमांद्यके।' (यो. र.)

२. 'यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसम्भवः।
स एषां चरमे काले विकारं भजते द्वयम्॥
कश्चिद्वैवास्यवैरस्यमत्यर्थमुपपद्यते ।
स्वादुत्वमपरश्चापि विपुलं भजते रसः॥
तमनेनानुमानेन विद्याद्विकृतिमागतम्।
मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात्॥
मक्षिकाश्चैव यूकाश्च दंशाश्च मशकैः सह।
विरसादपसर्पन्ति जन्तोः कायान्मुमूर्षतः॥
अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः।
अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः॥' (च. इ. २)

३. रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते, तस्मात् आतुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्; यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्य, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसन्देहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्। एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत। (च. नि. ४)

४. 'षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम्।' (च. नि. ४)

तृतीय अध्याय

अङ्गप्रत्यङ्ग-परीक्षा

(Systematic Examination)

अष्टस्थान-परीक्षा के द्वारा रोगी की सामान्य दशा का अध्ययन करने के अनन्तर उसके अंग-प्रत्यंगों की परीक्षा करनी चाहिए। यह परीक्षा कोष्ठ, शाखा शिरोग्रीव इस क्रम से होना उत्तम है। कोष्ठ की भी परीक्षा संस्थानिक क्रम से होनी चाहिए।

कोष्ठ

१. पाचनसंस्थान

दर्शन—दर्शन परीक्षा से निम्नांकित अंगों का विवेचन करना चाहिए —

(क) **ओष्ठ**—सर्वप्रथम रोगी के ओष्ठ की परीक्षा करनी चाहिए। ओष्ठ का वर्ण, स्निग्धता-रूक्षता, विदार, शोथ आदि देखना चाहिए। पाण्डु में ओष्ठ का वर्ण पाण्डुर एवं कामला में हारिद्र हो जाता है। अवसाद, हृदयावरोध, फुफ्फुसशोथ आदि में ओष्ठ श्याम या नीलवर्ण हो जाते हैं।[1] वाताधिक्य में ओष्ठ रूक्ष और विदीर्ण होते हैं। कफाधिक्य में उनमें स्निग्धता होती है। पित्ताधिक्य, व्रणशोथ आदि में ओष्ठ रक्तवर्ण और शोथयुक्त होते हैं। फिरंग में ओष्ठ में तारकाकृति विदार (Stellate fissures) होते हैं।

---

१. 'यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय॥ (मा. नि.)
'यस्य नीलावुभावोष्ठौ पक्वजाम्बवसन्निभौ।
मुमूर्षुरिति तं विद्यान्नरं धीरो गतायुषम्॥' (च. इ. १)



चित्र ७—[illegible]

लालाग्रन्थियाँ—मुखमण्डल के आस-पास स्थित लालाग्रन्थियों की परीक्षा करना चाहिए। कर्णमूलशोथ आदि में यह ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं।

(ख) **लालास्राव**—लाला का स्राव अधिक है या कम यह देखना चाहिए। आम दोष तथा श्लैष्मिक विकारों में लालाप्रसेक[1] (Ptyalism) तथा वातपैत्तिक विकारों में लाला की कमी (xerostoma) के कारण मुखशोष होता है। सामान्यत लालाप्रसेक मुखपाक, दन्तोद्भेद, जीर्ण आमाशय शोथ, [illegible] विशेषत· मधुराम्ल-भोजन, गर्भावस्था, जलसन्त्रास, पारद, आयोडाइड, तिक्त द्रव्य तथा क्षार और अम्ल, अर्दित में चबाने में कष्ट होने से तथा गलशोथ में होता है। मुखशोष ज्वर, प्रमेह, अतिसार, जीर्ण वृक्कशोथ, तथा धतूर, [illegible] आदि के प्रयोग में

१. 'स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः ।
आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलभेदारुचिक्लमाः ॥
लिंग मलानां सामानाम्—' (वा. सू. १३)

वाद और भय-चिन्ता आदि से लालाग्रन्थियों के अर्बुद और जरा से होता है। इनमें तृष्णा भी होती है।[1]

(ग) **तालु**—तालु में फिरंग की द्वितीय अवस्था में विदार होते हैं। कोमल तालु में रोहिणी (Diphtheria) की कला का स्थान होता है। कठिन तालु में नासा के विकारों से उपद्रव होते हैं।[2] रोमान्तिका में कपोल के भीतर चर्वणक दाँत के सामने सफेद दाने निकलते हैं इन्हें 'कपोलिकविन्दु' (Koplik's spots) कहते हैं।



चित्र ८—अर्धचन्द्र दन्त

(घ) **दन्त**—दाँतों की मलिनता, दन्तकोटर तथा दन्तपूय की परीक्षा करनी चाहिए। पाचन संस्थान के विकारों से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। दाँतों में विकार होने से उदर में जाने पर ये उदरगत विकार भी उत्पन्न करते हैं। दन्त मास के वर्ण तथा काठिन्य को भी देखना चाहिए। अनेक रोगों तथा सीस, विस्मथ आदि विषों में मसूड़ों में नीलिमा होती है।[3] पाण्डु में मसूडे पीतवर्ण हो जाते हैं। दन्तमास शिथिल और मृदु होने से जरा से झटके से उनसे रक्त

---

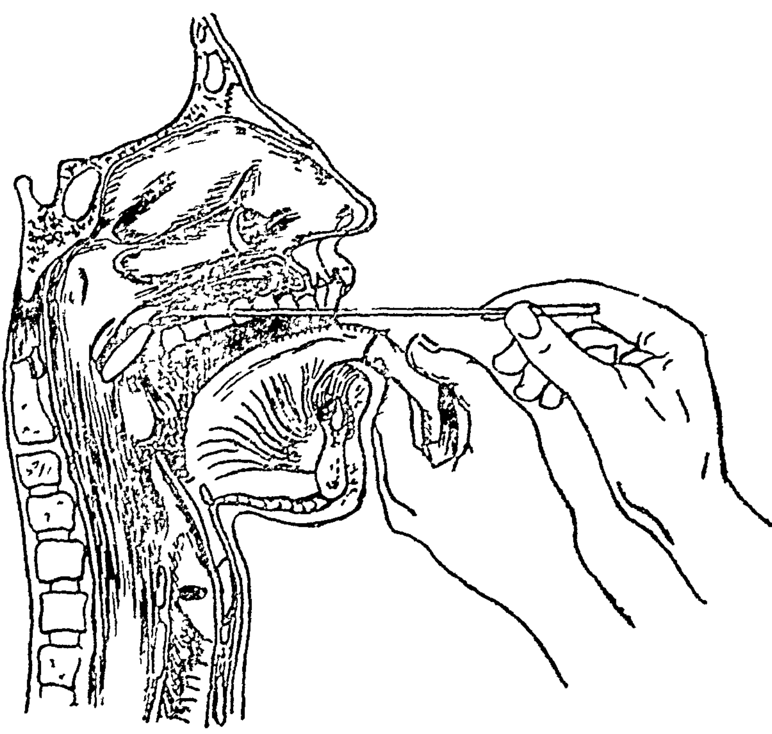
१. 'भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा।
ज्वरमेहक्षयशोषश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ॥
नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू।
अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते हि नरः॥' (च चि २२)

२. शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालु श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च।
पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येन तालुपाक वदन्ति॥' (मा. नि.)

३. दन्ताः कर्दमदिग्धाभा मुख चूर्णकसन्निभम्।
सिप्रायन्ते च गात्राणि लिंग सद्यो मरिष्यतः॥ (च इ १०)

आने लगता है। इसे शीताद (Spongy yums) कहते हैं। यह पारद विष तथा सहज रक्तपित्त में भी होता है। दन्तमास में अर्बुदों की भी परीक्षा करनी चाहिए। दन्तवेष्ट रोग में उसमें पूय हो जाता है। फिरंग रोग में बालक के सामने के दाँत नीचे की ओर नुकीले तथा अग्रभाग पर अर्धचन्द्र होते हैं। इन्हें 'अर्धचन्द्र दन्त' (Hutchison's teeth) कहते हैं। इसके अतिरिक्त, दाँतों के बीच का अवकाश कम होता है और खटिक की कमी से उनमें कोटर भी शीघ्र होते हैं।

(च) **गल**—पूर्ण प्रकाश में रोगी के गले की परीक्षा करनी चाहिए। इसमें विशेष कर शोथ, पाक, अंकुर, अर्बुद आदि पर ध्यान देना चाहिए। इससे गल-शोथ, रोहिणी, मासतान, कण्ठशालूक आदि रोगों का निश्चय होता है।



चित्र ९—गल-परीक्षा

(छ) **अन्ननलिका**—निगलने में कष्ट होने पर अन्ननलिका की परीक्षा विशेष रूप से होनी चाहिए। कभी कभी—

(१) मुखपाक, गले या स्वरयंत्र के विकारों में पानी या भोजन के निगलने में कष्ट होता है। अपतंत्रक में भी अन्ननलिका में संकीर्णता का अनुभव होता है और रोगी यह प्रतीत करता है कि एक गोला सा (Globus) आमाशयिक प्रदेश से ऊपर की ओर उठकर अन्ननलिका में अवरोध उत्पन्न करता है। रोहिणी या अर्दित में भी निगलने मे कष्ट हो सकता है। अन्ननलिका में विद्रधि, अर्बुद या अन्नशल्य होने से भी कठिनाई होती है।[1]

(२) निगलने में कष्ट होता हो और भोजन आमाशय में न जाकर पुनः मुख में लौट आता हो तो अर्बुद, कैंसर, सकीर्णता, स्तम्भ, शल्य, व्रणशोथ, व्रण तथा पक्षाघात का सन्देह करना चाहिए। ऐसी स्थिति मे क्ष-किरणों द्वारा अन्न-नलिका की परीक्षा कर रोग निर्णय करना आवश्यक है।

(३) अन्ननलिकादर्शक (Oesaphagoscope) से अन्ननलिका की आभ्यन्तरिक स्थिति का परिज्ञान होता है। इससे अन्ननलिकागत विकारों की चिकित्सा भी होती है।

(४) श्रवण द्वारा भी अन्ननलिका-सकोच का पता लगाया जाता है। श्रवण यंत्र के अग्र भाग को वक्षोऽस्थि के अन्तिम भाग और वामपर्शुकातोरण के मध्य में रक्खो। रोगी को थोड़ा पानी पिलाओ। पानी निगलने पर दो शब्द सुनाई देंगे। पानी जब कण्ठ से अन्ननलिका में आवेगा तब प्रथम शब्द सुनाई देगा और दूसरा शब्द तब सुनाई देगा जब पानी अन्ननलिका से आमाशय में आयगा। दोनों के बीच में लगभग ६ सेकण्ड का अन्तर होता है। यदि अन्ननलिका मे कोई सकोच होगा तो यह अन्तर बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त, श्रवणयंत्र को ग्रीवा के वामपार्श्व में रखने पर सामान्यत. एक शब्द निगलने के समय सुनाई देता है। इस शब्द का प्रसार पृष्ठ में नीचे की ओर कशेरुका-कण्टकों के वामभाग में दशम वक्ष कशेरुका तक होता है। यदि अन्ननलिका में कोई संकोच हो तो इसके प्रसार में विलम्ब या बाधा उपस्थित होती है और सकोच स्थान से नीचे शब्द की प्रतीति नहीं होती।

---

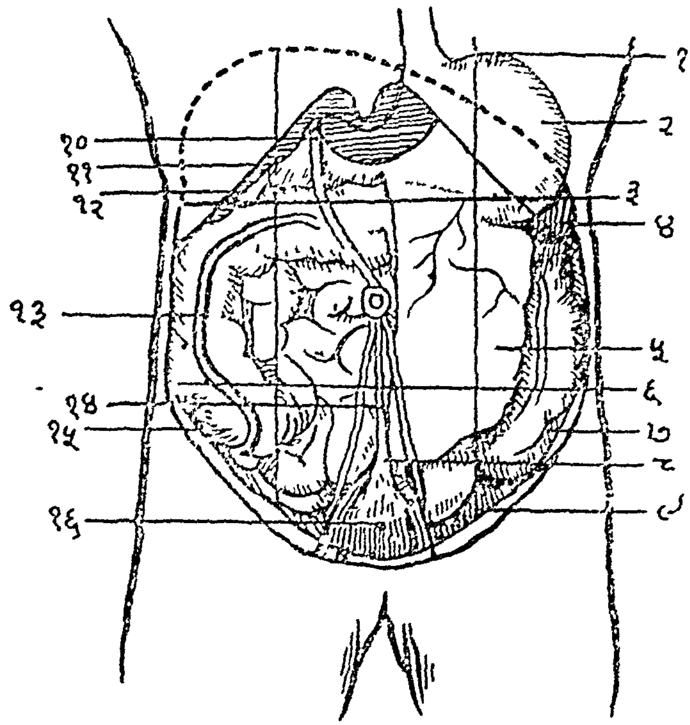
१. 'नोपैति कण्ठमाहारो जिह्वा कण्ठमुपैति च।
आयुष्यन्तं गते जन्तोर्बल च परिहीयते॥' (च. इ. ८)
'पेय पातु न शक्नोति कण्ठस्य च मुखस्य च।
उरसश्च विशुष्कत्वाद्यो नरो न स जीवति॥' (च. इ ९)

६ उदर (Abdomen)

उदर की परीक्षा को सुबोधगम्य बनाने के लिए एक बार पुनः उसके शरीर विभाग को स्मरण कर लेना अच्छा होगा।

उदर के विभाग

नीचे वंक्षणीस्नायु के मध्य भाग से ऊपर पर्शुकातरुणास्थि के संधिस्थल तक दोनों ओर एक-एक रेखा खींची जाती है। इसी प्रकार चौड़ाई में एक रेखा दोनों ओर की वक्र पर्शुकातरुणास्थि को मिलाती हुई तथा दूसरी रेखा श्रोणिफलक के दोनों पूर्वोर्ध्वकूटों को मिलाती हुई खींची जाती हैं। इस प्रकार समस्त उदर ९ प्रदेशों में विभक्त हो जाता है जिनमें अंग-प्रत्यगों की स्थिति निम्नांकित रूप में होती हैः—



चित्र १०—उदर-विभाग

१. प्रथमपर्शुकास्तर २. आमाशय ३. नवीं पर्शुकातरुणास्थि ४. प्लीहा
५. वपा ६. जघनधारा ७. वस्तिकुण्डलिका ८. वस्तिशीर्ष
९. वंक्षणी स्नायु का मध्यभाग १०. स्नायु ११. यकृत् १२. पित्तकोष
१३ आरोही बृहदन्त्र १४ विशुष्क अधिवस्तिका १५. उण्डुक १६ वस्ति

१. दक्षिण अनुपार्श्विक	२. हृदयावरिक	३ वाम अनुपार्श्विक
यकृत् का दक्षिण पिंड, पित्ताशय, ग्रहणी, अग्न्याशय, बृहदन्त्र का याकृत कोण, दक्षिण वृक्क का ऊर्ध्व भाग तथा दक्षिण अधिवृक्क कोष।	आमाशय का मध्य और मुद्रिका भाग, यकृत् का वामपिण्ड और पिडिका तथा अग्न्याशय।	आमाशय का प्लैहिक भाग, प्लीहा, आमाशय का अन्तिम भाग, बृहदन्त्र का प्लैहिक कोण, वामवृक्क का ऊर्ध्वाधोंश तथा वाम अधिवृक्क कोष।
४. दक्षिण कटि	**५. नाभि**	**६. वाम कटि**
आरोही बृहदन्त्र, दक्षिण वृक्क का निम्न भाग, क्षुद्रान्त्र की कुड लिका का कुछ अश।	अनुप्रस्थ बृहदन्त्र, वपा तथा मध्यान्त्र का अधिकाश, ग्रहणी का अनुप्रस्थ भाग, क्षुद्रान्त्र के मध्य और अन्त्य भाग की कुंडलिका का कुछ अश।	अवरोही बृहदंत्र, वपा का कुछ अश, वृक्क का निम्न भाग, क्षुदांत्र का कुछ अंश।
७. दक्षिण कुक्षि	**८. वस्ति**	**९. वाम कुक्षि**
उण्डुक, अत्रपुच्छ, बीजकोश तथा गवीनी।	अन्त्रकुण्डलिका, वस्ति (वच्चों में) प्रसारित वस्ति (युवा में), गर्भाशय (गर्भकालीन)।	बृहदन्त्रकुण्डलिका, गवीनी तथा बीजकोष।

शय्या के पायताने की ओर से नीचे झुक कर उदर की दर्शन परीक्षा करनी चाहिए। इसमें निम्नांकित वातों पर ध्यान देना चाहिए।

१. उदर की आकृति—उदर की आकृति सामान्य है या उदर बढ़ा हुआ है तथा उदर बढा है तो यह वृद्धि सर्वांगीण है या एकदेशीय तथा सम है या विषम इसे देखना चाहिए। उदर-वृद्धि सामान्यत निम्नांकित कारणों से होती है:—

१. जल (Fluid) २. मेद (Fat) ३. वायु (Flatus) ४. अर्बुद (Tumour) ५. पुरीष (Faeces) ६. गर्भ (Foetus)।

वायु के द्वारा वृद्धि होने पर उदर का अग्रभाग गोलाकृति बढता है और वृद्धि ह्रास में अचानक परिवर्तन होता रहता है।[1] उदर में जल भरने पर (जलोदर में) उदर मण्डलाकार सामने की ओर चपटा तथा पार्श्वभाग में फूला होता है।[2] वृहदंत्र में अवरोध होने पर उदर का पार्श्वभाग बढ जाता है तथा क्षुद्रान्त्र में अवरोध होने पर उदर का मध्यभाग बढता है।[3] छिद्रोदर में नाभि के नीचे वृद्धि होती है।[4] अन्त्रवृद्धि में वंक्षणप्रदेश में आँतों के उतरने के समय शोथ होता है।[5] नाभिस्थ अन्त्रवृद्धि में नाभिप्रदेश फूल जाता है। कोई अर्बुद होने पर स्थानिक उभार होता है। यकृद्दाल्युदर में दक्षिण कुक्षि तथा प्लीहोदर में वाम कुक्षि में विशेष उभार होता है।

२ **नाभि की स्थिति**—नाभि की स्थिति देखनी चाहिए। नाभि केन्द्रभाग में है या नहीं? तथा 'नाभि स्वाभाविक गम्भीर है या उलटी हुई है' यह भी देखना चाहिए। उदरवृद्धि में नाभि उलट जाती है।[6] अन्त्रवृद्धि में नाभि बाहर की ओर निकल आती है और दबाने पर फिर भीतर की ओर चली जाती है। यह विकार विशेषत: बालकों में सहजरूप में देखा जाता है।

३. **उदर का पृष्ठभाग**—उदर के पृष्ठ पर नीली रेखायें या श्वेत रेखायें यदि उभरी हों तो देखना चाहिए। सामान्यत: वातोदर, यकृद्दाल्युदर (Liver cirrhosis), उदरगत कैन्सर तथा अधरा महासिरा में अवरोध के कारण उदर पर नीली सिरायें उभर आती हैं। श्लेष्मोदर, गर्भावस्था में या अर्बुद के कारण उदरवृद्धि में उदर पर श्वेत रेखायें (Lineae albicantes) उभर आती हैं।

---

१ 'तत्र वातोदरे-श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धिह्रासवत्।' (मा. नि)
२. 'तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरम्' (च. चि १३)
३. 'हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुद वदन्ति।' (मा. नि)
'उदरं प्रायो नाभ्युपरिगोपुच्छवदभिनिर्वर्तते।' (च. चि. १३)
४ 'नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम्।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टम्—' (मा. नि)
५. 'पवनो विगुणीकृत्य स्वानिवेशादधो नयेत्।
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा॥' (मा. नि)
६. 'स्निग्धं महत्तत् परिवृत्तनाभि समाततं पूर्णमिवाम्बुना च।' (मा. नि.)

बहुप्रसूता स्त्रियों में तो यह स्थायी हो जाती हैं। पित्तोदर में पीत या ताम्रवर्ण की सिरायें स्पष्ट होती हैं।[1] स्निग्धता-रूक्षता का भी ज्ञान करना चाहिए। श्लेष्मोदर में उदर स्निग्ध और वातोदर में रूक्ष होता है।[2] उदरवलियों को भी देखना चाहिए। उदर रोग के पूर्वरूप में वलीनाश मुख्य लक्षण है।[3]

४. **हृदयाधरिक प्रदेश में स्पन्दन** (Epigastric pulsation)—

सामान्यतः यह स्पन्दन थोड़ा बहुत प्रतीत होता है किन्तु हृदयावरोध के कारण यकृद्विकार होने पर यह स्पन्दन विशेष मिलता है। वातप्रकृति के व्यक्तियों में भी यह स्पष्ट होता है।

५. **दृश्य परिसरणगति** (Visible peristalsis)—

अन्त्र की परिसरणगति यदि दृश्य हो तो यह दुर्बलता का सूचक है। अन्त्रावरोध में भी ऐसा होता है।[4]

६. **श्वासकालीन गति** (Movement during respiration)—

श्वास लेते समय उदर की गति का अवलोकन करना चाहिए। उदरावरणशोथ (Peritonitis) में यह गति कम या अनुपस्थित हो जाती है। स्थानिक शोथ होने पर वहाँ की गति नष्ट हो जाती है जबकि शेष प्रदेशों में गति होती है। श्वासकाल में उदरस्थ अंगों की गति पर भी ध्यान देना चाहिए। इस दृष्टि से इन अंगों का निम्नांकित विभाजन किया गया है:—

(क) **प्रभूतगतिशील:—**

१. यकृत् २. आमाशय ३ अनुप्रस्थ बृहदन्त्र ४. प्लीहा ५. पित्ताशय

(ख) **अल्पगतिशील:—**

१. वृक्क।

---

१. 'उदरं तन्वसितराजीसिरासन्ततम् एतद्वातोदरं विद्यात्।'
'उदरं नीलपीतहारिद्रहरितताम्रराजीसिरावनद्ध''एतत्पित्तोदरं विद्यात्।'
'उदरं शुक्लराजीसिरासन्तत''एतच्छ्लेष्मोदरं विद्यात्।' (च चि. १३)

२. 'उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत्'। (मा. नि.)

३ 'राजीजन्म वलीनाश इति लिंगं भविष्यताम्।' (च चि १३)

४. 'उदरं मूढवातं नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्त्तते इति—एतत् बद्धगुदोदरं विद्यात्।' (च चि. १३)

(ग) गतिरहितः—

१. अग्न्याशय २. वस्ति ३. गर्भाशय

स्पर्शन—उदर की स्पर्शन-परीक्षा के लिए रोगी को लिटा कर पैर ऊपर की ओर मोड़ देना चाहिए जिससे उदर की पेशियाँ शिथिल हो जाँय। फिर हाथ को उदर पर समानान्तर रख कर अगुलियों के अग्रिम मांसल भाग से हलके दबावे इससे निम्नांकित बातों का परिज्ञान होता है :—

१. दबाने पर यदि पीड़ा प्रतीत हो तो इससे तत्स्थानीय व्रणशोथ का अनुमान होता है। मार्दव-काठिन्य का पता भी चलता है। वातपित्तोदर में उदर मृदु एवं कफोदर में कठिन होता है। शैत्य-उष्णता का भी ज्ञान होता है। पित्तोदर में उदर उष्णस्पर्श तथा कफोदर में शीतस्पर्श होता है। स्निग्धता-रूक्षता का भी पता लगाना चाहिए। कफोदर में उदर स्निग्ध और वातोदर में रूक्ष होता है।[1]

२. गुल्म, अर्बुद आदि वृद्धियों का पता चलता है।

३. आध्मान[2] का परिज्ञान होता है। उदावर्त्त और वातोदर में विशेष लक्षित होता है।

४. उदरस्थ जल का ज्ञान तरंग-परीक्षा (Fluctuation test) से होता है। एक पार्श्व में दबाने पर जल की तरंगें दूसरे पार्श्व तक जाती हुई प्रतीत होती हैं। इससे जलोदर का निर्णय होता है।[3]

५. बृहदन्त्र या उण्डुक में स्थित मलग्रथियों का पता लगता है।

६. यकृत्-प्लीहा आदि अंगों की सीमा का निर्धारण होने से उनकी स्थिति का ज्ञान होता है। यकृद्दाल्युदर या प्लीहोदर के निर्णय में यह सहायक होता है।

७. अन्त्रवृद्धि के लिए नाभि, वंक्षण आदि प्रदेशों की परीक्षा करनी चाहिए।

---

१. 'पीतताम्रसिरानद्ध सस्वेद सोष्म दह्यते।
धूमायते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते॥
उदरं स्तिमित स्निग्ध शुक्लराजीततं महत्।
चिराभिवृद्ध कठिनं शीतस्पर्शं गुरुस्थिरम्॥' (मा. नि.)

२. 'आध्मानं ध्मातमिव वातेनोदरपूरणम्।' (आ. द)

३ 'कुक्षेरतिमात्रवृद्धिः सिरान्तर्धानगमनमुदकपूर्णदृतिसंक्षोभस्पर्शत्वं च।' (च. चि. १३)

आकोठन—उदर पर एक हाथ रख कर दूसरे हाथ की मध्यमा या तर्जनी अंगुलि से उस पर हलका आघात कर आकोठन परीक्षा करनी चाहिए। उदर मे ठोस या द्रव पदार्थ होने पर तथा यकृत् और प्लीहा के स्थान पर मन्द ध्वनि[1] (Dull note) एवं रिक्त उदर में रिक्त ध्वनि[2] (Resonant sound) होती है। आध्मान में अतिरिक्त ध्वनि (Hyper-resonance) मिलती है उदरस्थ जल यदि स्वतंत्र हो तो वह रोगी के पार्श्व-परिवर्तन से दूसरे पार्श्व में चला जाता है और ऊपर का पार्श्व रिक्तध्वनि युक्त तथा निचला पार्श्व जलयुक्त होने के कारण मन्दध्वनि युक्त होता है। पार्श्व परिवर्त्तन से कभी दृतिक्षोभवत् शब्द (Splashing sound) होता है।

उदरस्थ जल की परीक्षा एक विशिष्ट आकोठन विधि (Percussion test) से भी होती है। उदर के एक पार्श्व में हाथ रख कर दूसरे पार्श्व में आघात किया जाता है। इससे पहले पार्श्व में जल की तरंगों की प्रतीति होती है।[3]

मापन (Measurement)—

मापन भी स्पर्शन-परीक्षा का एक अंग है। इससे उदरवृद्धि का परिमाण पता चलता है। इसके लिए चार नाप लिए जाते हैं:—

१. नाभि से ऊपर वक्षोस्थि के निम्न तरुणास्थि भाग तक।

२. नाभि से नीचे भगास्थि के शीर्षभाग तक।

३. नाभि से दक्षिण पूर्वोर्ध्वकूट तक।

४. नाभि से वाम पूर्वोर्ध्वकूट तक।

सामान्यतः ये चारों नाप बराबर होते हैं। जलोदर में नं० २ नाप अधिक हो जाता है तथा गुल्म में नं० १ नाप बढ जाता है।

गुद-परीक्षा (Rectal examination)—

हाथ को खूब साफ कर विसंक्रमित रबर का दस्ताना पहन ले और तर्जनी अंगुलि को स्निग्ध कर गुदा में भीतर प्रविष्ट कर अर्श के अंकुरों की परीक्षा करे। शुष्क खर-तीक्ष्ण विम्बी, खजूर, वेर, कदम्बपुष्प या सरसों के आकार के श्याव-

---

१. 'तत्र पिच्छोत्पत्तौ ''उदर ''आकोठितमशब्दम्।' (च चि १३)

२. 'आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च।' (मा नि)

'आहतमाध्मातदृतिशब्दवद्भवति।' (च. चि १३)

३. 'यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्।' (मा नि)

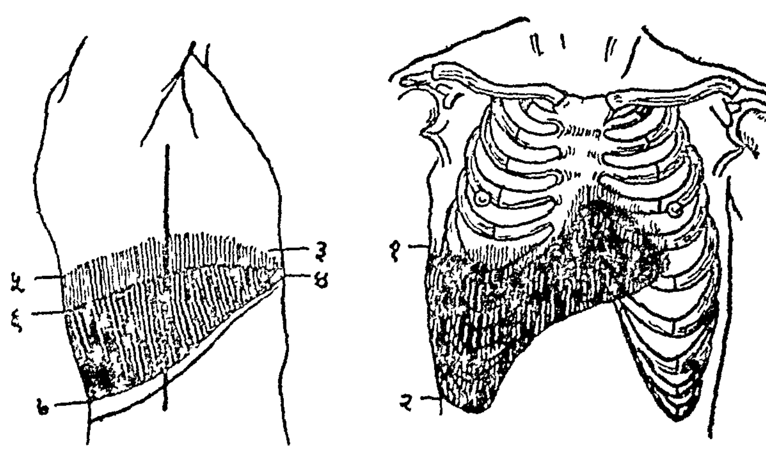
वर्ण अर्श वातिक, मृदु-शिथिल-तनु शुकजिह्वा, यकृत्खण्ड, जलौकामुख के सदृश यवाकार नीलपीतवर्ण अर्श पैत्तिक, स्निग्ध-पिच्छिल-श्लक्ष्ण-स्थिर करीर या पनस की अस्थि के सदृश वृत्ताकार या गोस्तनाकार श्वेतवर्ण अर्श श्लैष्मिक तथा पैत्तिक अर्श के समान वटप्ररोह, प्रवाल, गुञ्जा के सदृश रक्तवर्ण अर्श रक्तज होते हैं।[1]

श्रवण परीक्षा—उदरावरणशोथ में यकृत्-प्लीहा के प्रदेश में घर्षणध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्त्रघात में ध्वनि का अभाव हो जाता है इसे निस्तब्ध उदर (Silent abodomen) कहते हैं।

यान्त्रिक परीक्षा—जीर्ण और कठिन रोगों में 'क्ष' किरण, बृहदन्त्रदर्शक, गुददर्शक, अन्त्रनलिकादर्शक आदि यंत्रों द्वारा परीक्षा की जाती है।

यकृत्

यकृत् मुख्यतः दक्षिण कुक्षिप्रदेश में रहता है। इसका वाम पिण्ड हृदयाधरिक प्रदेश से होकर वाम कुक्षि तक फैला रहता है।



चित्र—११ यकृत् का मन्दध्वनि-क्षेत्र

१ ऊर्ध्वसीमा २. अधःसीमा ३. पञ्चम पर्शुका ४. षष्ठ पर्शुका ५. नवम पर्शुका ६ दशम पर्शुका ७. द्वादश पर्शुका

उत्तान मन्दध्वनि-क्षेत्र हलके रंग से तथा गंभीर मन्दध्वनि-क्षेत्र गहरे रंग से निर्दिष्ट है।

---

१. 'गुदांकुराः बह्वनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः॥
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः।
बिम्बीखर्जूरकर्कन्धुकार्पासीफलसन्निभा॥
केचित् कदम्बपुष्पाभाः केचित् सिद्धार्थकोपमाः।'

यकृत् की परीक्षा मुख्यत: दर्शन, स्पर्शन और आकोठन से होती है। कभी-कभी यान्त्रिक परीक्षा भी करनी पड़ती है।

परीक्षा:—दर्शन-परीक्षा में निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिए:—

१ यकृत् विकारों में प्राय: कामला हो जाता है जिसके कारण सर्वप्रथम नेत्र तथा मूत्र और पश्चात् समस्त शरीर में पीलिमा उत्पन्न होती है। अत: यकृत् विकार का सन्देह होने पर कामला पर ध्यान अवश्य जाना चाहिए। इसका विस्तृत वर्णन वर्ण परीक्षा में किया जा चुका है।

२. यकृत् के व्रणशोथ में साँस लेने पर वक्ष का पूरा विस्तार नहीं होता और पीड़ा होती है। यकृत् का निचला किनारा श्वास-प्रश्वास के साथ नीचे-ऊपर गति करता प्रतीत होता है। अत: रोगी को श्वास लेने के लिए आदेश देकर उसके वक्ष की गति तथा उसके साथ यकृत् की गति पर ध्यान देना चाहिए।

३. यकृद्दाल्युदर तथा प्रतिहारिणी-अवरोध में मुखमंडल एवं उदर पर सिरायें फूल जाती हैं और स्पष्टतः प्रतीत होने लगती हैं। इन्हें देखना चाहिए।[१]

४. यकृत् के अर्बुद, विद्रधि आदि का परिज्ञान क्ष-किरण-परीक्षा से करना चाहिए।

स्पर्शन:—स्पर्शन-परीक्षा से यकृत् की वृद्धि, शूल, अर्बुद आदि का ज्ञान होता है।

१. यकृद् वृद्धि—रोगी के दाहिनी ओर खडे होकर दाहिना हाथ श्रोणिफलक की जघनधारा के ठीक ऊपर उदर के समानान्तर रखिये। वहाँ से ऊपर और भीतर की ओर दबाते जाइये। यदि यकृत् बढा होगा तो तर्जनी अंगुलि पर सर्वप्रथम उसकी अधोधारा का स्पर्श प्रतीत होगा, अन्यथा नही। सामान्यत: युवा

'पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः।
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः॥
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः ।'
श्लेष्मोल्वणाः महामूला घना मन्दरुज: सिताः।
उत्सन्नोपचितस्निग्धस्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः ॥
पिच्छलाः स्तिमिता श्लक्ष्णगाः कण्डवाढ्याः स्पर्शनप्रियाः।
करीरपनसास्थ्याभास्तथगोस्तनसन्निभाः ॥' (मा. नि)

'रक्तानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च (सु नि ?)

१ 'उदरमरुणवर्णं विवर्णं वा नीलहरितहारिद्रराजिमद् भवति, एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात्।' (च. चि. १३)

व्यक्तियों में यकृत् पर्शुका तोरण के भीतर रहता है। अतः उसे प्रतीत नहीं किया जा सकता है, केवल वृद्धि होने पर वह बाहर आ जाता है। बच्चों में स्वभावतः कुछ बड़ा होने से वह पर्शुकातोरण के नीचे रहता है और उदर में प्रतीत किया जा सकता है।

२. **यकृच्छूल**—यकृत् बढा होने पर उसके पृष्ठभाग को अंगुलियों द्वारा दबा कर स्पर्श-पीड़ा, श्लक्ष्णता-खरता, अर्बुद एवं स्पन्दन का पता लगाना चाहिए। यकृत् में कोई व्रणशोथ होने पर वहाँ दबाने से पीड़ा होती है। यकृद्दाल्युदर[1] में यकृत् की वृद्धि समान रूप से होती है और पृष्ठ भाग श्लक्ष्ण-रूप होता है। यकृत् के कैन्सर में पृष्ठभाग पर अनेक ग्रंथियाँ होती हैं जिनके कारण यकृत्प्रदेश ऊबड़ खावड़ प्रतीत होता है। हृद्रोग (त्रिपत्रक रक्त-प्रत्यावर्तन) में समस्त यकृत् प्रदेश में स्पन्दन का अनुभव किया जा सकता है।

आकोठन—यकृत् ठोस होने के कारण आकोठन करने पर इसकी ध्वनि मन्द होती है। अत ऊपर की ओर फुफ्फुसों से आकोठन प्रारम्भ कर नीचे की ओर क्रमश स्तनरेखा से अंसरेखा तक आने से जहा मन्द ध्वनि प्रारम्भ होती है वहा यकृत् की ऊर्ध्वधारा समझनी चाहिए। नीचे की ओर उदर में भी रिक्त ध्वनि होती है। वहां से आकोठन प्रारम्भ कर ऊपर की ओर बढना चाहिए। यकृत् की अधोधारा से मन्द ध्वनि प्रारंभ हो जाती है। इस आकोठन विधि से यकृत् के उत्तान मन्दक्षेत्र (Area of Superficial dullnes) का पता लगाता है।

यकृत् विद्रधि या ग्रथि आदि में अधिक गंभीर आकोठन करना पड़ता है जिससे फुफ्फुसों के द्वारा आवृत यकृत् प्रदेश की गंभीर मन्दध्वनि (Deep Dulness) का पता चलता है।

यकृत्-क्षेत्र

उत्तान मन्दध्वनि-क्षेत्र—	**स्तनरेखा**	**कक्षारेखा**	**अंसरेखा**
ऊर्ध्वधारा—	६ ठी	८ वी	१०वी पर्शुकापर
मन्दध्वनि का क्षेत्र लबाई में—	२½	४	३ इञ्च
गंभीर मन्दध्वनि-क्षेत्र—			
ऊर्ध्वधारा—	५ वी	७ वी पर्शुकान्तराल	९ वी पर्शुका
मन्दध्वनि का क्षेत्र लबाईमें—	४	५	४ इञ्च

१ 'सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदर तदेव।' (मा नि)

यकृत् की परीक्षा में कठिनाइयाँ—

पूर्ण भोजन, मलसंचय, स्थूल वपा, पेशी-काठिन्य एवं उदरशोथ के कारण यकृत् की परीक्षा मे कठिनाई होती है। अतः प्रातःकाल शौच के अनन्तर खाली पेट उपयुक्त स्थिति में यकृत् की परीक्षा करनी चाहिए।

निम्नाकित अवस्थाओं में यकृत् का मिथ्याक्षय प्रतीत होता है—

१. वायु के द्वारा आमाशय या अन्त्रों का प्रसार।

२. यकृत्स्नायुकोष का संकोच।

३. वातोरस।

४. आमाशय या अंत्र के विदार से उदरावरण में वायु भर जाना।

निम्नाकित अवस्थाओं में यकृत् के स्थानच्युत होने से उसकी मिथ्यावृद्धि प्रतीत होती है—

१. वातोरस, फुफ्फुसावरणशोथ आदि।

२. वक्षीय अर्बुद।

३. हृदय-प्रसार या हृदयावरण में जल भर जाना।

अत: यकृत् की परीक्षा करते समय उपर्युक्त बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

पित्ताशय (Gall bladder)

स्पर्शन—रोगी को सीधा लिटाकर तथा जानुओं को ऊपर की ओर मोड़ कर रोगी को सास लेने को कहें या रोगी बैठ कर थोड़ा आगे की ओर झुक जाय और जानुओं को भी मोड़ ले। रोगी जब गहरी सास ले तब अंगुलियों से दक्षिण पर्शुकाओं के नीचे दबावें। यदि पित्ताशय बढा होगा तो नवम दक्षिण पर्शुका-तरुणास्थि के अग्रभाग पर एक पीड़ायुक्त गोलाकार ग्रथि के रूप में प्रतीत होगा। श्वासप्रश्वास के साथ इसकी गति ऊपर नीचे भी होती है किन्तु पार्श्व में गति नहीं होती। अधिक वृद्धि होने पर आकोठन के द्वारा इसमे मन्दध्वनि मिलती है और इसका विस्तार दक्षिण श्रोणिखात (Right iliac fossa) तक होता है। कैन्सर होनेपर उसका पृष्ठ भाग कड़ा और ग्रथियुक्त प्रतीत होता है। यदि पित्ताशय अधिक नही बढा हो और केवल शोथ हो तो दक्षिण उदरदण्डिका के उर्ध्व भाग में काठिन्य मालूम होता है। यदि यकृत् की अधोधारा को तीन भागों

में विभक्त किया जाय तो रोगी के गहरी सांस लेते समय मध्यम भाग के दबाने पर पीड़ा होती है, अन्य भागों में नहीं। पीड़ा के कारण रोगी गहरी सांस भी नहीं ले सकता। इसे मर्फी का चिह्न (Murphy's sign.) कहते हैं।

पित्ताशय के रोगों में पीड़ा फैल कर पीठ की ओर भी जाती है। अतः ११-१२ वीं दक्षिण पर्शुका, ४ वीं और ८ वीं वक्षीयकशेरुकंटक तथा पृष्ठवंशीय पेशियों (विशेषत: दक्षिण भाग की) पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पित्तनलिका-शोथ में वक्षोस्थि का अग्रपत्र दबाने से पीड़ा होती है इसे अग्रपत्र-चिह्न (Xiphoid Sign) कहते हैं। पित्ताशय की वृद्धि पिताश्मरी तथा अग्न्याशयार्बुद के कारण होती है। यदि पित्ताशयवृद्धि के साथ साथ कामला भी हो तो पित्ताश्मरी नहीं होगा अन्य कारण होगी। यदि पित्ताश्मरी के साथ कामला हो तो पित्ताशय-वृद्धि नहीं होगी। इसे कार्वोजियर का नियम (Courvoisier's Law) कहते हैं।

श्रवण—कभी कभी श्रवण परीक्षा के द्वारा पित्ताशयशोथ में वहा घर्षणध्वनि सुनाई पड़ती है।

यान्त्रिक परीक्षा—क्ष-किरण द्वारा पित्ताश्मरी, अर्बुद आदि तथा पित्ताशय-दर्शक यंत्र (Cholecystograph) द्वारा पित्ताशय की क्रिया की परीक्षा की जाती है।

प्लीहा

दर्शन—प्लीहावृद्धि अधिक होने पर दर्शन-परीक्षा द्वारा प्लीहा के प्रदेश में उभार प्रतीत होता है जो श्वास के साथ गति करता है।

स्पर्शन—रोगी को शय्या पर सीधा लिटा कर उसके दाहिनी ओर खड़े हो जाँय। बायाँ हाथ उदर के ऊपर से ले जाकर वाम एकादश पर्शुका के पीछे रक्खें। दाहिना हाथ उदर के समानान्तर रक्खें तथा अंगुलियाँ ११ वीं पर्शुका के नीचे रहें। रोगी को गहरी साँस लेने कहे और बायें हाथ से ऊपर की ओर दबाकर दाहिने हाथ से स्पर्श करें। यदि प्लीहा बढ़ी होगी[1] तो उसकी पूर्व धारा

---

१. 'प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति।
तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति'— (मा. नि.)

पर स्थित खात प्रतीत होगा और यह श्वास-प्रश्वास के साथ नीचे ऊपर गति करेगा। प्लीहा के बढ़ने पर उसकी पश्चिम धारा और पृष्ठवंशीय पेशियों के बीच अवकाश स्पष्ट हो जाता है जिसमें अंगुलियाँ प्रविष्ट की जा सकती हैं।

कभी-कभी प्लीहा की यथार्थ वृद्धि न होने पर भी विकृत वक्ष, फुफ्फुसावरण-शोथ, वातोरस आदि के कारण स्थानच्युति होने पर प्लीहा का स्पर्श प्रतीत होता है।

आकोठन—स्वभावतः प्लीहा पर्शुकावलय के भीतर नवी पर्शुका की ऊर्ध्व-धारा से ११ वीं पर्शुका की अधोधारा तक वाम कुक्षि में वक्षीय एवं अंसीय रेखाओं के बीच रहती है। इसका ऊपरी $\frac{1}{3}$ भाग फुफ्फुस से आवृत रहता है।

वाम कक्षा के मध्यभाग से तिरछे, सामने और नीचे की ओर नाभि तक यदि एक रेखा (Gairdner's line) खीची जाय तो इस समस्त रेखा पर आकोठन मे स्वभावतः रिक्त ध्वनि मिलनी चाहिए। सामान्यतः प्लीहा इस रेखा के पीछे रहती है किन्तु वृद्धि होने पर यह रेखा के मध्यम तथा निम्न तृतीयांशों के संधिस्थल को स्पर्श करने लगती है और वहाँ आकोठन करने पर मन्दध्वनि[1] मिलने लगती है। प्रश्वास के बाद आकोठन परीक्षा करना अच्छा है क्योंकि इस समय फुफ्फुस खाली होने से प्लीहा अधिक अनावृत होती है।

कभी कभी आर्द्र फुफ्फुसावरणशोथ या वाम फुफ्फुस के सान्द्रीभवन से प्लीहा-वृद्धि के समान मन्द ध्वनि मिलती है। इसके विपरीत, वातोरस या कोष्ठवात के कारण मन्दध्वनि का क्षेत्र कम मालूम होता है। भ्रमणशील प्लीहा (wandering Spleen) या उसका सहज अभाव होने पर मन्दध्वनि बिलकुल नही मिलती। परीक्षाकाल में इन बातों पर भी ध्यान रखना चाहिए।

रक्तवह संस्थान

दर्शन—रोगी की शय्या के पायताने खडे होकर सावधानी से दर्शन परीक्षा करनी चाहिये। इसमें निम्नाकित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

---

१. 'तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमान कच्छपसंस्थानः उपलभ्यते। स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिवर्त्तयति। (च चि १३)

१ **रोगी की आकृति**—यद्यपि अष्टस्थान-परीक्षा का वर्णन हो चुका है। तथापि हृद्रोग में विशेषतः इस प्रकरण में उसे पुनः देखना आवश्यक है। निम्नांकित आकृतियां हृद्रोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—

रक्ताभ मुखमण्डल—जन्मोत्तर द्विपत्रकपाटीय संकोच में।

अविकसित देह तथा रक्ताभनील आकृति—सहज फुफ्फुसकपाटीय संकोच में।

क्षीण देह, शुष्क आकृति, उभरी शंखीय धमनियाँ—हृद्रक्तवह अपकर्ष में।

पीताभ, मृत्तिकावर्ण, चिन्तित मुद्रा—संक्रामक हृदन्तःशोथ में।

वृहत् श्वेत मुखाकृति—वृक्क रोग में।

नीलाभ आकृति—सहज द्विपत्रकपाट-विकार तथा हृत्कार्यावरोध में।

चिन्तित मुद्रा—हृच्छूल में।

पाण्डुर, शोथयुक्त आकृति—हृदयावरणशोथ मे देखा जाता है।

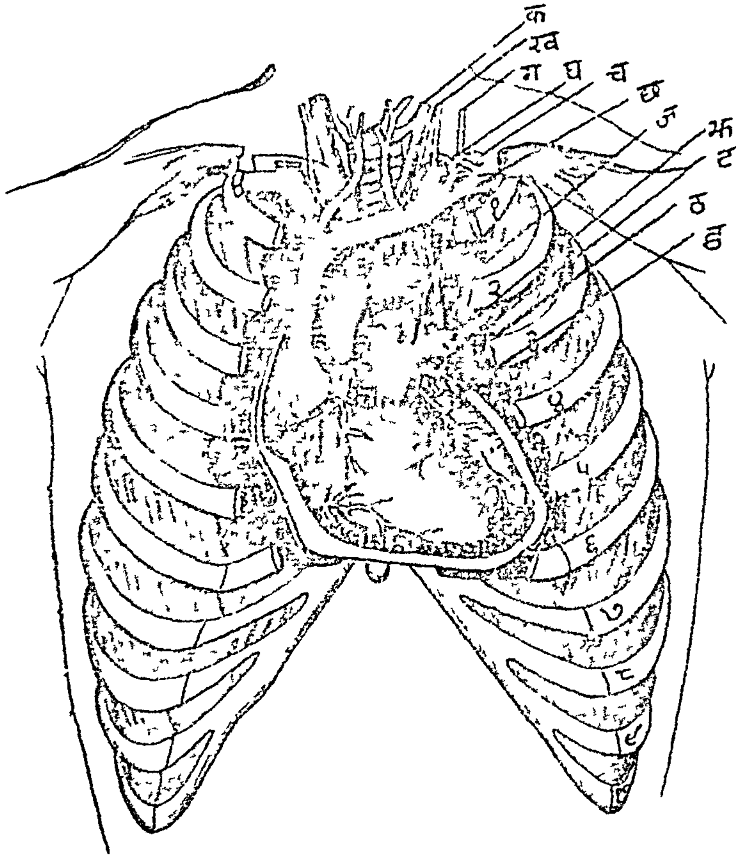
२. **शरीर की स्थिति**—हृद्रोगों में प्रायः रोगी दुर्बल हो जाता है और श्वासकष्ट का अनुभव करता है। अत वह तकिये के सहारे बैठकर (आसीन-स्थिति में) साँस लेता रहता है। जीर्ण हृद्रोगों में अंगुलियों का अग्रभाग मुद्गर के समान स्थूल हो जाता है। इसे 'मुद्गरीभवन' (Clubbing) कहते हैं। अवटुग्रन्थि की वृद्धि भी देखनी चाहिए।

३. **वक्ष की आकृति**—हृदय-प्रदेश की आकृति पर ध्यान देना चाहिए। सहज हृद्रोग में यह उभरा हुआ होता है। हृदयावरण की संसक्ति में संकोचकाल में हृदयाग्रभाग का वक्षप्रदेश भीतर की ओर खीच जाता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वामाशयिक भाग तथा पृष्ठ में होता है। इसे 'ब्रोडवेन्ट का चिह्न' (Broadbent's sign) कहते हैं।

४. **सिराओं की स्थिति**—सिराओं का उभार विशेषतः उदरप्रदेश तथा वक्ष में प्रतीहारिणी सिरावरोध के कारण होता है। सिराओं के स्पन्दन पर भी ध्यान देना चाहिए। विशेषत ग्रीवा और आमाशयिक प्रदेशों की सिराओं को

अवश्य देखना चाहिए। महाधमनी-कपाट के प्रत्यावर्त्तन में ग्रीवा की सिराओं में तीव्र स्पन्दन होता है।

५. (क) **हृत्प्रतीघात का स्थान**—दुर्बल और कृश व्यक्तियों में हृत्प्रतीघात का स्थान स्पष्ट मालूम होता है। स्वभावतः यह पंचम पर्शुकान्तराल में मध्याक्षकीय रेखा के आधा इंच भीतर की ओर तथा मध्यवक्षीय रेखा से तीन इञ्च की दूरी पर होता है।[२]



चित्र १२—हृदय की स्थिति

क अन्तर्मातृकाधमनी ख प्राणदा नाडी तथा स्वरयन्त्रीय नाडी ग. प्राचीरिका नाडी घ रसकुल्या च वाम अक्षकाधरीय धमनी छ. वाम अक्षकाधरीय सिरा ज धमनीकुल्या झ. फुफ्फुसी धमनी ट फुफ्फुसी सिरा ठ श्वासप्रणालिका ड अलिन्दपुच्छ

२. 'द्व्यंगुलं हृदयम्'—(च वि. ८)

(ख) **स्वरूप**—हृत्प्रतीघात तीव्र और केन्द्रित या मन्द तथा प्रसरणशील है इसे भी देखना चाहिए। हृदय की वृद्धि होने पर हृत्प्रतीघात तीव्र हो जाता है।

स्पर्शन—स्पर्शन के द्वारा हृत्प्रतीघात के स्थान, स्वरूप और सङ्ख्या का ज्ञान किया जाता है।

(क) **हृत्प्रतीघात का स्थान**—हथेली को वक्ष पर चपटे रखकर हृत्प्रतीघात का प्रत्यक्ष करना चाहिए। उसके बाद अगुलियों के अग्रभाग से उसका निश्चित स्थान-निरूपण करना चाहिए। दर्शन-परीक्षा के प्रसग में हृदय का प्राकृत स्थान बतलाया गया है किन्तु यह आयु के अनुसार विभिन्न होता है। बच्चों में ६ वर्ष की उम्र तक हृदयाग्र स्तन-रेखा के बाहर प्राय चतुर्थ पर्शुकान्तराल में होता है। दक्षिणभाग में भी यह वक्षोस्थि की दक्षिण धारा के भी बाहर निकला रहता है। हृदयाग्र का निश्चित स्थाननिरूपण मध्याक्षकीय रेखा से किया जाता है। सामान्यत वक्षोस्थि की मध्यरेखा से हृदयाग्र की दूरी नापी जाती है और फिर ग्रीवा की मध्यरेखा से वाम अक्षकास्थि के मध्यभाग तक नाप लिया जाता है। प्राकृत स्थिति में ये दोनों नाप समान होने चाहिए। कम से कम हृदयाग्र तो किसी भी दशा में इसके बाहर (बाईं ओर) नही होना चाहिए। हृदयाग्र कभी-कभी पर्शुका के पीछे या दक्षिण पार्श्व में (दक्षिणहृदयता–Dextrocardia) होता है, तब परीक्षा में थोड़ी कठिनाई होती है।

वातोरस या आर्द्र फुफ्फुसावरणशोथ में हृदयाग्र नीचे की ओर हट जाता है। यदि ये विकार वामपार्श्व में हों तो हृदयाग्र वक्षोस्थि की दक्षिण धारा के भी बाहर चला जाता है। हृदयावरणशोथ, फुफ्फुससंकोच, आध्मान और उदरस्थ अर्बुद के कारण हृदयाग्र ऊपर की ओर हट जाता है।

(ख) **हृत्प्रतीघात का स्वरूप**—हृत्प्रतीघात दो प्रकार का होता है:— (१) तीव्र और केन्द्रित (२) मन्द और प्रसरणशील।

तीव्र हृत्प्रतीघात हृदय-वृद्धि के कारण होता है और महाधमनी-रक्तप्रत्यावर्त्तन, रक्तभाराधिक्य तथा हृदयावरणसंसक्ति में पाया जाता है। मन्द और प्रसरणशील हृत्प्रतीघात हृदय विशेषतः उसके वाम निलय की दुर्बलता का सूचक है। यह निम्नांकित अवस्थाओं में मिलता है:—

१ जब वाम निलय में रक्त पूरा नही आता फलतः उत्तेजना कम होने से संकोच भी पूर्ण नही होता यथा—द्विपत्रकपाटसंकोच ।

२. हृत्पेशी के दौर्बल्य से यथा—हृत्पेशीशोथ, मेदस हृदय आदि ।

३. हृत्पेशी के विषाक्त होने से यथा—विषजन्य हृत्पेशीशोथ ।

वाम निलय की वृद्धि में हृत्प्रतीघात नीचे और बाहर की ओर हट जाता है तथा प्रतीघात तीव्र और प्रबल होता है। दक्षिण निलय की वृद्धि में हृदयाग्र तो प्राकृत स्थान में रहता है किन्तु आमाशयिक प्रदेश तथा निम्न पर्शुकान्तराल भागों में स्पन्दन होता है। हृदयविस्तृति में हृत्प्रतीघात अस्पष्ट और तरंगित होता है। वक्ष में पेशी तथा मेद के बाहुल्य से या वातोरस (Emphysema) के कारण हृत्प्रतीघात स्पष्ट नही प्रतीत होता। मेदस हृदय में यह प्रतीघात अति क्षीण होता है। सजल हृदयावरणशोथ तथा निलय-विस्तृति में प्रतीघात तरंगित होता है। हृदयावरण-संसक्ति एव हृदय-वृद्धि के कारण संकोचकाल में हृत्प्रदेश भीतर की ओर खींच जाता है।

(ग) **हृत्प्रतीघात की संख्या**:—हृत्प्रतीघातों की संख्या ठीक से गिननी चाहिए और नाड़ी की गतिसंख्या से इसकी तुलना करनी चाहिए। हृदयगति नियमित होने पर दोनों में समानता होती है किन्तु अनियमित गति, अधिसंकोच या अलिन्दीय सूत्रमयता की अवस्थाओं में इन दोनों में विभिन्नता होती है। इस अन्तर को नाडीवैभिन्य (Pulse deficit) कहते हैं।

(घ) **स्फुरण** (Thrills)—स्पर्शन के द्वारा स्फुरण की प्रतीति की जाती है तथा उसका निश्चित स्थान देखा जाता है। वह सान्तर है या निरन्तर यह भी देखना चाहिए।

पूर्वसंकोचकालिक (Presystolic) तथा प्रसारकालिक (Diastolic) स्फुरण द्विपत्रकपाटसंकोच में मिलता है। सकोचकालिक (Systolic) स्फुरण द्विपत्रकपाट-रक्त प्रत्यावर्त्तन में हृदयाग्र पर, फुफुसीकपाट-सकोच में फुफुसीय स्थान पर तथा महाधमनीकपाटसकोच तथा धमनाग्रन्थि में महाधमनीकपाट के स्थान में प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, हृदयावरणसघर्ष, सहज हृद्रोग विशेषतः फुफुसीकपाट सकोच तथा अन्तर्निलयकपाटविकृति में भी पाया जाता है।

(च) **अन्य स्पन्दन**—अन्य अंगों में स्पन्दन की परीक्षा भी स्पर्शन द्वारा करनी चाहिए। विशेषत: ग्रीवा, उदर, यकृत्, प्लीहा के स्पन्दन को अवश्य देखना चाहिए। बाहवी धमनियों की स्थिति भी देखनी चाहिए। रक्तभाराधिक्य तथा हृदयवृद्धि में उनमें काठिन्य हो जाता है।

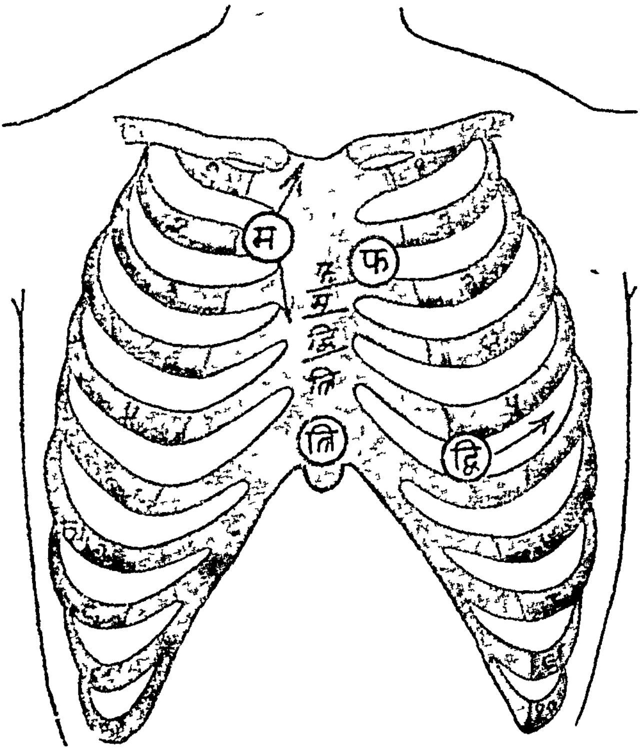
आकोठनः—आकोठन के द्वारा हृदय के स्थान तथा आकार का परिज्ञान होता है। हृत्प्रदेश में इस परीक्षा से मन्द ध्वनि मिलती है। यह मन्दता दो प्रकार की होती है:—(१) उत्तान (Superficial) (२) गम्भीर (Deep)। प्रथम प्रकार की मन्द ध्वनि हलके आकोठन से उत्पन्न होती है और इससे फुफुसों से अनावृत हृत्क्षेत्र की स्थिति का परिज्ञान होता है। वातोरस में यह नहीं मिलता। द्वितीय ध्वनि गंभीर आकोठन से उत्पन्न होती है और इससे फुफुसों से आवृत हृदय प्रदेश का भी पता चलता है और इस प्रकार हृदय के आकार-निरूपण में सहायता मिलती है। प्राकृत हृदय की दक्षिण धारा वक्षोस्थि के किञ्चित् बाहर की ओर, वामधारा हृदयाग्र के कुछ बाईं ओर स्तनरेखा के भीतर की ओर, ऊर्ध्वधारा तृतीय पर्शुकान्तराल के समानान्तर होता है। गम्भीर मन्दध्वनि का क्षेत्र उत्तान की अपेक्षा प्रत्येक पार्श्व में ½ इञ्च तथा ऊपर की ओर १ इंच अधिक होता है। हृद्रोगों के निदान में गंभीर मन्दता का क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह बाहरी कारणों से कम प्रभावित होता है। हृदयावरण में द्रवसंचय, हृदयविस्तृति, सद्रव फुफुसावरणशोथ, मध्यान्तरालीय अर्बुद या धमनीग्रंथि, फुफुस के अर्बुद, घनीभवन तथा संकोच मे गंभीर मन्दध्वनि का क्षेत्र बढ जाता है। इसके विपरीत, वातोरस, वायुकोषविस्तृति तथा सवात हृदयावरण में यह क्षेत्र कम हो जाता है। आकोठन-परीक्षा में निम्नांकित कठिनाइयों को ध्यान में रखना चाहिए:—

१ वातोरस में मन्दता का पता ठीक नहीं लगता।

२. वाम फुफुस के मौत्रिक संकोच के कारण भी मन्दता उत्पन्न होती है और हृदय के तुल्य ध्वनि मिलती है।

३. वक्षस्थ अर्बुद के कारण हृदय स्थानान्तरित होने से भी ध्वनि-निरूपण में कठिनाई होती है। ऐसी ही कठिनाई आर्द्र फुफुसावरणशोथ, जलोदर तथा अन्य उदरवृद्धि में होती है।

श्रवणः—श्रवणयन्त्र (Stethscope) की सहायता से हृदय की गात से उत्पन्न ध्वनियों का प्रत्यक्ष करना चाहिए। चार क्षेत्रों में इन ध्वनियों की परीक्षा की जाती है:—



चित्र १३—हृत्कपाटों का क्षेत्र

म = महाधमनी कपाट फ = फुफ्फुसी कपाट त्रि = त्रिपत्रक कपाट द्वि = द्विपत्रक कपाट

१. हृदयाग्र—यह द्विपत्रकपाट का क्षेत्र है।

२. वक्षोस्थि का अध:प्रान्त—यह त्रिपत्रकपाटीय क्षेत्र है।

३. द्वितीय दक्षिण पर्शुकातरुणास्थि (वक्षोस्थि से सटे हुए)—यह महाधमनी कपाट का क्षेत्र है।

४. द्वितीय वाम पर्शुकान्तराल (वक्षोस्थि से लगे हुए)—फुफुसीकपाट का क्षेत्र है।

इन स्थानों पर प्रतीत ध्वनियों के द्वारा विशिष्ट कपाटों के विकारों का पता चलता है।

सामान्यतः हृदय में दो ध्वनि मिलती है:—१. प्रथम ध्वनि संकोचकालिक होती है और स्वरूप में दीर्घ, मन्द और प्रबल होती है। हृत्प्रतीघात के स्थान पर पचम पर्शुकान्तराल में यह ध्वनि सबसे स्पष्ट प्रतीत होती है। यह ध्वनि दो कारणों से उत्पन्न होती है:—(१) निलयपेशी के सकोच से तथा (२) अलिन्दनिलय-कपाटों के बन्द होने के कारण उत्पन्न कम्पन से। २. द्वितीय ध्वनि प्रसारकालिक, ह्रस्व, तीव्र तथा प्रसरणशील होती है और हृदयाग्र एवं हृदयमूल भाग में द्वितीय पर्शुकातरुणास्थि के समानान्तर सुनी जाती है। यह महाधमनी एव फुफुसीय अर्धचन्द्र कपाटों के बन्द होने से उत्पन्न होती है। कभी कभी प्रसारकाल मे एक तृतीय ध्वनि भी प्रतीत होती है जिसका स्पष्ट परिज्ञान हृदयध्वनि मापक यंत्र (Cardio-phono-graph) के द्वारा किया जाता है। बच्चों में हृदयाग्र पर प्रथम ध्वनि ह्रस्व तथा मूल भाग पर फुफुसीय द्वितीय ध्वनि तीव्रतर होती है। ध्वनियों का क्रम भी अनियमित होता है, अन्त श्वसन के समय ध्वनि-तीव्रतर हो जाती है।

हृदय के विकारों में प्राकृत हृच्छब्दों मे परिवर्तन तो होता ही है अनेक नवीन वैकृत हृच्छब्द आविर्भूत हो जाते हैं। ये 'मर्मरध्वनि' कहलाते हैं। अत. श्रवण-परीक्षा से प्राकृत हृच्छब्द तथा वैकृत हृच्छब्द दोनों को देखना चाहिए।

(क) **प्राकृत हृच्छब्दः—**

(१) हृदय के अग्रभाग पर—

प्रथमध्वनिः—

प्रथम ध्वनि निलयसकोच तथा अलिन्दनिलय कपाटों के बन्द होने के कारण होती है। अत निलयपेशी के विकार तथा कपाटों के वैषम्य के कारण इस ध्वनि मे विकार उत्पन्न होता है। यह विकार निम्नांकित चार प्रकारों का होता है:—

१. ह्रस्वीभवन (Shortening)—कभी कभी यह ध्वनि द्वितीय ध्वनि के सदृश ह्रस्व और तीव्र हो जाती है। यह निलयसंकोच की दुर्बलता का सूचक है तथा व्रणशोथ, क्षय, विषमयता तथा द्विपत्रकपाटसकोच में मिलती है।

२. युग्मीभवन (Reduplication)—हृदय के वाम और दक्षिण भागों के कपाट जब एक साथ बन्द नही होकर क्रमशः बन्द होते हैं तब एक ध्वनि के स्थान पर युग्म ध्वनियाँ थोड़ा अन्तर देकर होती हैं।

३. क्षीणता (Weakening)—हृदयावरणशोथ (सजल), वातोरस, हृत्पेशीक्षय आदि विकारों में प्रथम ध्वनि क्षीण या अवरुद्ध हो जाती है।

४. रूपान्तर (Modification)—कभी कभी प्रथम ध्वनि मर्मरध्वनि के साथ संयुक्त होती है या उससे पूर्णत आवृत हो जाती है।

द्वितीय ध्वनि:—

१. स्पष्ट (Distinct)—यह बच्चों में मिलती है तथा फुफ्फुसीय या सार्वदैहिक रक्तभार की वृद्धि में होती है।

२ युग्मीभवन (Reduplication)—फुफ्फुसीय तथा सार्वदैहिक रक्तभारों में जब अन्तर होता है और जब महाधमनीकपाट एवं फुफ्फुसीकपाट एक साथ बन्द नही होते तब यह ध्वनि मिलती है।

३. तीव्रता (Accentuation)—फुफ्फुसी या सार्वदैहिक रक्तभार अति अधिक होने पर ध्वनि तीव्र होती है।

४ रूपान्तर (Modification)—जब इस ध्वनि के साथ मर्मरध्वनि मिली रहती है तथा द्विपत्रकपाटसकोच में।

हृदयाग्र पर एक और ध्वनि मिलती है जिसे त्रितयगति (Triple Rhythm) कहते हैं। इसमें हृदयाग्र के ठीक भीतर की ओर तीन स्पष्ट शब्द क्रमशः मिलते हैं। त्रितयगति भी दो प्रकार की होती है—मध्यम (Canter) और तीव्र (Gallop)। यह ध्वनियाँ हृच्छन्दों के युग्मीभवन के कारण होती हैं और निलय के कार्यारोध की सूचक हैं। विशेषत वृक्कविकारजन्य हृद्रोगों में मिलती हैं।

(२) हृदय के मूलभाग पर—

महाधमनी शब्द (Aortic Sound).—

यह द्वितीयध्वनि स्वभावत. ह्रस्व, तीव्र और प्रसरणशील होती है तथा महाधमनीगत अर्द्धचन्द्र कपाटों के बन्द होने से उत्पन्न होती है। इसके विकार चार प्रकार के होते हैं—

१. तीव्रता (Accentuation)—रक्तभाराधिक्य में यह ध्वनि तीव्र हो जाती है।

२. घण्टिकाध्वनि (Ringing)—महाधमनी के अर्बुद ग्रन्थि तथा कपाटों के विस्तार और काठिन्य में मिलती है।

३. अयोग (Absence)—कभी कभी महाधमनीशब्द सुनाई नहीं पड़ता। यह स्थिति आघात, क्षय, एवं अनुपस्थिति के कारण महाधमनी-कपाटों के न बन्द होने से होती है। कभी कभी ये कपाट इतने धीमे बन्द होते हैं कि उनसे कोई व्यक्त शब्द उत्पन्न नहीं होता।

४. रूपान्तर—मर्मध्वनि से सयुक्त होकर यह शब्द रूपान्तरित हो जाता है।

फुफ्फुसी शब्द (Pulmonary Sound):—

यह द्वितीयध्वनि फुफुसी कपाटों के बन्द होने से उत्पन्न होती है और ह्रस्व, तीव्र एवं सहसा होती है। युवा व्यक्तियों में यह महाधमनी शब्द की अपेक्षा स्पष्ट होती है किन्तु बच्चों में यह उलटी (तीव्रतर) होती है। इसके विकार निम्नांकित प्रकार के होते हैं—

१. तीव्रता—यह द्विपत्रकपाटसंकोच तथा अन्य फुफुसी विकारों के कारण फुफुसगत रक्तभार अधिक होने से होती है।

२. युग्मीभवन—यह महाधमनी एवं फुफुसी कपाटों के एक साथ बन्द न होने से होता है। द्विपत्रकपाटसंकोच तथा अन्य फुफुसी विकारों मे भी मिलता है।

३. रूपान्तर—मर्मर के साथ संयुक्त होने पर यह ध्वनि रूपान्तरित होती है।

(ख) वैकृत हृच्छब्द (Adventitious heart sounds or murmurs)—

हृदय मे प्राकृत ध्वनियों के अतिरिक्त जो अन्य वैकृत ध्वनियाँ प्रतीत होती हैं उन्हें मर्मरध्वनि कहते हैं। इन हृच्छब्दों की परीक्षा में निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिए।

१ **स्वरूप—**मर्मरध्वनि उत्पत्ति की दृष्टि से दो प्रकार की होती हैं। (१) अन्तर्हार्दिक (Endocardial)—जो कपाट द्वार में उत्पन्न होती हैं। (२)

वहिर्हार्दिक (Exocardial) जो हृदय के बाहर उत्पन्न होती है। अन्तर्हार्दिक मर्मर भी दो प्रकार का होता है।

१. रचनात्मक (Organic)—यह कपाटों की रचनासंबन्धी विकृति के कारण होता है।

२. क्रियात्मक (Functional)—जो कपाटों की दुर्बलता या कोमलता के कारण होता है। रचनात्मक विकारों से उत्पन्न ध्वनि भी दो प्रकार की होती है—

१. अवरोधज (Obstructive)—यह कपाटों के संकोच से उत्पन्न अवरोध के कारण होती है।

२. प्रत्यावर्तनजन्य (Regurgitant)—यह रक्त प्रत्यावर्तन के कारण उत्पन्न होती है। अवरोधज ध्वनि रूक्ष तथा प्रत्यावर्तनज ध्वनि कोमल होती है।

अन्तर्हार्दिक मर्मर की विशेषतायें—

१ यह कपाटों के नियत स्थान पर सर्वोत्तम प्रतीत होती हैं।

२. इनका प्रसार एक निश्चित दिशा में होता है।

३. इनका स्वरूप कठोर और भस्त्रिकाध्मान के सदृश होता है।

वहिर्हार्दिक मर्मर की विशेषतायें—

१. यह उत्तान होती हैं और ठीक श्रवणयत्र के नीचे सुनाई पड़ती है।

२. कपाट-क्षेत्रों के अतिरिक्त भी प्रतीत होती हैं।

३ नियत दिशा में ही प्रसार नही होता।

४. इनका काल नियत नही होता।

५. गंभीर श्वसन या वाहरी दवाव से इनमें परिवर्तन होता है।

अन्तर्हार्दिक मर्मर कपाटों की विकृति में तथा वहिर्हार्दिक मर्मर हृदयावरण शोथ में दिखता है। अन्तर्हार्दिक मर्मरों में कुछ विशेष प्रकारों का वर्णन नीचे किया जाता है—

क्रियात्मक मर्मर (Functional murmurs)—यह ध्वनि कोमल स्वरूप की होती हैं और स्थिर या प्रसरणशील होती हैं। यह प्राय: श्वासकाल में सुनाई पड़ती हैं।

रक्तज मर्मर (Haemic murmurs)—यह रक्ताल्पता तथा अन्य रक्त विकारों में पाया जाता है। यह संकोचकालिक होता है और फुफुसी कपाट क्षेत्र पर सर्वाधिक प्रतीत होता है। विशेषतः जब रोगी लेटा रहता है तब यह ठीक सुनाई देता है।

रक्तवाहिनीगत मर्मर (Vascular murmurs)—यह महाधमनी-रक्तप्रत्यावर्तन में मिलता है।

अशक्तताजन्य मर्मर (Atonicity murmurs)—यह ध्वनि हृत्पेशी-शोथ या रक्ताल्पता के कारण उत्पन्न अशक्तता के कारण द्विपत्रकपाट के प्रसार से होती है।

२. **उत्पत्ति काल**—मर्मर ध्वनि हृत्कार्यचक्र के किस काल में उत्पन्न होती है यह भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे विकृति का ठीक ठीक पता चलता है। काल की दृष्टि से मर्मरध्वनि तीन भागों में विभक्त है—

१. संकोचकालिक (Systolic)

२. पूर्वसंकोचकालिक (Pre-Systolic)

३. प्रसारकालिक (Diastolic)

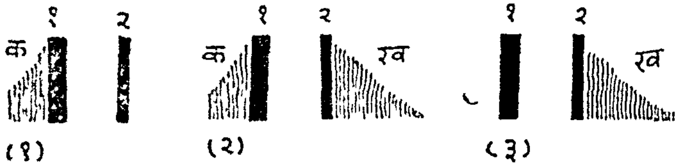
प्रसारकालिक भी पूर्व, मध्य और अन्त इन तीन भागों में विभक्त है। विभिन्न कपाटों के क्षेत्र में उत्पन्न मर्मरध्वनि का काल क्रम से नीचे दिया जाता है—

१. द्विपत्रकपाटीय मर्मर—(क) अवरोधज—प्रसारकालिक
(ख) प्रत्यावर्तनज—संकोचकालिक

२. त्रिपत्रकपाटीय मर्मर—(क) अवरोधज—संकोचकालिक। यह बहुत कम मिलता है।

३. महाधमनीकपाटीय मर्मर—(क) अवरोधज—संकोचकालिक
(ख) प्रत्यावर्त्तनज—प्रसारकालिक

४. फुफुसीकपाटीय मर्मर—(क) अवरोधज—संकोचकालिक । यह भी कम मिलता है ।



क. पूर्वसंकोचकालिक मर्मर ख प्रसारकालिक मर्मर

चित्र १४

३. **उत्पत्तिस्थान**—मर्मरध्वनि किस स्थान पर सुनाई पड़ती है यह उस क्षेत्रीय कपाट की विकृति का सूचक होता है । अत: मर्मर के उत्पत्तिस्थान का विचार अवश्य करना चाहिए ।

४. **प्रसार** (Conduction)—ऊपर बतलाया गया है कि अन्तर्हार्दिक मर्मरध्वनियाँ एक नियत दिशा में फैलती हैं, अत: उनके विनिश्चय में प्रसार की दिशा का ज्ञान अतीव सहायक होता है यथा—

१. द्विपत्रकपाटीय मर्मर (प्रत्यावर्त्तनज)—कक्षा या अंस की ओर फैलता है ।

२. महाधमनीकपाटीय मर्मर (अवरोधज)—धमनियों मे रक्तप्रवाह के साथ फैलता है ।

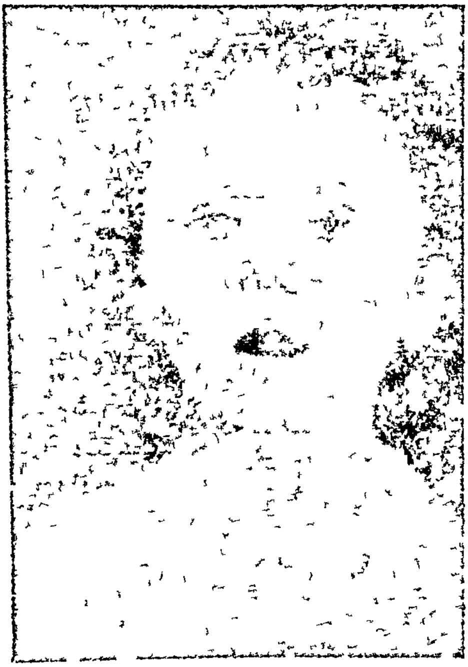
महाधमनीकपाटीय मर्मर (प्रत्यावर्त्तनज)—वक्षोस्थि के अध प्रान्त तक फैलता है ।

३ त्रिपत्रकपाटीय मर्मर (अवरोधज)—वक्षोस्थि के अध प्रान्त में सर्वोच्च होता है ।

४ फुफुसीकपाटीय मर्मर—सिराओं में स्पन्दन के रूप में फैलता है ।

५. प्रभाव—प्राकृत हृच्छब्दों पर मर्मरध्वनियों का क्या प्रभाव पड़ता है यह भी महत्वपूर्ण है । श्रवणयंत्र द्वारा यह देखना चाहिये कि मर्मरध्वनियाँ प्राकृत हृच्छब्दों के साथ मिल कर रहती हैं या इन्हे बिलकुल स्थगित कर पूर्णत अपना आधिपत्य कर लेती है । कपाटों की विकृति किस सीमा तक हुई है इसका परिज्ञान इससे होता है ।

नासगत श्वसनपथ अवरुद्ध होने पर रोगी मुख खोल कर श्वास लेता है। यह विशेषत: बच्चों में देखा जाता है।



चित्र नं० १५—अधिनासीय-ग्रन्थिजन्य आकृति

दर्शन-परीक्षा के लिए रोगी को पूर्ण प्रकाश में खड़ा कर या बैठा कर गंभीर श्वास लेने को कहे और तब वक्ष की गति को ध्यान से देखें। दर्शन के द्वारा विकृति के अधिष्ठान-निरूपण के लिए वक्ष के कुछ पृष्ठगत शारीर विभाग निश्चित किये गये हैं।

वक्षोस्थि के ऊर्ध्व भाग और मध्यभाग के सन्धिस्थल पर एक उभरी रेखा होती है जो द्वितीय पर्शुका-तरुणास्थि के सामने पड़ती है। इसके सहारे ऊपर-नीचे पर्शुकाओं की गणना में आसानी होती है। स्तन-चूचुक चतुर्थ पर्शुका-तरुणास्थि के जरा बाहर की ओर उसके तथा पर्शुका के सन्धिस्थल पर होता है। पृष्ठभाग में असफलक का अध:कोण सप्तम पर्शुका को ढँकता है। असफलक के अध:कोण से नीचे की ओर जो रेखा खीची जाती है वह 'अंसीय रेखा' कहलाती है। अंसफलक के आधार पर पृष्ठभाग तीन भागों में विभक्त है—अंसोत्तरिक,

अंसीय तथा अंसाधरिक। अंसीय भाग भी अंसकण्टक के द्वारा दो भागों में विभक्त है—ऊर्ध्वकण्टकीय तथा अधःकण्टकीय।

दर्शन-परीक्षा के द्वारा निम्नांकित बातों का पता लगाते हैं—

१. **श्वसन की संख्या**—प्रति मिनट श्वास की संख्या देखनी चाहिए। स्वभावत: श्वास की संख्या प्रति मिनट १५–२० होती है। साथ ही नाड़ी और श्वास का पारस्परिक अनुपात भी देखना चाहिए। सामान्यत: श्वास-नाड़ी में १:४ का अनुपात होना चाहिए। न्यूमोनिया आदि श्वासकष्ट के रोगों में यह अनुपात विषम हो जाता है।

२. **श्वसन का स्वरूप**—श्वसन तीव्र या मन्द, गंभीर या उत्तान और नियमित या अनियमित है इसकी परीक्षा करनी चाहिए। अत्यधिक श्वासकष्ट में नासाफलक भी प्रसारित होते रहते हैं अतः इनको भी देखना चाहिए। रोहिणी तथा श्वासपथ के अवरोध में श्वसन काल में पर्शुकान्तराल भीतर की ओर खिंचते हैं। ब्रांकोन्यूमोनिया में प्रश्वास नादमय होता है[1]।

३. **वक्ष की गति**—श्वसन के समय वक्ष के सब भागों की गति समान और निर्बाध होनी चाहिए। यदि किसी भाग में गति नहीं होती तो वहाँ फुफुस में फुफुसावरणशोथ, न्यूमोनिया, सौत्रिकार्बुद आदि विकार समझना चाहिए। जब फुफुसावरणशोथ आदि में वक्ष की गति से पीड़ा होती है[2] या जब वक्ष की पेशियाँ निष्क्रिय हों तब वक्ष की गति नहीं होती और 'औदर्य श्वसन' होता है। इसके विपरीत, जब महाप्राचीरा क्रियाहीन हो (यथा उदररोगों में) तब वक्ष की गति अत्यधिक बढ जाती है और श्वसन तीव्र तथा नादयुक्त होता है।

४. **वक्ष की आकृति**—स्वस्थ युवा व्यक्ति के वक्ष का अनुप्रस्थ छेद अण्डाकार होता है जिसकी लम्बाई पार्श्व की ओर अधिक होती है। बच्चों में यह

---

१ शीतपादकरोच्छ्वासश्छिन्नश्वासश्च यो भवेत्।
काकोच्छ्वासश्च यो मर्त्यस्तं धीरः परिवर्जयेत॥' (सु. सू ३१)
'तस्यचेदुच्छ्वासोऽतिदीर्घोऽतिह्रस्वो वा स्यात् परासुरिति विद्यात्।'
(च. इ ३)

२. 'वितत्य पर्शुकाग्राणि गृहीत्वोरश्च मारुतः।
स्तिमितस्यायताक्षस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम्॥' (च. इ १०)

वृत्ताकार होता है। वक्ष के दोनों पार्श्व समान होते हैं यद्यपि वस्तुतः दक्षिण पार्श्व वाम पार्श्व की अपेक्षा कुछ बड़ा होता है। वक्ष में कहीं गढा नहीं होना चाहिए तथा अक्षक का उभार साधारण होना चाहिए। वक्ष की परिधि पुरुष की लम्बाई के अनुसार बदलती रहती है तथापि ५½ फीट लम्बे पुरुष के वक्ष की परिधि औसतन ३४-३५ इंच होती है। गंभीर श्वसन-काल में यह १½-२ इञ्च अधिक हो जाती है।[१]

वक्ष की कुछ सहज आकृतियाँ कुछ विशिष्ट रोगों के अनुकूल होती हैं यथा कपोतवक्ष (Pigeon-chest) यक्ष्मा के लिए, गोलक वक्ष (Barrel chest) वायुकोषविस्तृति के लिए, शुष्क वक्ष (Rachitic chest) अस्थिशोष के लिए आदि।[२] तथापि इन रोगों के साथ इनका नियत संबन्ध स्थापित करना कठिन है।

इनके अतिरिक्त, पक्षाकृति वक्ष (Alar chest) शंक्वाकृति वक्ष (Funnel chest) आदि भी महत्वपूर्ण है।

विकार की दृष्टि से वक्षःस्थल की आकृति के निम्नांकित परिवर्तन महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) निम्नता या चिपिटता (Hollowing or flattening)—
अक्षकाधरीय भाग का दब जाना या चिपटा होना क्षय तथा ऐसे विकार का सूचक है जिसमें सौत्रिकता तथा फुफुस का संकोच हो जाता है।

(२) उन्नतता (Prominence)—वक्ष की दीवाल में उभार निम्नांकित कारणों से होता है—

१. पृष्ठवंश की वक्रता

२. वक्ष के भीतर स्थित अर्बुद, सिरार्बुद, जल, विद्रधि, वात

३. हृद्रोग

४. यकृत, प्लीहा, अर्बुद या विद्रधि-(उदरगत)

---

१. 'दशांगुलविस्तीर्णे द्वादशांगुलायामे पार्श्वे, द्वादशांगुलं स्तनान्तरं, द्व्यगुलं स्तनपर्यन्तम्, चतुर्विंशत्यंगुलविशालं द्वादशांगुलोत्सेधमुरः।' (च. वि. ८)

२. 'तथोरस्यवलीढानि न च स्यात् पृष्ठमायतम् ।
प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत् पंचविंशतिम् ।' (सु. सू. ३५)

५. अधस्त्वक् वायुकोषविस्तृति, शोथ, मेदःसंचय तथा अर्बुद।

६. स्थानिक पेशीवृद्धि।

(३) संकोच (Contraction)—वक्ष के पार्श्व का संकोच निम्नांकित अवस्थाओं में होता है—

१. न्यूमोनिया, रोमान्तिका, कुकुरखासी आदि के बाद उत्पन्न सौत्रिकता।

२. पूयोरस।

३. सौत्रिक यक्ष्मा।

४. फुफुस संकोच।

इसके अतिरिक्त।

५. हृत्प्रतीघात का स्थान और स्वरूप—भी देखना चाहिए। फुफुसावरण में द्रवसंचय होने पर तथा वातोरस के कारण हृत्प्रतीघात विपरीत दिशा की ओर हट जाता है। सौत्रिकता में वह उसी दिशा में खिंच जाता है तथा वायुकोषविस्तृति से वह आच्छन्न हो जाता है।

इनके अतिरिक्त, महाधमनी क्षेत्र में स्पन्दन, सिराओं की स्थिति, हाथ और मुख मण्डल में नीलिमा[1] तथा अंगुलियों की मुद्गरता पर भी ध्यान देना चाहिए।

स्पर्शन

स्पर्शन परीक्षा के द्वारा दर्शन से परिज्ञात भावों की सम्पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त, निम्नांकित भावों की परीक्षा स्पर्शन द्वारा की जाती है।

१. शब्दतरंग-स्पर्श (Vocal fremitus)—रोगी से १-२-३ गिनने को कहते हैं और उसी समय वक्ष पर हाथ रखते हैं। हाथों में शब्दतरङ्गों की प्रतीति होती है। इसे शब्दतरङ्ग-स्पर्श कहते हैं। स्त्रियों और बच्चों में उच्च स्वर के कारण इसकी प्रतीति ठीक नहीं होती किन्तु युवा पुरुषों में इसका प्रत्यक्ष ठीक होता है। स्वभावतः यह फुफुस के अग्रभाग में वाम की अपेक्षा दक्षिण

---

१. 'ओष्ठयोः पादयोः पाण्योरक्ष्णोर्मूत्रपुरीषयोः।
नखेष्वपि च वैवर्ण्यमेतत् क्षीणवलेऽन्नकृत्॥' (च. इ. १)
'मुखशब्दश्रवावोष्ठौ शुक्लश्यावातिलोहितौ।
विकृत्या यस्य वा नीलौ न स रोगाद् विमुच्यते॥' (च. इ. ८)

पार्श्व में अधिक तीव्र होता है। मूलभाग में कुछ मन्द किन्तु दोनों ओर समान होता है।

शब्दतरङ्ग-स्पर्श की परीक्षा फुफुस में स्थित ठोस और द्रव विकारों के विनिश्चय के लिए महत्त्वपूर्ण है। फुफुस के ठोस होने पर (यथा न्यूमोनिया, यक्ष्मा आदि में) यह बढ जाता है और द्रव या वायु का संचय होने पर (यथा सद्रव फुफुसावरणशोथ, उरस्तोय, वातोरस आदि में) यह कम हो जाता है। इसकी कमी-वृद्धि के आधार पर विकार में परिणाम का भी निश्चय होता है।

२. **कूजन-स्पर्श** (Rhonchial fremitus)—श्वासनलिकाशोथ से उत्पन्न वातिक कास में कूजन ध्वनि का स्पर्श प्रतीत होता है।

३ **घर्षण-स्पर्श** (Friction)—तरुण फुफुसावरणशोथ और हृदयावरणशोथ में घर्षणध्वनि का स्पर्श किया जा सकता है।

४. **द्रवसंक्षोभ** (Splashing)—उरस्तोय में पार्श्वपरिवर्तन से द्रवसंक्षोभ की प्रतीति होती है।

५. **रुजा** (Tenderness)—पूयोरस, पर्शुकाभग्न, अधस्त्वक् वायुकोष विस्तृति, वाह्यार्बुद में वक्ष को छूने से पीड़ा होती है।

आकोठन

बायें हाथ की तर्जनी या मध्यमा अंगुलि को वक्ष पर समानान्तर रख कर दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुलि के अग्रभाग से उस पर हलका आघात करे। इस प्रकार ऊपर से आकोठन प्रारम्भ कर क्रमशः नीचे की ओर बढ़ता जाय और दोनों पार्श्वों की तुलनात्मक परीक्षा करे जिससे स्वस्थ एवं अस्वस्थ पार्श्वों का अन्तर स्पष्ट हो जाय। इसी प्रकार पृष्ठभाग की भी परीक्षा करे किन्तु उसके लिए रोगी बैठ कर आगे की ओर झुक जाय और दोनों हाथों को भीतर की ओर मोड़ ले। पार्श्वभागों की परीक्षा के लिए रोगी हाथों को सिर के ऊपर उठा ले। फुफुस की प्राकृत ध्वनि पीछे की ओर दक्षिण पार्श्व में ग्यारहवीं पर्शुका की ऊर्ध्व धारा तक तथा वाम पार्श्व में उसकी अधोधारा तक मिलती है। गभीर श्वसन में यह क्षेत्र एक इञ्च नीचे तक चला जाता है और गभीर प्रश्वास में एक इञ्च ऊपर आ जाता है।

वक्ष में वायुपूर्ण फुफुसों के कारण आकोटनध्वनि स्वभावतः सौषिर (Resonant) होती है। इसमें निम्नांकित विकार होते हैं—

१. घनध्वनि (Dull)—फुफुस के ठोस होने पर यथा न्यूमोनिया, द्रव होने पर यथा सद्रव फुफुसावरणशोथ, फुफुसावरण की स्थूलता, अर्बुद में मिलती है।

२. अतिसौषिरध्वनि (Hyper-resonant)—जब फुफुस या फुफुसावरण में अधिक वायु भरी होती है यथा वायुकोषविस्तृति, वातोरस।

३. आध्मातध्वनि (Skodaic Rèsonance)—जब फुफुसावरण में स्थित द्रव फुफुस के निचले भाग को दबाता है और ऊपरी भाग उसके ऊपर तैरता है तब उसकी ध्वनि अत्यन्त सौषिर आध्मात आमाशय के सदृश होती है।

श्रवण

श्रवण यंत्र (Stethscope) के द्वारा फुफुसीय ध्वनियों की श्रवणपरीक्षा करनी चाहिए। इनमें निम्नांकित बातों का विचार करना चाहिए—

१. श्वसित ध्वनि—

सामान्यतः श्वसनकाल में फुफुसों में जो ध्वनि मिलती है उसे 'कोषीय ध्वनि' (Vesicular or Respiratory murmur) कहते हैं। यह कोमल तीव्र स्वरूप की होती है। इसकी विशेषता यह है कि श्वास और प्रश्वास काल में इस ध्वनि में कोई व्यवधान नहीं होता तथा श्वास प्रश्वास की अपेक्षा तिगुना लम्बा होता है। यह ध्वनि बच्चों में स्वभावतः अतितीव्र होती है अतः युवा व्यक्तियों में भी जब तीव्र ध्वनि मिलती है तब उसे 'शैशव श्वसन' (Puerile breathing) कहते हैं। दक्षिणपार्श्व के ऊर्ध्वभाग में श्वासपथ एवं श्वासप्रणालिका निकट होने के कारण ध्वनि अधिक व्यक्त होती है।

जब फुफुस ठोस होता है तब स्वरयंत्र में उत्पन्न शब्द श्वासपथ एवं श्वास प्रणालिकाओं से होकर फुफुस के ठोस तन्तुओं से भी शीघ्र वाहित होता है और स्पष्ट सुनाई देता है। इसे 'श्वसनी ध्वनि' (Bronchial breathing) कहते हैं। यक्ष्मा, न्यूमोनिया और कभी कभी सद्रव फुफुसावरण शोथ में यह ध्वनि मिलती है। स्वभावतः यह ध्वनि वक्षोस्थि के ऊर्ध्वभाग में या पृष्ठ में चतुर्थ वक्षीय कशेरुका के निकट सुनी जा सकती है। श्वसनी ध्वनि की दो विशेषतायें हैं जिनके

आधार पर यह कोषीय ध्वनि से पृथक की जाती है—एक तो यह कि इसमें श्वास और प्रश्वास की लम्बाई प्रायः समान होती है या प्रश्वास अधिक लम्बा होता है और दूसरा यह कि श्वास और प्रश्वास के बीच में एक स्पष्ट व्यवधान होता है। प्रसारित श्वासनलिका या कोटर में एक विशिष्ट प्रकार की मन्द श्वसनी ध्वनि मिलती है जिसे कोष्टीय ध्वनि (Cavournous respiration) कहते हैं। वक्ष में अधिक वायु भरने से यथा वातोरस, बृहत् कोटर आदि में वायवीय ध्वनि (Amphoric breathing) मिलती है। अत्युच्च श्वसनी ध्वनि को 'नलीय ध्वनि' (Tubular breathing) कहते हैं।

२. श्वास और प्रश्वास की ध्वनियों का आपेक्षिक अनुपात—

यद्यपि वस्तुत श्वास की अपेक्षा प्रश्वास लम्बा होता है तथापि उसमें वायु का वेग कम होने के कारण उसका अधिकाश श्रवणयन्त्र से सुनाई नही पड़ता। अतः श्रवण परीक्षा में श्वास प्रश्वास की अपेक्षा तिगुना लम्बा होता है। जब फुफुसी धातु की स्थितिस्थापकता नष्ट हो जाती है यथा वायुकोषविस्तृति में और जब उसकी वाहकता बढ़ जाती है यथा घनीभवन में तब प्रश्वास लम्बा हो जाता है।

३. वाचिक ध्वनि (Vocal resonance)—

रोगी को १-२-३ गिनने को कहे और उस समय वक्ष पर श्रवण यन्त्र लगाकर वाचिक ध्वनियों की परीक्षा करे। यक्ष्मा, न्यूमोनिया आदि में जब फुफुस घनीभूत हो जाता है तब उसकी वाहकता बढ जाती है फलतः वाचक ध्वनि भी तीव्र मिलती है। इसे 'तीव्र श्वसनीध्वनि' (Bronchophony) कहते हैं। यह जब इतनी तीव्र हो जाती है कि बुद्बुद (अतिमन्द) उच्चारण से भी यह स्पष्ट प्रतीत होती हो तब इसे 'अतितीव्र श्वसनीध्वनि' (Whispering Pectoriluy) कहते हैं।

जब फुफुस और वक्षभित्ति के बीच में द्रव या वायु का संचय होता है (यथा सद्रव फुफुसावरणशोथ, वातोरस, या फुफुसावरण की स्थूलता में) तब वाचिकध्वनि का ह्रास हो जाता है। जब फुफुसावरण में द्रव का संचय कम होता है या केवल ऊर्ध्वभाग में होता है तब उच्च स्वर से उच्चारित शब्दों का वाहन

कभी कभी होता है विशेषतः अंसफलक के अधःकोण पर और इससे बकरे की आवाज के सदृश ध्वनि होती है। इसे अजध्वनि (Aegophony) कहते हैं।

मुद्राध्वनि या घण्टाध्वनि (Coin or bells-ound) भी एक विशिष्ट वाचिक ध्वनि है और वातोरस में मिलती है। एक रुपये को वक्ष पर रखकर दूसरे रुपये से आहनन करते हैं और उसी समय वक्ष के दूसरे भाग में कुछ दूरी पर श्रवण यंत्र से सुनते हैं। जब यह ध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती हो तो यह विकार का सूचक है।

वाचिक शब्दतरंगों का वहन श्वासनलिकाओं के पथ की प्रशस्ति पर निर्भर है। जब कभी श्वासपथ या उसकी शाखाओं में कोई बृहत् अवरोध होता है (यथा फुफुसमूलस्थ अर्बुद में) तब वाचिक ध्वनि कम हो जाती है।

४. विशिष्ट वैकृत ध्वनि (Adventitious Sounds)—

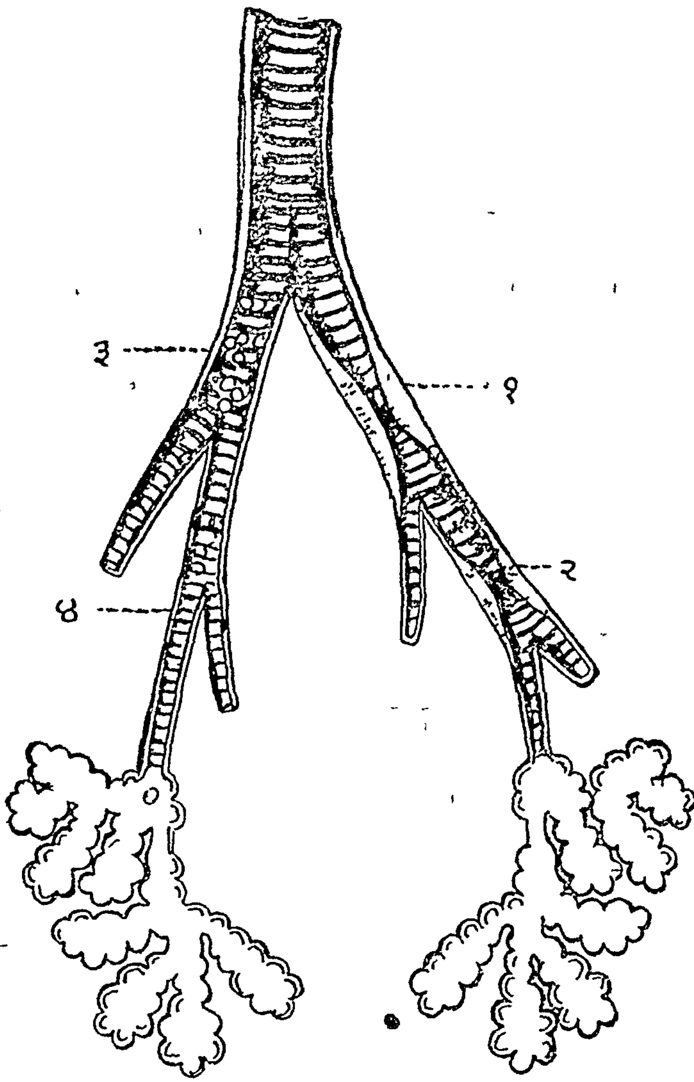
फुफुस एवं श्वासपथ के विकारों में अनेक प्रकार की विशिष्ट ध्वनियाँ मिलती हैं जिनमें निम्नांकित मुख्य हैं—

१. घर्षणध्वनि (Friction Sound)—फुफुसावरणशोथ (वातिक) में फुफुसावरण के दोनों स्तरों के परस्पर रगड़ने से यह ध्वनि उत्पन्न होती है। यह ध्वनि श्वास-प्रश्वास दोनों कालों में मिलती है।

२. आर्द्र या बुदबुद ध्वनि (Rales)—बड़ी श्वासनलिकाओं में श्लेष्मा या अन्य द्रव का आधिक्य होने से पानी में बुलबुले निकलने के समान ध्वनि होती है। जब छोटी श्वासप्रणालिकायें आक्रान्त होती हैं तब केशों को परस्पर रगड़ने के सदृश ध्वनि होती है। यह कर्करायन (Crepitation) कहलाती है। छोटी श्वासप्रणालिकाओं के विकृत होने से फुफुस के वायुकोष भी संक्रान्त हो जाते हैं। अतः यह ध्वनि फुफुस के कफप्रधान विकार—न्यूमोनिया, फुफुसशोथ आदि में मिलती है। कर्करायन ध्वनि केवल श्वासकाल में मिलती है, प्रश्वास में नहीं।

यह ध्वनियाँ जब अत्यधिक वक्षोरस् रुकती हैं तब थोड़ा खाँसने के बाद रोगी जब

तुरत गम्भीर श्वास लेता है तब स्पष्टतर होती हैं इन्हें 'अनुकास बुद्बुद ध्वनि' (Post-tussic rales) कहते हैं।



चित्र—१६ आर्द्र तथा शुष्क ध्वनियों का उद्गम

१ वर्धर शुष्कध्वनि   २ वेणुध्वनि   ३ अल्प आर्द्र ध्वनि   ४ वेणुध्व

३. शुष्क ध्वनि (Rhonchi)—जीर्ण श्वसन विकारों में जब वा

प्रधानता से कफ शुष्क होकर श्वासपथ की अन्त कला में जम जाता है

श्लेष्मल कला शोथ युक्त हो जाती है तब श्वासकाल में वायुवेग के द्वारा उसमें कम्पन होने से संगीतवत् ध्वनि होती है। इसे 'शुष्क ध्वनि' कहते हैं। यह श्वास रोग में मिलती है। शुष्कध्वनि दो प्रकार की होती है—मन्द और तीव्र। मन्द ध्वनि में भारी घर्घराहट सी आवाज होती है इसे 'घर्घर शुष्कध्वनि' (Sonorous Rhonchi) कहते हैं। जब ध्वनि अतितीव्र सीटी बजाने के सदृश होती हैं तब उसे 'वेणुध्वनि' (Sibilant or Whistling Rhonchi) कहते हैं।

परीक्षण में कठिनाइयाँ

वक्ष की पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा में निम्नांकित मुख्य कारणों से भ्रम होने की आशंका रहती है—

१. वक्ष अतिकृश या अतिस्थूल होने से।

२. वक्ष पर केशों की अधिकता।

३. वक्ष के अर्बुद, रक्तसंचय या वातसंचय।

४. फुफुस की वृद्धि (Hypertrophy)।

५. उदरावरण शोथ।

६. उदर वृद्धि।

यान्त्रिक-परीक्षा

१. **श्वास-पथदर्शक** (Bronchoscope)—श्वासपथ का शोथ, अर्बुद, बहिःशल्य आदि विकारों के निर्णय में इस यंत्र से बड़ी सहायता मिलती है। चिकित्सा में भी इसका उपयोग होता है।

२. **क्ष-किरण**—श्वासपथ तथा फुफुस के अनेक गंभीर और अस्पष्ट विकारों के निर्णय में क्ष-किरण का उपयोग किया जाता है जिससे भीतरी विकृति का चित्र स्पष्ट हो जाता है।

मूत्रवह-संस्थान

वृक्क

दर्शन—उदर के भीतर पृष्ठभाग की ओर स्थित होने के कारण वृक्कों की परीक्षा दर्शन द्वारा संभव नहीं है।

स्पर्शन—स्वभावतः भी विशेष कर कृश और प्रसूता स्त्रियों में, दक्षिण वृक्क की अधोधारा का स्पर्श किया जा सकता है। स्पर्शन-परीक्षा के लिए रोगी सीधा लेट जाय और पैरों को ऊपर की ओर मोड़ ले जिससे उदर्य पेशियाँ शिथिल हो जाँय। वैद्य रोगी के दाहिनी ओर खड़ा हो जाय और बायाँ हाथ रोगी की पीठ की ओर, पर्शुकाओं के नीचे, कटिचतुरस्रा पेशी के ठीक बाहर की ओर रखे। दाहिना हाथ उदर के पूर्वपृष्ठ पर, मध्याक्षकीय रेखा में, ठीक यकृत् के नीचे समानान्तर और अंगुलियों को ऊर्ध्वमुख करके रक्खे। अब दाहिने हाथ को पीछे बायें हाथ की ओर दबा ले और साथ ही रोगी को गम्भीर श्वास लेने को कहे। वृक्क का निचला गोला किनारा दोनों हाथों के बीच में प्रतीत होगा।

जब वृक्क की स्नायु शिथिल होती है तब दाहिने हाथ से उसकी ऊर्ध्वधारा भी प्रतीत होगी और वृक्क पूरी पकड़ में आ सकता है। इसे 'गतिशील वृक्क' (Movable kidney) कहते हैं। जब वृक्क अत्यन्त शिथिल होकर नाभि के नीचे तक आ सकता है तथा उदरगुहा में स्वतंत्र संचरण कर सकता है तब उसे 'तरणशील वृक्क' (Floating kidney) कहते हैं।

आकोठन—वृक्क अत्यन्त भीतर स्थित होने से आकोठन परीक्षा के द्वारा उसकी धाराओं की निश्चिति अशक्य है तथापि वृक्क के अर्बुद में यह परीक्षा महत्त्वपूर्ण है। अर्बुद में अन्त्र सामने की ओर हट जाता है जिससे आकोठन के द्वारा सामने तो रिक्त ध्वनि मिलती है किन्तु पार्श्व से निरन्तर पृष्ठ तक मन्द-ध्वनि मिलती है। प्लीहा और पित्ताशय को वृद्धि में इसके विपरीत पूर्वभाग में मन्दध्वनि तथा पार्श्व में रिक्तध्वनि मिलती है।

यान्त्रिक-परीक्षा—क्ष-किरण से वृक्काश्मरी का पता लगता है। इसके अतिरिक्त, वस्तिदर्शक यंत्र (Cystoscope) से वृक्क, गवीनी आदि की स्थिति का परिज्ञान होता है।

वस्ति

दर्शन—वस्तिप्रदेश में वस्ति की स्थिति का अवलोकन करना चाहिए। मूत्राघात में वस्ति फूली हुई होती है।[1]

---

१. 'वस्त्याध्माने तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक्।' (मा. नि.)
'नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।
तन्मूत्रजठरं विद्यादधोबस्तिनिरोधनम्॥' (मा. नि.)

स्पर्शन—वस्ति के मार्दव, काठिन्य या रुजा का परिज्ञान स्पर्शन के द्वारा होता है। वस्तिशैथिल्य में वस्ति के दबाने पर मूत्र बाहर आता है।[1]

यान्त्रिक परीक्षा—वस्तिदर्शक यंत्र से वस्तिगत अश्मरी, अर्बुद[2] आदि का पता चलता है। क्ष-किरण से भी परीक्षा की जाती है।

मूत्रप्रसेक

दर्शन—समस्त मूत्रमार्ग का निरीक्षण करना आवश्यक है। पौरुषग्रंथि की वृद्धि में मूत्रमार्ग का वह भाग फूला हुआ प्रतीत होता है। पूयमेह तथा मूत्रप्रसेक शोथ में मूत्रमार्ग शोथयुक्त, रक्तिम तथा पूययुक्त होता है। मूत्रकृच्छ्र में मूत्र बूँद बूँद कर आता है।[3]

स्पर्शन—स्पर्शन के द्वारा पौरुष ग्रन्थि तथा मूत्रमार्ग के मार्दव-काठिन्य का निर्णय करना चाहिए। जीर्ण पूयमेह में मूत्रमार्ग में स्थायीकाठिन्य और संकोच हो जाता है (Gleet) तथा अन्त में मार्ग अवरुद्ध भी हो जाता है।

यान्त्रिक परीक्षा—शलाका यन्त्र से मूत्रमार्ग के संकोच-विस्तार का परिज्ञान होता है।

प्रजनन-संस्थान

(क) पुं-प्रजनन-यन्त्र

शिश्न

दर्शन—दर्शन परीक्षा में निम्नांकित बातों पर ध्यान देना चाहिए :—

१. **आकृति**:—शिश्न की वक्रता, उसके ऊपर सिराओं का उभार, अग्रभाग स्थूल तथा मूलभाग कृश ये अतिमैथुन तथा अप्राकृतिक मैथुन के कारण होते हैं और क्लैब्य के सूचक हैं।

---

१. 'पीडितस्तु सृजेद्धारां सस्तम्भोद्वेष्टनार्त्तिमान्।
वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम्॥' (मा नि.)

२. अन्तर्वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते॥' (मा. नि)

३. व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलान्वितम्।
वस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहेत् स्रावयेदधः॥
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा।
कृच्छ्रात् पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवात ब्रुवन्ति तम्॥ (मा नि)

२. व्रण—फिरंग का व्रण मणिभाग पर कटोरे के सदृश होता है। शूकदोषों की स्थिति भी देखनी चाहिए। ध्वजभंगजन्य क्लैब्य में भी व्रण होते हैं तथा शिश्न में अन्य विनाशात्मक परिवर्त्तन होते हैं।[1]

स्पर्शन—स्पर्शन के द्वारा शिश्न की पेशियों की मृदुता-काठिन्य और रुजा की परीक्षा करनी चाहिए। ध्वजभग में पेशियाँ शिथिल और अशक्त हो जाती हैं।[2] फिरंग का व्रण बटन की तरह कड़ा होता है (Hard Chancre), अत उसे भी अङ्गुलियों के बीच दबाकर देखना चाहिए।[3] फिरङ्गज व्रण शिश्नमणि, भगास्थिप्रदेश में विशेषत होता है। शिश्नत्वचा को मणिभाग से हटा कर देखना चाहिए। इससे निरुद्धप्रकश (Phimosis), परिवर्तिका (Paraphimosis) आदि विकारों का पता लगता है

वृषण

दर्शन—दर्शन से वृषण की आकृति की परीक्षा की जाती है। वृद्धिरोग में वृषण बढ़ जाते हैं।[4] पैत्तिक वृद्धि (वृषणशोथ) में अण्ड बडे और लालिमायुक्त होते हैं।[5] श्लीपद में भी वृषण बढ़ जाते हैं।

स्पर्शन—स्पर्श कर मार्दव-काठिन्य, रुजा का पता लगाना चाहिए। वृषणशोथ में छूने से पीड़ा होती है।

(ख) स्त्री-प्रजनन-यन्त्र

भग (Vulva)

दर्शन—भग में दर्शन के द्वारा शोथ, व्रण आदि का पता लगाना चाहिए। उपदंश-फिरंग में भग के निचले पृष्ठ पर व्रण होते हैं।

---

१. 'श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते।
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिंगपाको भवत्यपि॥
मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्र भवन्त्यपि।
पुलाकोदकसंकाशः स्रावः श्यावारुणप्रभः॥
वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः।' (च. चि ३०)

२. 'म्लानशिश्नश्च निर्बीजः स्यादेतत् क्लैब्यलक्षणम्।' (च चि. ३०)

३. 'तत्र बाह्य फिरंगः स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक्।' (मा नि)

४. 'प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोषयोः।' (मा नि.)

५. 'पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान्।' (मा नि.)

स्पर्शन—भगशोथ मे छूने से वेदना होती है।

योनि (Vagina)

योनि की परीक्षा करने के लिए रोगिणी को सीधा लिटाकर पैर ऊपर को मोड़ दे तथा जानु से लेकर उदर तक कम्बल से ढँक दे।

दर्शन—योनि को प्रसारित कर योनिदर्शक यन्त्र(Vaginal speculum) से देखना चाहिए कि योनि लालिमा-शोथयुक्त तो नहीं है।

स्पर्शन—एक या दो अगुलियों में रबर का दस्ताना पहन कर तथा वैसलीन, घृत आदि से स्निग्ध कर योनि में प्रविष्ट करना चाहिए। इससे निम्नांकित बातों का पता लगता है :—

१. **योनिच्छदा (Hymen)**—योनिच्छदा क्षत है या अक्षत इसे देखना चाहिए। अनेक नारियों में योनिच्छदा का समुचित विदार न होने के कारण आर्त्तव रुका रहता है।

२. **योनि पथ**—संकीर्ण है या प्रशस्त इसे देखना चाहिए। सूचीमुखी योनि में योनि अत्यन्त संकीर्ण तथा महायोनि में योनि अत्यन्त विस्तृत होती है।[1]

३. **योनिभित्ति**—योनि की अन्तःकला शुष्क है या आर्द्र इसकी परीक्षा करनी चाहिए। वातिक योनिव्यापदों में योनि शुष्क तथा श्लेष्मल व्यापदों में आर्द्र होती है। पैत्तिक योनिव्यापदों मे योनि उष्ण और दाहपाकयुक्त होती है।[2]

४. **रुजा**—योनिशोथ होने पर स्पर्शन के द्वारा योनि में वेदना होती है।

---

१. 'मारुतोपादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा।'
'असंहतमुखी स्रातिः सफेनार्त्तववाहिनी।
मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववङ्क्षणशूलिनी॥' (च. चि. ३०)

२. विरुद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम्।
स्तम्भं पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां तथा॥
करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान्।'
'दाहपाकज्वरोष्णार्त्ता नीलपीतासितार्त्तवा।
भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात् पित्तदूषिता॥'
'स शीतां पिच्छिलां कुर्यात् कण्डूग्रस्तामल्पवेदनाम्।
पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्त्तववाहिनीम्॥' (च. चि. ३०)

गर्भाशय

दर्शन—उदर के निचले भाग में दर्शन के द्वारा गर्भाशय की स्थिति का पता लगाना चाहिए। गर्भावस्था, अर्बुद तथा गर्भाशय के स्थानभ्रंश में गर्भाशय बढ़ कर ऊपर की ओर उदर में आ जाता है।[1]

स्पर्शन—बहिः स्पर्शन से गर्भाशय के मार्दव-काठिन्य, वेदना तथा योनि में अंगुलियों को प्रविष्ट कर अन्तः स्पर्शन से गर्भाशय ग्रीवा तथा बीजकोष की स्थिति का पता लगाना चाहिए। व्रणशोथ तथा बीजकोष के विकारों में स्पर्शन से वेदना होती है। गर्भावस्था में गर्भाशयग्रीवा शिथिल और कोमल होती है। उभयहस्तात्मक परीक्षा (Bimanual examination) से जिसमें एक हाथ योनि में प्रविष्ट कर भीतर की ओर तथा दूसरा हाथ बाहर वस्तिप्रदेश में रख कर देखा जाता है गर्भाशय की आकृति, स्थिति, गतिशीलता, अर्बुद आदि का पता चलता है।

श्रवण—गर्भावस्था के निर्णय के लिए उदर के गर्भाशय प्रदेश में श्रवणयंत्र लगा कर गर्भ के हृदय की अभिव्यक्ति का निश्चय किया जाता है।

शाखायें

प्रथम ऊर्ध्वशाखा तत्पश्चात् अधःशाखा की क्रमशः परीक्षा करनी चाहिए।

दर्शन—दर्शनपरीक्षा में निम्नांकित बातों का विचार किया जाता है :—

१. **शोष**—अंस, बाहु, उरु, पिण्डिका आदि प्रत्यंगों का उपचय प्राकृत है या उनकी पेशियाँ शुष्क हो गई हैं, यह देखना चाहिए। शोषरोग तथा वातव्याधि (अंसशोष, पक्षाघात आदि) में शाखाओं में शोष उत्पन्न होता है।

कभी-कभी पेशियाँ पुष्ट प्रतीत होती हैं किन्तु उनमें कार्य-शक्ति नही होती इसे मिथ्यापुष्टि (Pseudo-hypertrophy) कहते हैं। पेशियों की सौत्रिकता से उनमें कम्प होता है।

२. **शोथ**—शाखा के किसी भाग में शोथ हो तो उसे ध्यान में रखना चाहिए। श्लीपद, पाण्डु, शोथ आदि में शाखायें शोथयुक्त होती हैं। सन्धियों के शोथ को भी देखना चाहिए। आमवात तथा सन्धिवात में संधियाँ शोथयुक्त होती हैं।

३. **ग्रन्थि**—कक्षा, कूर्पर, वंक्षण आदि स्थानों में ग्रंथियों की वृद्धि की

---

१. 'योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता स्त्रिया मता।' (च॰ चि॰ ३०)

परीक्षा करनी चाहिए। जीवाणुज संक्रमण, यक्ष्मा, घातक अर्बुद, फिरंग, ब्रध्न, विशिष्ट ज्वर, श्वेतकणमयता, प्लेग आदि में ग्रंथियाँ बढ जाती हैं। ग्रंथिक कुष्ठ में ग्रथियाँ निकल आती हैं।

४ **मण्डल**—वातरक्त विशेषतः पादमूल से आरम्भ होता है किन्तु कभी-कभी हाथ मे भी होता है। शाखाओं की त्वचा पर लालिमा शोथयुक्त मण्डल की परीक्षा करनी चाहिए।

५. **सिरा**—सिरार्बुद की परीक्षा करनी चाहिए। वातप्रकृति के व्यक्तियों में शाखाओं की त्वचा पर नीली सिरायें उभरी होती हैं।

६. **संकोच और काठिन्य**—वातव्याधि में शाखायें सकुचित हो जाती हैं और सधियों का कार्य नष्ट हो जाता है। पेशियों का काठिन्य तीन प्रकार का होता है.—

(क) चाकूसदृश काठिन्य (Clasp-knife rigidity) :—

प्रसारित कूर्परसंधि को सकुचित करने में प्रथम अधिक बल लगाना पड़ता है फिर सधि अनायास संकुचित हो जाती है। यह क्रिया ठीक वैसे ही होती है जैसे एक खुले चाकू को मोड़ने में। यह काठिन्य मुकुल मार्ग की विकृति से उत्पन्न अंगघात में मिलता है।

(ख) शीशनलिका-सदृश या दन्तचक्र-सदृश काठिन्य
(Lead-pipe or Cog-wheel rigidity)—

इसमें कूर्पर सधि को संकुचित करते समय शीशनलिका को मोड़ने के समान अनुभव होता है। यह काठिन्य अतिरिक्त मुकुल मार्ग की विकृति में पाया जाता है।

(ग) अपतन्त्रकीय काठिन्य (Hysterical spasm) :—

अपतन्त्रक में शाखाओं को संकुचित या प्रसारित करते समय उतने ही प्रतिरोध के कारण काठिन्य बढ़ जाता है और संकोच या प्रसार कठिन हो जाता है।

विशिष्ट पेशियों के काठिन्य की परीक्षा के लिए निम्नांकित दो प्रयोग मुख्य हैं :—

१. कर्निग का चिह्न (Kernig's Sign) इसकी परीक्षा की दो विधियाँ हैं :—

(क) रोगी उत्तान स्थिति में दोनों पैरों को फैला कर लेट जाय। इसी स्थिति में उसे उठ बैठने को कहा जाय। इस प्रयत्न में उसकी जानुसंधियाँ संकुचित हो जायेंगी और पुनः प्रसारित न होंगी।

(ख) रोगी उत्तान स्थिति में लेट जाय और दक्षिण उरू को ऊपर की



चित्र नं० १७

ओर पूरा मोड़ ले। अब उसी पैर की जानुसंधि को प्रसारित करने को कहे। इस प्रयत्न में दूसरे पैर की जानुसंधि स्वयं संकुचित हो जायगी।

यह चिह्न मस्तिष्कावरणशोथ, धम्मिलकीय रक्तस्राव, ऊर्ध्वचेष्टावह नाड्यणु के विकार, गृध्रसी तथा शाखाओं के अप्रयोग की स्थिति में मिलता है।

२. शिरःसंकर्षण या ब्रुडजिस्की का चिह्न (Brudzinski's Sign)

मस्तिष्कावरणशोथ, धनु स्तम्भ आदि विकारों में रोगी का शिर पीछे की ओर झुका रहता है और ग्रीवा स्तब्ध रहती है। इस स्थिति में यदि रोगी वक्ष की

ओर शिर झुकावे तो पैर वंक्षण की ओर मुड़ जायेंगे और जानुसंधि भी संकुचित हो जायगी।

३. **आकृति-वैषम्य**—हाथ की अँगुलियों की मुद्गरता (Clubbing) सहज हृद्रोग, हृत्कपाटविकृति, घातक हृदन्तःशोथ, यकृद्दाल्युदर, सौत्रिक फुफ्फुस, व युक्ोप-विस्तृति, जीर्ण यक्ष्मा और कफज विकार में मिलती है। स्निग्ध, शिथिल अँगुलियां जिनकी त्वचा मृदु और पतली होती है नाड़ीदौर्बल्य, वातरक्त और कुष्ठ में पाई जाती है।

४. **नख**—पाण्डु में नख धूमिल और पाण्डुर, कामला में हारिद्र वर्ण तथा हृद्रोग में नील वर्ण के होते हैं[1]। कुष्ठ, फिरंग आदि में नख गिरने लगते हैं।

५. **चेष्टा**—शाखाओं के विभिन्न उपांगों की चेष्टा ठीक होती है या नहीं इसकी परीक्षा करनी चाहिए। वायु शरीर की विभिन्न चेष्टाओं का कारण होता है[2] अतः वातविकार में चेष्टा के विकार होते हैं। पक्षाघात में विकृत अंगों की चेष्टा नष्ट हो जाती है। आक्षेपक, अपतंत्रक, अपस्मार आदि में शाखाओं में आक्षेप आते हैं। सन्धिशोथ, आमवात में सन्धियों की चेष्टा नष्ट हो जाती है।

शरीर की चेष्टायें नाड़ी-संस्थान के चेष्टावह विभाग (Motor system) द्वारा परिचालित होती हैं, अतः इस विभाग का सामान्य परिचय चेष्टा सम्बन्धी विकारों के अधिष्ठान निर्णय के लिए आवश्यक है।

चेष्टावह संस्थान के तीन भाग होते हैं :—

१. **ऊर्ध्व चेष्टावह नाड्यणु** (Upper motor neurone) इसे मुकुलमार्ग (Pyramidal tract) भी कहते हैं। यह मस्तिष्क के सर्वोच्च भाग मस्तिष्कबाह्यक के चेष्टावह क्षेत्र से आरम्भ होकर आन्तर कूर्चवल्लिका होते हुए सुषुम्नाशीर्षक पार कर सुषुम्ना के पूर्व शृंगकोषाणुओं की धूसर वस्तु में समाप्त होता है। इसके सूत्र मस्तिष्कबाह्यक में पृथक् पृथक् होते हैं। आन्तर

---

१. 'तस्य चेन्नखा वीतमांसशोणिताः पद्मजाम्बववर्णाः स्युः परासुरिति विद्यात्।' (च. इ. ३.)

२. 'प्रवर्त्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्।' (च. सू १२)

कूर्चवल्लिका में परस्पर समीप आ जाते हैं और सुषुम्नाशीर्षक में एक का दूसरे उल्लंघन कर दूसरे पार्श्व में चले जाते हैं। इसके द्वारा प्रयत्नज गतियों का प्रवर्तन तथा अधो चेष्टावह नाड्यणु एवं अतिरिक्त मुकुलमार्ग का नियन्त्रण होता है।

२. अतिरिक्त मुकुलनाड्यणु (Extra-Pyramidal neurone)

इसके सूत्र उष्णीषक, मध्यमस्तिष्क, मस्तिष्कस्कन्ध तथा धम्मिलक से आरम्भ होकर सुषुम्ना के पूर्वशृङ्ग कोषाणुओं तक विषाणिका-सुषुम्ना-मार्ग, शोणज सुषुम्ना-मार्ग तथा स्पर्श-सौषुम्निक-मार्ग इन तीन मार्गों से जाते हैं।

इस भाग का अधोचेष्टावह नाड्यणु पर नियन्त्रण रहता है।

३. अधोचेष्टावह नाड्यणु (Lower motor neurone)

यह सुषुम्ना के पूर्व शृङ्गकोषाणुओं से प्रारम्भ होकर पेशियों में समाप्त होती है। यह चेष्टावह संस्थान का अन्तिम भाग है। इसका नियन्त्रण उपर्युक्त दोनों मार्गों के द्वारा तथा सौषुम्निक प्रत्यावर्तित चक्र (Reflex arc) से होता है।

इस मार्ग का सम्बन्ध पेशियों के पोषण से है, अतः इसके अंगघात से पेशियों का क्षय होने लगता है।

चेष्टावह संस्थान के इन मार्गों के अंगघात से विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं जिनका निर्देश यहाँ किया जाता है :—

(क) ऊर्ध्व चेष्टावह नाड्यणु

इसके अंगघात में निम्नांकित लक्षण उत्पन्न होते हैं :—

१. अंगघात पूर्ण नही किन्तु विस्तृत, विशेषतः गति के विकार यथा पक्षाघात, एकांगघात, ऊरुस्तभ आदि।

२ पेशीक्षय अल्प।

३. पेशीस्तम्भ (Spastcity)।

४. कंडराक्षोभ स्पष्टतर।

५. गुल्फ एवं जानु का आकुञ्चन (Clonus) अस्त्यात्मक।

६. उत्तान प्रत्यावर्त्तित क्रियायें अल्प या परिवर्त्तित।
औदर्य प्रत्यावर्त्तन नष्ट।

७. वैबिंस्की चिह्न अस्त्यात्मक।

८ सहकारी गतियाँ कभी-कभी उपस्थित।

९. पेशियों में वैद्युतिक अपकर्षात्मक परिवर्त्तन का अभाव।

१०. त्वचा में पोषणात्मक परिवर्त्तन प्रायः नही।

(ख) अतिरिक्त मुकुल नाड्यणु

इसके अंगघात से निम्नाकित लक्षण होते हैं :—

१. केवल पेशी-दौर्बल्य।

२ पेशी-काठिन्य।

३. कम्प या स्वतन्त्र गतियाँ।

४. कण्डरा-प्रत्यावर्त्तन अपरिवर्त्तित, आकुञ्चन अनुपस्थित।

५. वैंविस्की चिह्न अस्त्यात्मक।

६. औदरिक प्रत्यावर्त्तन अपरिवर्त्तित।

७. सकम्प गतियाँ कभी-कभी मिलती हैं।

(ग) अधोचेष्टावह नाड्यणु

इसके अंगघात में निम्नाकित लक्षण मिलते हैं :—

१. सीमित अंगघात।

२. पेशीक्षय अधिक, कभी-कभी सौत्रिकता।

३, पेशी-शैथिल्य।

४. त्वचा में पोषणात्मक परिवर्त्तन फलतः शैत्य, नीलिमा, स्निग्धता, व्रण आदि।

५' कण्डराक्षोभ अल्प या लुप्त।

६. आकुञ्चन नास्त्यात्मक।

७ उत्तान प्रत्यावर्त्तन अपरिवर्त्तित।

८. सहकारी गतियाँ अनुपस्थित।

९. वैद्युत अपकर्षात्मक परिवर्त्तन।

१०. वैंविस्की चिह्न अपरिवर्त्तित।

धम्मिलकीय संस्थान

इसके अंगघात में निम्नाकित लक्षण होते हैं·—

१ वास्तविक अंगघात नहीं।

२. प्रत्यावर्त्तित क्रिया में अपरिवर्त्तित ।

३. परतन्त्र पेशियों के सहयोजन (Co-ordination) में ही विकृति ।

चेष्टावह संस्थान की विकृति का परिणाम

चेष्टावह संस्थान के विभिन्न भागों की विकृति से क्या परिणाम होते हैं इसका ज्ञान आवश्यक है क्योंकि इससे विकार के अधिष्ठान का निर्णय होता है।

(क) **मस्तिष्क-बाह्यक**—इस भाग में विकृति होने से प्राय शिथिल प्रकार का एकांगघात होता है क्योंकि यहाँ नाड़ीसूत्र पृथक् पृथक् स्थित हैं। गंभीर विकृति होने से अंगघात व्यापक और स्तम्भयुक्त हो सकता है।

(ख) **आन्तर कूर्च्चवल्लिका**—इसकी विकृतिसे स्तम्भयुक्त पक्षाघात होता है। विकृति के विपरीत पार्श्व में अंगघात होता है।

(ग) **मध्यमस्तिष्क**—इसकी विकृति से विपरीत पार्श्व का पक्षाघात किन्तु उसी पार्श्व की नेत्रचेष्टनी का घात होता है। इसे वेबर चिह्न (Weber Syndrome) कहते हैं।

(घ) **उष्णीषक**—इसकी विकृति होने से विपरीत पार्श्व का पक्षाघात और उसी पार्श्व की मौखिकी तथा नेत्रपार्श्विकी नाड़ी का अंगघात होता है।

(च) **सुषुम्ना**—इसमें विकृति होने से अध:शाखा का स्तम्भयुक्त अंगघात होता है। पंचम ग्रैवेयक खण्ड के ऊपर विकृति होने से ऊर्ध्वशाखा का भी घात होता है।

शरीर की चेष्टा के परीक्षणकाल में पेशियों की वैकृत गति, सहयोजन, अंगघात एवं दौर्बल्य का पता लगाना चाहिये। इसके लिए विशिष्ट परीक्षायें की जाती हैं।

(क) **पेशियों की वैकृत गति—**

चेष्टासंबन्धी विकारों में पेशियों में स्वतन्त्र और अनियन्त्रित रूप से गतियाँ होने लगती हैं जो कभी किसी विशेष अंग में सीमित और कभी समस्त शरीर में व्याप्त होती हैं। ये गतियाँ मुख्यत: चार प्रकार की होती हैं—

१. **स्तम्भ** (Spasm)—यह निरन्तर (Continuous or tonic) या सान्तर (Intermittent or clonic) दो प्रकार का होता है।

२. **कम्प** (Tremor)—यह विशेषतः हाथ की अंगुलियों और जिह्वा में देखा जाता है और बहिर्नेत्रिक गलगण्ड, मद्यपान, तम्बाकू एवं धातुविषाक्तता की अवस्थाओं में मिलता है।

३. **प्रकम्प** (Choreic movemements)—इसमें विशिष्ट कम्प होता है और अंगुलियों की गति एक विशेष प्रकार से गोली बनाने के समान होती है।

४. **आक्षेप** (Tetanic)—इसमें पेशियों में अनियमित संकोच और स्तम्भ होते हैं। यह आक्षेपक, कुपीलुविष, जलसंत्रास, अपतन्त्रक आदि में देखा जाता है।

(ख) सहयोजन (Co-ordination)

शरीर की विभिन्न पेशियाँ सहयोगात्मक आधार पर कार्य करती हैं जिससे विशिष्ट गतियाँ उत्पन्न होती हैं। अनेक वातिक विकारों में यह शक्ति नष्ट हो जाती है। इसके लिए निम्नांकित परीक्षण किये जाते हैं:—

ऊर्ध्वशाखा—ऊर्ध्व शाखा की पेशियों की सहयोजन—शक्ति की परीक्षा के लिए निम्नांकित प्रयोग किए जाते हैं—

१. **नासांगुलि परीक्षा** (Finger-nose test)—रोगी को नेत्र खुला रख कर अपनी तर्जनी अंगुली से नासा के अग्रभाग का स्पर्श करने को कहना चाहिए। फिर नेत्र बन्द कर यही परीक्षा करनी चाहिए।

२. **अंगुल्यंगुष्ठ परीक्षा** (Thumb and finger test)—रोगी अपने अंगुष्ठ से उसी हाथ की अन्य अंगुलियों के अग्रभाग का स्पर्श करे।

अधःशाखा—अधःशाखा में सहयोजन की परीक्षा के लिए निम्नांकित प्रयोग किये जाते हैं—

१. **रॉम्बर्ग का चिह्न** (Romberg's sign)—रोगी को नेत्र बन्द कर दोनों पैर मिला कर खड़ा होने को कहे तथा फिर सीधी रेखा पर चलने को कहे। सहयोजन नष्ट होने पर रोगी एक पार्श्व में झुक जाता है और गिरने लगता है।

२. **जनुपार्ष्णि परीक्षा** (Heel-knee test)—रोगी को उत्तान स्थिति में लेटा कर एक पैर की एँड़ी से दूसरे पैर की जानुसंधि का स्पर्श करने को कहे और पुनः इसी प्रकार दूसरे पैर से भी करे।

असहयोजित गतियाँ धम्मिल्लक-विकार (Cerebeller ataxy) तथा सावेदनिक-संस्थानगत विकृति (Sensory ataxy) के कारण होती है। प्रथम विकार में रोगी नेत्र खुला रख कर भी कम्प के विना अंगुली से नासाग्र को नहीं छू सकता। और दूसरे विकार में नेत्र बन्द कर किसी अंग का स्पर्श ठीक से नहीं कर सकता।

(ग) अंगघात और दौर्बल्य

अंगघात और पेशियों के दौर्बल्य की परीक्षा के लिए निम्नांकित प्रयोग किये जाते हैं:—

१. रोगी अपने दोनों हाथों से वैद्य के दोनों हाथों को दवावे।

२. रोगी उत्तान स्थिति में लेट कर अपनी जानुसन्धि को संकुचित कर ले। चिकित्सक रोगी के सामने खड़ा होकर उसके पादतलों को हाथों से दवावे और उसी समय रोगी को दोनों पैर सीधा करने के लिए कहे।

स्पर्शन—स्पर्शन के द्वारा निम्नांकित भावों की परीक्षा होती है:—

संज्ञा—संज्ञा दो प्रकार की होती है:—उत्तान और गंभीर। उत्तान संज्ञा में मृदु स्पर्श, उत्तान पीड़ा, स्वल्प उष्णता और शैत्य का समावेश होता है। गंभीर संज्ञा में पेशी-संधि तथा कण्डराओं की संज्ञा, गंभीर स्पर्श, गंभीर पीडा, कम्पसंज्ञा, स्पर्शाधिष्ठान-संज्ञा, परिमाण-आकार एवं क्षेत्र की संज्ञाओं का अन्तर्भाव होता है। प्रान्तीय नाडियों से उत्तान संज्ञाओं का तथा चेष्टावह नाडियों से सवद्ध सूत्रों के द्वारा गंभीर संज्ञाओं का ज्ञान होता है।

संज्ञा का वहन वायु के द्वारा संज्ञावह नाडियों के मार्ग से होता है। संज्ञावह नाडीसंस्थान के दो भाग हैं—प्रान्तीय तथा केन्द्रीय। प्रान्तीय भाग में प्रान्तीय सौषुम्निक नाडियाँ होती हैं। केन्द्रीय भाग में तीन प्रकार के सूत्र होते हैं:— १. प्राथमिक संज्ञावह सूत्र जो सुषुम्ना में रहते हैं। २. द्वितीयक संज्ञावह सूत्र जो सुषुम्नाशीर्षक और वल्लिका में स्थित हैं तथा ३. तृतीयक संज्ञावह सूत्र जो मस्तिष्क बाह्यक में समाविष्ट हैं। सुषुम्ना के पश्चिम नाडीमूल में संज्ञावह सूत्रों की

रचना खण्डित प्रकार की होती है जिसके कारण इसकी विकृति होने पर सीमित और खण्डित सज्ञानाश होता है।

संज्ञावह नाडीसंस्थान की विकृति का परिणाम

विशिष्ट सज्ञा की विकृति से उसके अधिष्ठान का निर्णय किया जाता है।

(क) **मस्तिष्क-बाह्यक**:—इनमें विकृति होने से निम्नांकित लक्षण होते हैं:—

१. ताप और पीड़ा की स्थूल संज्ञायें अविकृत।

२. स्पर्शाधिष्ठान-सज्ञा (Localisation of touch) का नाश।

३. परिमाण, आकार तथा सहनन की संज्ञा का नाश।

४. मृदुस्पर्श की संज्ञा की सम्यक् प्रतीति का अभाव।

५. क्षेत्रज्ञान का अभाव।

६. संज्ञा की तीव्रता के ज्ञान का लोप।

७ विकृत शाखा में असहयोजित गतियाँ।

(ख) **अधोमस्तिष्क-बाह्यक**:—इसकी विकृति से निम्नांकित लक्षण होते हैं:—

१. अर्धसंज्ञानाश (Hemi-anaesthesia) तथा विपर्यस्त अर्धसंज्ञानाश।

(ग) **आज्ञापिण्ड**—इसमें विकृति होने से शरीर के विपरीत पार्श्व में अर्धसंज्ञानाश, सहसा पीडा तथा पीडाकर उत्तेजनाओं का अतिग्रहण होता है।

(घ) **सुषुम्ना की केन्द्रीय नलिका**—इसमें विकृति होने से मृदुस्पर्श की सज्ञा ठीक रहती है किन्तु सूचीवेध, ताप एवं शीत की संज्ञा का लोप हो जाता है।

(च) **सुषुम्ना के पश्चिम नाडीमूल**—इसमें विकृति होने से सभी संज्ञायें नष्ट हो जाती हैं।

वातरक्त, कुष्ठ आदि में स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है। अपतंत्रक में बढ़ जाता है।

१. **रुजा**—स्पर्श के द्वारा सन्धियों, पेशियों आदि में पीड़ा का पता लगाना चाहिए। आमवात, संधिवात में शोथ, लालिमा के साथ पीड़ा होती है। विशिष्ट वातव्याधि में नाडी के समस्त मार्ग में छूने से पीड़ा होती है यथा गृध्रसी और विश्वाची।

२. **शोथ**—शोथ के मार्दव-काठिन्य आदि की परीक्षा करनी चाहिए।

३. **ग्रंथि**—ग्रंथियों का स्पर्श कर देखना चाहिए। फिरंग रोग में कूर्पर-खात के ऊपर ग्रंथि (Supra-trochlear) बढ़ जाती है।

४. **स्पन्दन**—रक्तगत वात तथा महाधमनी-रक्तप्रत्यावर्त्तन में अंगुलियों में रक्त का स्पन्दन प्रतीत होता है।

५. **शीतोष्णता**—त्वचा शीत है या उष्ण यह भी स्पर्श से पता लगाना चाहिए। ऊरुस्तम्भ में वहाँ की त्वचा शीत होती है तथा सन्धिशोथ में त्वचा उष्ण होती है।

६. **अंगुलिस्फुटन**—अंगुलियों को फोड़ने से यदि न फूटें तो यह विकृति का सूचक है। विशेषत: वातरक्त में होता है।[1]

संज्ञावह नाडीसंस्थान की परीक्षा

१. **स्पर्श**—मृदु स्पर्श की संज्ञा के परीक्षण के लिए रोगी की त्वचा पर कोमल रूई का हलका स्पर्श करे। गंभीर स्पर्श के लिए शरीर के भाग को दबा कर परीक्षा करे।

२. **पीड़ा**—उत्तान पीड़ा की संज्ञा देखने के लिए त्वचा में तीक्ष्णाग्र पिन या सुई का स्पर्श करे। अंगुलि से दबाने पर गंभीर पीड़ा का ज्ञान किया जाता है।

३. **ताप**—उष्ण या शीत पदार्थों के क्रमिक स्पर्श से ताप का ज्ञान होता है।

४. **स्थिति**—स्थिति-संज्ञा के परीक्षण के लिए शरीर के किसी अवयव विशेषत: शाखाओं को एक विशिष्ट स्थिति में नेत्र बन्द कर रोगी से रखने के लिए कहें।

इसी प्रकार परिमाण, आकार, भार, संहनन, कम्पन आदि संज्ञाओं की परीक्षा की जाती है।

८ प्रत्यावर्त्तित क्रिया

शरीर की प्रत्यावर्त्तित क्रियायें तीन प्रकार की होती हैं:—

(क) उत्तान प्रत्यावर्त्तित क्रियायें (Superficial reflexes)

---

१. 'अथास्यांगुलीरायच्छेत्–तस्य चेदंगुल्य आयम्यमाना न चेत् स्फुटेयुः, परासुरिति विद्यात्।' (च. इ ३.)

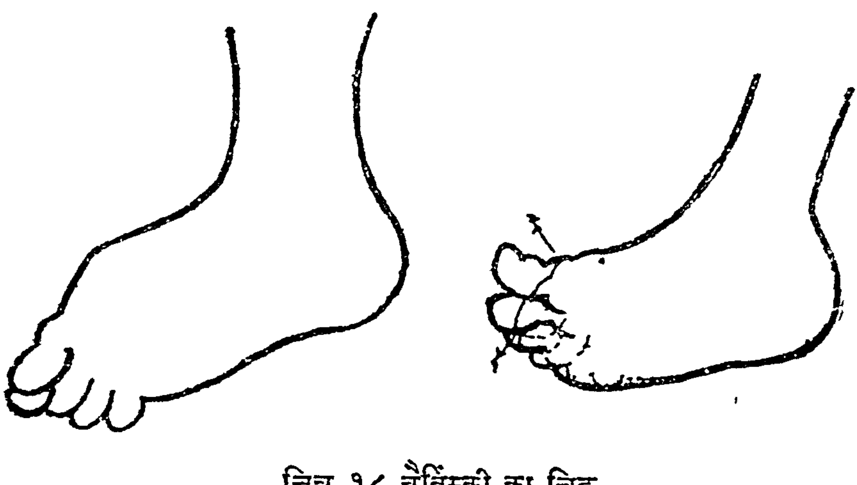
(ख) गंभीर प्रत्यावर्त्तित क्रियायें (Deep reflexes)
(ग) आशयिक प्रत्यावर्तित क्रियायें (Organic reflexes)

उत्तान प्रत्यावर्त्तित क्रियायें

उत्तान प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं में पादतल-प्रत्यावर्त्तन, औदरिक प्रत्यावर्त्तन, नेत्रकला-प्रत्यावर्त्तन, कनीनिका-प्रत्यावर्त्तन, तालु-प्रत्यावर्त्तन ये मुख्य हैं।

पादतल-प्रत्यावर्त्तन (Plantar reflex)

पादतल का भाग यदि किसी तीक्ष्ण वस्तु से रगड़ा जाय तो स्वभावत अंगुष्ठ नीचे की ओर मुड़ जाता है। किन्तु यदि यह ऊपर की ओर मुड़ जाय और अंगुलियाँ परस्पर पृथक् हो जाँय तो यह विकार का सूचक है। इसे वैविंस्को का चिह्न (Babinski's sign) कहते हैं। यह ऊर्ध्वचेष्टावह नाड्यणुघात में



चित्र १८ वैविंस्की का चिह्न

मिलता है। बाल्यावस्था में स्वभावत· मिलता है। इसी प्रकार पिण्डिका पेशियों को दवाकर (ओपेनहेम का चिह्न), पार्ष्णिकण्डरा को दवा कर (गॉर्डन का चिह्न) तथा जंघास्थि की अन्तर्धारा को ऊपर से नीचे की ओर दवाकर यह परीक्षा की जाती है।

औदरिक प्रत्यावर्त्तन (Abdominal reflex)

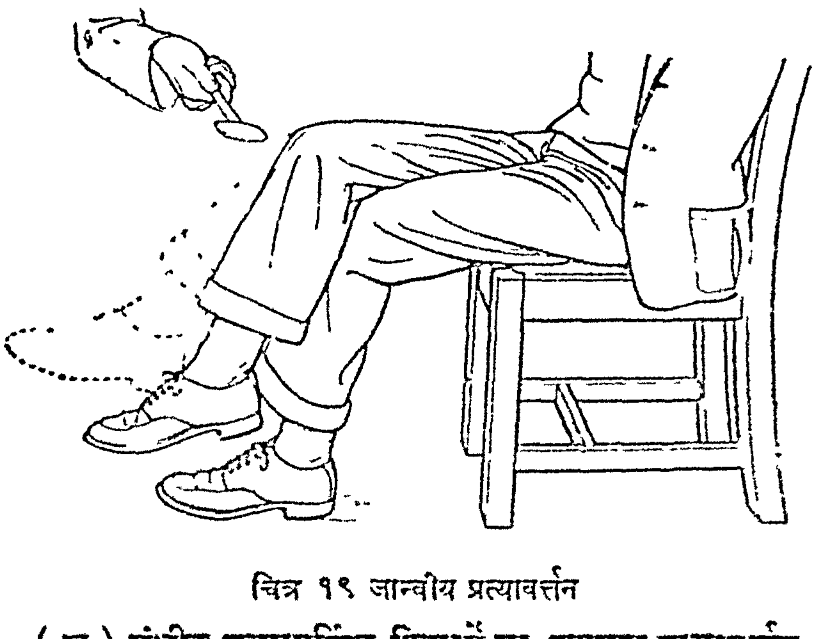
स्वभावत उदरभित्ति पर पिन रगड़ने से उदर पेशियाँ संकुचित होती हैं। ऊर्ध्वचेष्टावह-नाड्यणुघात में यह नष्ट हो जाता है।

कनीनिका-प्रत्यावर्त्तन (Pupillary reflex)

इसके दो भाग हैं—प्रकाश-प्रत्यावर्त्तन और अनुकूलन-प्रत्यावर्त्तन। प्रथम प्रत्यावर्त्तन में प्रकाश से कनीनिका संकुचित होती है और द्वितीय प्रत्यावर्त्तन में दृश्य वस्तु ज्यों-ज्यों निकट लाई जाती है त्यों त्यों कनीनिका संकुचित हो जाती है। फिरंग-खञ्जता (Tabes dorsalis), अलस मस्तिष्कशोथ (Encephalitis lethargica), सुषुम्नाकुल्या विस्तीर्णता (Syringomyelia) इन रोगों में प्रकाश प्रत्यावर्त्तन लुप्त हो जाता है किन्तु अनुकूलन प्रत्यावर्त्तन बना रहता है। इसे आर्जिल रॉबर्टसन कनीनिका (Argyll-Robertson pupil) कहते हैं।

तालु-प्रत्यावर्त्तन

कोमल तालु का स्पर्श करने से उसकी श्लेष्मलकला ऊपर की ओर उठ जाती है। कण्ठरासनी नाडी तथा प्राणदा नाडी के विकारों में यह प्रत्यावर्त्तन लुप्त हो जाता है।



चित्र १९ जान्वीय प्रत्यावर्त्तन

(ख) गंभीर प्रत्यावर्त्तित क्रियायें या कण्डरा-प्रत्यावर्त्तन

यह प्रत्यावर्त्तित क्रियायें अधोचेष्टावह-नाड्यणु के विकारों में लुप्त हो जाती हैं तथा ऊर्ध्वचेष्टावह-नाड्यणु के विकार, कुर्पातुविप, आक्षेपक और अपतन्त्रक में

बढ जाती हैं। इन प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं में जानु-प्रत्यावर्त्तन, गुल्फ-प्रत्यावर्त्तन, त्रिशिरष्का-प्रत्यावर्त्तन, द्विशिरष्का-प्रत्यावर्त्तन, मणिबन्ध-प्रत्यावर्त्तन, हनु-प्रत्यावर्त्तन, गुल्फिकाकुञ्चन, जान्विकाकुञ्चन मुख्य हैं।

रोगविज्ञान की दृष्टि से उत्तान प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं की अपेक्षा गंभीर प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं का महत्त्व अत्यधिक है। इससे यह पता चलता है कि विकृति ऊर्ध्वचेष्टावह कोषाणुओं में है या अधोचेष्टावह कोषाणुओं में। ऊर्ध्वचेष्टावह कोषाणुओं की विकृति में ये क्रियायें बढ जाती हैं और अधोकोषाणुओं की विकृति में घट जाती हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि सुषुम्ना का कौन सा भाग विकृत है। गंभीर प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं का स्वरूप निम्नांकित तालिका से स्पष्ट होगा:—

प्रत्यावर्त्तित क्रिया	आहत कण्डरा	परिणाम	सुषुम्नाकेन्द्र
१. जान्वीय (Knee jerk)	जान्वीय कण्डरा	चतुःशिरस्का पेशी का संकोच, जंघा का प्रसार	२-३-४ कटि-प्रदेश
२. गुल्फीय (Ankle Jerk)	पिण्डिका कण्डरा	जंघापिण्डिका का संकोच पाद का प्रसार	१-२ त्रिक
३. द्विशिरस्कीय (Biceps reflex)	द्विशिरस्काकण्डरा	द्विशिरस्का का संकोच, अग्रबाहु का संकोच	५-६ ग्रैवेयक
४. त्रिशिरस्कीय (Triceps reflex)	त्रिशिरस्काकण्डरा	त्रिशिरस्का का संकोच, अग्रबाहु का प्रसार	६-७ ग्रैवेयक

इनमें भी जान्वीय प्रत्यावर्त्तित क्रिया सर्वप्रधान है और यह समस्त नाडी-संस्थान विशेषतः सुषुम्नाकाण्ड की स्थिति की निर्देशिका है। जान्वीय प्रत्यावर्त्तित क्रिया निम्नांकित अवस्थाओं में बढ जाती है:—

१. ऊर्ध्वचेष्टावह नाडीकोषाणुओं के सभी विकारों में।

२. उच्च केन्द्रों का निरोधक प्रभाव विकृत होने पर यथा अपतन्त्रक में।

३. प्रत्यावर्त्तन चक्र की क्षोभ्यता बढ़ जाने से—यथा हनुस्तम्भ और कुचला विष में।

४. किसी शारीरिक रोग में।

५. भावावेश की अवस्था में।

यह प्रत्यावर्त्तित क्रिया निम्नांकित दशाओं मे कम या लुप्त हो जाती है[1] :—

१. अधोचेष्टावहनाडी कोषाणुओं के विकार में—यथा शैशव पक्षाघात ।

२. पश्चिम मूलों के विकार में ।

३. द्वितीय कटिप्रदेश में स्थित सुषुम्ना के स्थायी विकार ।

४. विषमयता-सहित औपसर्गिक रोग ।

५. मानसिक विश्राम यथा निद्रा ।

६. निद्रानाश या श्रम की अवस्था ।

७. न्यूमोनिया ।

८ अपस्मार के आक्रमण के बाद ।

९ मूत्र-विषमयताजन्य सन्यास ।

१०. अहिफेन-विष ।

गुल्फिकाकुञ्चन (Ankle clonus)

पाद को ऊपर की ओर मोड लो और पादतल को हाथ से दबाओ जिससे पिण्डिका कण्डरा के खिंचाव के कारण जंघापिण्डिका में संकोच होने लगेगा । यह संकोच नियमित रूप से लगभग ८ सेकण्ड होता है । स्वभावत: यह स्वस्थ व्यक्तियों में नहीं मिलता, किन्तु कुछ विकारों में, जिनमें जान्वीय प्रत्यावर्त्तन बढ जाता है, यह देखा जाता है ।[2]

(ग) आशयिक प्रत्यावर्त्तित क्रियायें

निगलन-प्रत्यावर्त्तन, पुरीषोत्सर्ग-प्रत्यावर्त्तन, मूत्रोत्सर्ग-प्रत्यावर्त्तन में आशयिक प्रत्यावर्त्तित क्रियायें हैं । अगघात विशेषतः सुषुम्ना के विकारो में यह क्रियायें अपने आप होने लगती हैं ।

शिर

दर्शन—दर्शन के द्वारा निम्नांकित भावों की परीक्षा की जाती है :—

---

१. 'तस्य चेत् परिमृश्यमानानि पृथक्त्वेन गुल्फजानुवक्षणवृषणमेढ्रनाभ्यंसस्तनमणिकहनुपर्शुकानासिकाकर्णाक्षिभ्रूशङ्खादीनि स्रस्तानि व्यस्तानि च्युतानि स्थानेभ्यः स्कन्नानि वा स्युः परासुरयं पुरुष'''इति विद्यात् ।' (च. इ. ३.)

२. '''तथा स्रस्ते च पिण्डिके । सीदतश्चाप्युभे जंघे तं भिषक् परिवर्जयेत् ।' (च इ. ६)

१. **आकृति**—शिरःशोथ में सिर की आकृति बड़ी हो जाती है। शोष में सिर सूख कर छोटा हो जाता है।

२. **स्वरूप**—अर्दित रोग में सिर के अर्धांग, भ्रू, नेत्र, नासा, जिह्वा, मुख आदि वक्र हो जाते हैं।

३. **शोथ**—सन्निपात तथा कर्णमूलिकाग्रन्थि में कर्णमूलशोथ हो जाता है। शोथरोग में मुखमण्डल शोथयुक्त हो जाता है।

४. **केश**—कालज्वर आदि जीर्ण रोगों में केश झड़ने लगते हैं, खालित्य में बिलकुल गिर जाते हैं।

स्पर्शन—स्पर्शन द्वारा परीक्ष्यमाण भागों की स्थिति [illegible] ज्ञात करनी चाहिए तथा वेदना आदि का ज्ञान करना चाहिए।

मुखमण्डल

मुखमण्डल की परीक्षा करते समय उसके ऊर्ध्व और अधोभागों की ऐच्छिक गतियों तथा भावावेशजन्य प्रत्यावर्तन क्रियाओं का अवलोकन किया जाता है। रसग्रहा कर्णान्तिका नाड़ी के साथ मिले रहने के कारण जिह्वा के अग्रिम ⅔ भाग की रसनाशक्ति से भी इसका संबन्ध रहता है, इसलिए इतने भाग की आस्वादन शक्ति की भी परीक्षा इसके द्वारा की जाती है।

मुखमण्डल की पेशियों का संबन्ध एवं नियन्त्रण मुख नाड़ी से होता है जो नेत्रोन्मीलनी को छोड़ कर मुखमण्डल की सभी पेशियों तथा गलपार्श्वच्छदा का नियमन करती है। यह नाड़ी पूर्ण चेष्टावह है अतः इसके घात से मुखमण्डल में चेष्टासंबन्धी विकार होते हैं। अर्दित रोग में ये विकार स्पष्ट रूप से मिलते हैं। इस नाड़ी का घात होने पर विशेषतः निम्नांकित लक्षण होते हैं—

१. मुखमण्डल के विकृत ऊर्ध्वभाग में स्तब्धता।

२. नासौष्ठवलि की स्पष्टता।

---

१. 'म्लायतो नासिकावंश: पृथुत्वं यस्य गच्छति।
अशूनः शूनसंकाशः प्रत्याख्येयः स जानता॥
अत्यर्थविवृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता।
जिह्वा वा परिशुष्का वा नासिका न स जीवति॥' (च. इ. ८.)

३ भ्रूवलियों का लोप।
४. विकृत पार्श्व का नेत्र अतिविस्फारित।
५. स्वस्थ भाग की ओर मुख का खींचना।
६. सीटी बजाने या गाल फुलाने में असमर्थता।
७. चर्वण में कठिनाई फलतः दाँतों के बीच में भोजन का एकत्रीभवन।
८. जल पीते समय विकृत पार्श्व से जल बाहर गिर जाना।

वक्त्रनाड़ी का घात अधिष्ठान भेद से दो प्रकार का होता है।

१. **ऊर्ध्व केन्द्रकीय घात** (Supranuclear paralysis)—यह घात ऊर्ध्वचेष्टावह-नाड़ीकोषाणु प्रकार का होता है। इसमें विपरीत पार्श्व का घात होता है तथा मुखमण्डल का अधोभाग विशेषत विकृत होता है, किन्तु इसमें पेशियों का क्षय नहीं होता और न इनमें वैद्युत अपकर्षात्मक प्रतिक्रिया होती है।

२. **अधः केन्द्रकीय घात** (Infranuclear paralysis or Bell's palsy)—यह घात अधोचेष्टावह नाड़ीकोषाणु स्वरूप का होता है। इसमें सम पार्श्व का घात होता है तथा मुखमण्डल के ऊर्ध्व और अधः दोनों भाग समान रूप से विकृत होते हैं। इसमें मुखमण्डल की पेशियों का क्षय होता है तथा उनमें वैद्युत अपकर्षात्मक परिवर्तन मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, इस विकार में लालास्राव एवं अश्रुस्राव अधिक होता है। भौंहों को ऊपर चढ़ाने पर ललाट पर रेखायें नहीं बनतीं।

परीक्षण

ऊर्ध्व मुखमण्डल की चेष्टा का परीक्षण करने के लिए निम्नांकित प्रयोग किये जाते हैं—

१. दोनों नेत्रों को बन्द करना।
२. भौंहों को ऊपर चढाना।

अधो मुखमण्डल की परीक्षा निम्नांकिन प्रकार से की जाती है:—

१. सीटी बजाना
२. गाल फुलाना
३. मुसकाना
४. दाँत दिखाना

५. जिह्वा के अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग पर शर्करा, लवण, अम्ल, आदि रखकर उसका स्वाद बतलाना।

चेष्टात्मक परीक्षण के अतिरिक्त, मुखमण्डल में कर्णमूलिक आदि लालाग्रंथियों के शोथ का निरीक्षण भी करना चाहिए। आकृति, सामान्य शोथ आदि का वर्णन अष्टस्थान-परीक्षा में किया गया है।

ग्रीवा

दर्शन—दर्शन-परीक्षा से निम्नांकित बातों की परीक्षा होती है:—

१. आकृति—अर्दित में ग्रीवा वक्र हो जाती है[1] और मन्यास्तम्भ में जकड़ जाती है।

२. शोथ—गलगण्ड में अग्रभाग शोथयुक्त प्रतीत होता है जो निषण-काल में ऊपर-नीचे गति करता है।

३. ग्रन्थियाँ—यक्ष्मा में उर:कर्णमूलिका के सामने तथा फिरङ्ग में उसके पीछे की ग्रंथियाँ बढ़ जाती हैं। गण्डमाला में समस्त ग्रीवा में ग्रन्थियों की शृङ्खला बन जाती है। अपची रोग में ग्रंथियाँ पकती और फूटती रहती हैं।

४. स्पन्दन—हृद्रोग में शिराओं का स्पन्दन तीव्र हो जाता है।

स्पर्शन—स्पर्शन-परीक्षा से उपर्युक्त भावों की निश्चिति और संपुष्टि होती है।

ग्रीवा के परीक्षण काल में ग्रीवापृष्ठगा नाड़ी (Spinal accessory nerve) की भी परीक्षा करनी चाहिए क्यों कि ग्रीवा की पेशियों का सम्बन्ध इससे होता है। इस नाड़ी के घात से पृष्ठच्छदा पेशी के ऊर्ध्वभाग तथा ऊर:कर्णमूलिका पेशी का घात होता है। इनका परीक्षण निम्नांकित रीति से किया जाता है:—

१. पृष्ठच्छदा—रोगी को पीछे खड़े होकर उसके दोनों कंधों पर अपने हाथ रखकर धीरे से दबायें और उसी समय उसे कन्धों को ऊपर की ओर उठा कर कान तक ले जाने को कहें। इससे इस पेशी की चेष्टा का पता चलता है। घात में यह चेष्टा नष्ट हो जाती है।

---

१. 'तस्मिन् संकोचयत्यर्धं मुख जिह्मं करोति हि।' (च. चि. २८)

२ **उरःकर्णमूलिका**—शिर को बायें और दाहिने झटके से घुमाने के लिए रोगी को कहे या रोगी के ललाट पर अपना दाहिना हाथ रख कर धीरे से दबावे और उसी समय शिर नीचे की ओर झुकाने को कहे। उरःकर्णमूलिका पेशी के घात मे यह चेष्टा नष्ट हो जाती है।

मन

धी, धृति और स्मृति ये तीन तत्त्व मन में प्रधान होते हैं। इनके विपर्यय को 'प्रज्ञापराध' कहते हैं जो सामान्यत रोगों की उत्पत्ति में कारण होता है। मानसिक विकारों में विशेष रूप से इनका अन्यथाभाव देखा जाता है। अत' इन तीन तत्त्वों की परीक्षा सावधानी से करनी चाहिए। सूक्ष्मता के कारण इनका ग्रहण प्रत्यक्ष से सभव नही, अत. अनुमान के द्वारा इनका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। रज और तम ये दो दोष मानसिक विकारों के कारणभूत होते हैं, परीक्षण के द्वारा इनकी स्थिति का ज्ञान करना चाहिए।

स्वभावतः मन के द्वारा इन्द्रियार्थों का ग्रहण होता है किन्तु मन विकृत होने पर उनका ग्रहण ठीक ठीक नही होता। उग्र एवं गंभीर विकारों यथा संन्यास, अभिन्यास आदि में इन्द्रियार्थों का अयोग और सन्निपात, विष, उन्माद आदि में मिथ्यायोग के रूप में ग्रहण होता है। मिथ्यायोग में भी निरालंबन विपर्यय (Hallucination) तथा सालंबन विपर्यय[1] (Illusion) मुख्य रूप से देखे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, भ्रम, भावावेश, स्वप्न, प्रलाप आदि भावों की परीक्षा करनी चाहिए जिससे मन की स्थिति का ज्ञान होता है।

इन्द्रियाँ

घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, रसना और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिनसे क्रमशः

---

१. 'अन्तरेण तपस्तीव्र योगं वा विधिपूर्वकम्।
इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमधिगच्छति॥
इन्द्रियाणामृते दृष्टेरिन्द्रियार्थांश्च पश्यति।
विपर्ययेण यो विद्यात्त विद्याद्विगतायुषम्॥
स्वस्थाः प्रज्ञाविपर्यासैरिन्द्रियार्थेषु वैकृतम्।
पश्यन्ति ये सुबहुशस्तेषां मरणमादिशेत्॥' (च. इ ४)

गन्ध, रूप, शब्द, रस और स्पर्श इन इन्द्रियार्थों का ग्रहण होता है। इन्द्रियार्थों का वहन विशिष्ट नाड़ियों द्वारा इन्द्रियाधिष्ठानों से मस्तिष्क तक होता है जहाँ विशिष्ट केन्द्रों में इन्द्रियों की स्थिति होती है। इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं अतः इन्द्रियाधिष्ठानों तथा उनके कार्यों से उनकी स्थिति का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है।[1] इन्द्रियाधिष्ठान तथा इन्द्रियार्थवाहक नाड़ी-मार्गों में विकृति होने से इन्द्रियों का कार्य नहीं हो पाता। अतः इस प्रकरण में इन्द्रियाधिष्ठानों तथा इन्द्रियार्थवह विशिष्ट शीर्षण्य नाड़ियों की परीक्षा करनी चाहिए। शीर्षण्य नाडियों की विकृति विशेषतः आघात, रक्तवह स्रोतों के विकार, शोथ, अर्बुद, अपकर्ष, विषमयता, दौर्बल्य एवं सहज कारणों से होती है।

१. घ्राण

सर्वप्रथम नासिकावंश के स्वाभाविक प्रमाण एवं आकृति पर ध्यान देना



चित्र २० सहज फिरंग में नासावंश

चाहिए। नासावंश की स्थूलता, शोथ, वक्रता, शुष्कता ये अरिष्ट लक्षण हैं। सहज फिरंगरोग में **नासावंश** दवा रहता है और कुष्ठ में विशीर्ण हो जाता है।

---

१. 'अनुमानैः परीक्षेत दर्शनादीनि तत्त्वतः।
अद्धा हि विदितं ज्ञानमिन्द्रियाणामतीन्द्रियम् ॥' (च. इ. ४)

वातरक्त में नासावंश का अग्रभाग स्थूल और लालिमायुक्त होता है। अर्दित में नासा टेढी हो जाती है। नासाविवरों के विस्फार का भी निरीक्षण करना चाहिए। अतिविस्फारित या अतिसवृत नासाविवर विकारों के द्योतक हैं।[1] नासा के भीतर श्लेष्मल कला की परीक्षा करनी चाहिए और उसमें व्रण, अर्बुद आदि का पता लगाना चाहिए।

इन्द्रियाधिष्ठान (नासा) की परीक्षा के बाद घ्राणेन्द्रिय की परीक्षा करनी चाहिए। इसके लिए रोगी को आँखें बन्द करा के पिपरमिण्ट, लैवेण्डर, हीग, लवंगतैल आदि सूंघने के लिए देना चाहिए। दोनों नासापुटों से पृथक् पृथक् परीक्षा करनी चाहिए। अमोनिया आदि अतितीक्ष्ण वस्तुओं का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि ये त्रिधारा नाड़ी के सूत्रों को उत्तेजित कर देती हैं फलत· गंधशक्ति का विवेचन ठीक ठीक नही हो पाता।

गंध का वहन घ्राण नाड़ी (Olfactory nerve) द्वारा होता है। उक्त परीक्षा के द्वारा इस नाड़ी की वाहकता का निर्णय हो जाता है। अभिघात, भग्न, श्लेष्मावरण, अर्बुद आदि कारणो से वातप्रकोप होने पर घ्राण नाडी का कार्य ठीक नही होने पाता, फलत गंध का ज्ञान नही होता (Anosmia)। घ्राणकेन्द्र-कर्णिका (Uncinate gyrus) और उपधानकर्णिका (Hippocampus gyrus) में स्थित घ्राणकेन्द्र में विकृति होने के कारण तथा अनेक मानसिक रोगों में गन्ध का विपर्ययज्ञान (Parosmia) होता है।

२. चक्षु

पहले नेत्र की वक्रता तथा पलक, पक्ष्म एवं विभिन्न पटलों में लालिमा, शोथ, व्रण आदि के लिए परीक्षण करना चाहिए। तदनन्तर दृष्टिशक्ति, दृष्टि-क्षेत्र वर्णसंज्ञा तथा नेत्रदर्शक यन्त्र द्वारा नेत्र के आभ्यन्तर भागों की परीक्षा होनी चाहिए। कनीनिका का प्रमाण भी देखना चाहिए।[2]

---

१. 'ग्लायतो नासिकावशः पृथुत्व यस्य गच्छति।
अशूनः शूनसंकाशः प्रत्याख्येयः स जानता॥
अत्यर्थविवृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता।
जिह्वा वा परिशुष्का वा नासिका न स जीवति॥' (च. इ. ८)

२. 'तस्य चेच्चक्षुषी प्रकृतिहीने विकृतियुक्तेऽत्युत्पिण्डितेऽतिप्रविष्टेऽतिजिह्मेऽतिविषमेऽतिप्रस्नुतेऽतिविमुक्तबन्धने सततोन्मेषिते सततनिमेषिते निमेषोन्मेषाति-

नेत्र से अनेक नाड़ियों का संबन्ध होता है। दृष्टिनाड़ी (Optic nerve) रूपसंज्ञा का वहन करती है; नेत्रचेष्टनी (Oculomotor nerve), कटाक्षिणी (Trochlear nerve) तथा नेत्रपार्श्विकी (Abducens nerve) नेत्र की चेष्टाओं का नियमन करती है और त्रिधारा नाडी की चाक्षुषी शाखा वर्त्मसंज्ञा का वहन करती है। इसके अतिरिक्त, ग्रैवेयक सांवेदनिक नाड़ीसूत्र कनीनिका के प्रसारक सूत्रों, नेत्रोन्मीलनी पेशी के स्वतन्त्र भाग तथा नेत्रगोलक के पश्चिम भाग में स्थित स्वतंत्र पेशी का नियन्त्रण करती हैं।

नेत्र की परीक्षा के प्रकरण में इन नाडियों की परीक्षा आवश्यक है।

दृष्टिनाड़ी

इसकी परीक्षा में निम्नाङ्कित बातें देखनी चाहिए—

१. **दृष्टि-शक्ति**—विशिष्ट परीक्षण-पट्टिका पर अंकित लिपि को रोगी से २० फीट की दूरी पर बैठा कर दोनों नेत्रों से अलग अलग पढाना चाहिए।

२ **वर्ण-संवेदना**—विभिन्न वर्ण की वस्तुओं को दिखला कर वर्णसंवेदना की परीक्षा की जाती है।

३. **दृष्टिक्षेत्र**—रोगी को अपने सामने एक गज की दूरी पर बैठावे। उसकी एक आँख बन्द कर दूसरी आँख के सामने अपनी मुट्ठी बाँधकर ऊपर-नीचे तथ बगल में घुमावे। जहाँ तक रोगी देख सके वही उसका स्वाभाविक दृष्टि-क्षेत्र है।

४. **नेत्रदर्शकयंत्र-परीक्षा**—इससे नेत्र के गम्भीर रोगों में दृष्टिबिम्ब तथा दृष्टिवितान की परीक्षा की जाती है।

दृष्टिनाड़ी के विकृत होने पर निम्नाङ्कित लक्षण होते हैं—

१ समान पार्श्व की अन्धता होती है।

२. समान पार्श्व की कनीनिका विस्फारित और निश्चल होती है।

३. प्रकाश-प्रत्यावर्त्तन समाप्त हो जाता है।

प्रवृत्ते विभ्रान्तदृष्टिके विपरीतदृष्टिके हीनदृष्टिके व्यस्तदृष्टिके नकुलान्धे कपोतान्धेऽलातवर्णे कृष्णनीलपीतश्यावताम्रहरितहारिद्रशुक्लवैकारिकाणां वर्णानामन्यतमेनातिसंयुते वा स्यातां, परासुरिति विद्यात्।' (च इ ३)

नेत्रचेष्टनी नाड़ी (Oculomotor nerve)

यह नाड़ी नेत्र की मुख्य चेष्टावह नाड़ी है। इसका संबन्ध निम्नांकित पेशियों से होता है—

१. बहिर्दर्शिनी और वक्रोर्ध्वदर्शिनी पेशियों को छोड़ कर नेत्र की सभी पेशिया।

२. कनीनिकासंकोचनी पेशी।

३. अनुकूलनी पेशी।

४. नेत्रोन्मीलनी पेशी।

इस नाड़ी की परीक्षा के लिए कनीनिका की स्थिति और नेत्र की गतियों को देखना चाहिये।

कनीनिका

कनीनिका सम है या विषम तथा उसकी आकृति क्या है यह देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रकाश-प्रत्यावर्त्तन तथा अनुकूलन-प्रत्यावर्त्तन की भी परीक्षा करनी चाहिए।

(क) कनीनिका का विस्फार निम्नांकित रोगों में होता है—

१ अवटु-वृद्धि

२. चिन्ता

३. तारामंडलीय संशक्ति

४. नेत्र में अत्रपीन का प्रयोग

५. नेत्रचेष्टनी का अंगघात

(ख) कनीनिका का संकोच निम्नांकित रोगों में होता है—

१ नाड़ीगत फिरंग विशेषत फिरंगी खंजता।

२. अहिफेन-विष

३. धमनीकाठिन्य

४. इसेरीन का नेत्र में प्रयोग

(ग) निम्नांकित रोगों में विषम कनीनिका मिलती है—

१. नेत्रचेष्टनी नाड़ी के विकार

२. सावेदनिक नाड़ी का एकपार्श्विक विकार

३. तारामंडलशोथ

४. फिरंग

५. मस्तिष्कगत अर्बुद

(घ) अनियमित कनीनिका निम्नांकित रोगों मे मिलती है—

१. तारामण्डलीय संसक्ति

२. फिरंग

३. मस्तिष्कशोथ।

नेत्र में प्रकाश देने पर स्वभावतः कनीनिका संकुचित हो जाती है, इसे प्रकाश-प्रत्यावर्त्तन कहते हैं। इसी प्रकार कोई वस्तु समीप ले जाने पर कनीनिका संकुचित हो जाती है इसे अनुकूलन-प्रत्यावर्त्तन कहते हैं।

प्रकाश-प्रत्यावर्त्तन निम्नांकित रोगों में कम या नष्ट हो जाता है—

१. दृष्टिनाड़ी के विकार।

२. मध्यमस्तिष्क या नेत्रचेष्टनी-केन्द्रक के विकार।

कभी कभी प्रकाश-प्रत्यावर्त्तन नष्ट हो जाता है किन्तु अनुकूलन-प्रत्यावर्त्तन बना रहता है इसे आर्जिल रॉबर्टसन कनीनिका (Argyll Robertson Pupil) कहते हैं। यह निम्नांकित रोगों में मिलता है—

१. मस्तिष्कसुषुम्नागत फिरंग।

२. निद्रालसी मस्तिष्कशोथ।

अनुकूलन-प्रत्यावर्त्तन नेत्रचेष्टनी नाडी के अंगघात में नष्ट हो जाता है।

नेत्रचेष्टनी नाड़ी के अंगघात में निम्नांकित लक्षण होते हैं—

१. वातहत वर्त्म।

२. कनीनिका विस्फार।

३. अनुकूलनप्रत्यावर्त्तन का लोप।

कटाक्षिणी नाड़ी (Trochlear nerve)

इसका संबन्ध नेत्र की वक्रोर्ध्वदर्शिनी पेशी से है अतः इसके अंगघात में नेत्रगोलक को नीचे घुमाने में कठिनाई होती है।

नेत्रपार्श्विकी नाड़ी (Abducens nerve)

इसका संवन्ध नेत्र की वहिर्दर्शिनी पेशी से है अतः इसके घात में नेत्रगोलक वाहर की ओर नही घुमाया जा सकता। बाहर की ओर देखने से एक वस्तु युग्म रूप में दिखाई पड़ती है इसे युग्मदृष्टि (Diplopia) कहते हैं। इस अवस्था में रोगी की दृष्टि अन्तस्तिर्यक् (Internal squint) हो जाती है।

अनेक नाड़ी संस्थानगत विकारों में अस्थिर दृष्टि (Nistagmus) हो जाती है जब किसी दृश्य वस्तु को देखने से नेत्रगोलक में कम्पन होने लगता है। इसकी परीक्षा भी नेत्रपरीक्षणकाल में करनी चाहिए।

त्रिधारा नाड़ी (Trigeminal nerve)

इसकी तीन शाखायें हैं—

१. चाक्षुषी (Ophthalmic)—यह संज्ञावह है।

२. ऊर्ध्वहानव्या (Maxillary)—यह संज्ञावह सूत्रों से बनी है।

३. अधोहानव्या (Mandibular)—इसमें संज्ञावह और चेष्टावह दोनों प्रकार के सूत्र रहते हैं।

त्रिधारा नाड़ी के संज्ञावह सूत्र कपाल, नेत्र, मुखमण्डल, नासा, मुख, कर्ण और जिह्वा के अग्रिम भाग एवं सुषुम्ना के बाह्यावरण में फैले रहते हैं। इसके चेष्टावह सूत्रों का सबन्ध चर्वण की पेशियों, हनुकूटकर्षिणी, हनुमूलकर्षिणी, द्विगुम्फिका पेशी का अग्रभाग, तालूत्तंसिनी, पटहोत्तंसिनी, एवं शंखच्छदा पेशी से होता है।

इस नाड़ी के घात में निम्नांकित लक्षण होते हैं—

१. इस नाड़ी से संबद्ध अंगों में संज्ञानाश।

२. चर्वण में कठिनाई।

३. संवद्ध पेशियों का क्षय।

४. लाला, मुख एवं अश्रु की ग्रन्थियों के स्राव में कमी।

५. समान पार्श्व में जिह्वा में अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग में रस-संज्ञा का लोप।

६. स्वच्छमंडल-प्रत्यावर्त्तन का लोप।

७. अधोहनु का विकृत पार्श्व की ओर झुकना।

इस नाड़ी की परीक्षा निम्नाकित प्रकार से की जाती है—

संज्ञा-परीक्षा—

१. संवद्ध भागों की त्वचा पर स्पर्श कर संज्ञा की परीक्षा करनी चाहिए।

२. प्याले से जल पीते समय रोगी का सन्देह होता है कि प्याला टूटा तो नही है क्योंकि वह उसके एक ही भाग को स्पर्श कर पाता है।

३ जिह्वा के अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग पर शर्करा, लवण आदि रख कर रस-संज्ञा की परीक्षा करे।

४. स्वच्छमंडल-प्रत्यावर्त्तन (Corneal reflex)—

स्वभावत नेत्र के स्वच्छमंडल को छूने से नेत्र वन्द हो जाता है। नाड़ी के अंगघात में यह प्रत्यावर्त्तन नष्ट हो जाता है।

चेष्टा-परीक्षा—

१ रोगी को दाँत दबाने को कहे और उसी समय उसकी चर्वण-पेशियों तथा शंखच्छदा-पेशियों को देखे।

२. रोगी को मुख खोलने को कहे। नाड़ी के अंगघात में अधोहनु विकृतपार्श्व की ओर झुक जाता है।

श्रोत्र

कर्णमल, कर्णस्राव आदि के लिए वाह्य कर्ण की परीक्षा करनी चाहिए। श्रोत्रदर्शक यंत्र से कर्ण की आभ्यन्तर स्थिति देखनी चाहिए तथा कण्ठकर्णी नलिका में अवरोध आदि का निरीक्षण करना चाहिए। श्रोत्र से शब्द का ग्रहण ठीक-ठीक होता है या नहीं इसे देखना चाहिए। श्रोत्र से श्रुतिनाड़ी (Auditory nerve) का संवन्ध है जो शब्द-संज्ञा का वहन करती है। यह कार्य इस नाड़ी के शंबूकीय

भाग से होता है। बाधिर्य दो कारणों से होता है:—१. इस नाड़ी के घात से २. कर्णस्रोत में अवरोध होने से। अतः यदि बाधिर्य का कष्ट हो तो पता लगाना चाहिए कि यह नाड़ीघातजन्य है या मार्गावरोधजन्य ? इसके लिए निम्नांकित परीक्षायें की जाती हैं:—

१. रिनो की परीक्षा (Rinne's test):—

एक कम्पनशील धातुयंत्र को ध्वनित कर शंखास्थि के गोस्तन भाग पर रक्खें। जब ध्वनि का सुनना बन्द हो जाय तब इसे उठा कर कर्णद्वार के समीप रक्खें। कर्णस्रोत ठीक होने पर इसकी ध्वनि सुनाई देगी अन्यथा नहीं। श्रुतिनाड़ी की विकृति से ध्वनि कहीं नहीं सुनाई देगी।

२. वेबर की परीक्षा (Weber's test):—

इसमें कम्पनशील धातुपत्र को ध्वनित कर ललाट पर रखते हैं। स्वभावतः यह ध्वनि दोनों कानों से समान सुनाई पड़ती है। मध्यकर्ण की विकृति में यह ध्वनि विकृत कर्ण में अधिक सुनाई पड़ती है जब कि श्रुतिनाड़ी की विकृति में यह केवल प्राकृत कर्ण में ही सुनाई देती है।

श्रुतिनाड़ी के क्षोभ से कान में एक प्रकार की आवाज़ बराबर गूँजती रहती है इसे कर्णक्ष्वेड कहते हैं। यह वातप्रकोप के कारण होता है।

श्रुतिनाडी के तुम्बिकाधारीय भाग (Vestibular part) में विकृति होने से शरीर का सन्तुलन नष्ट हो जाता है और भ्रमरोग होता है।

रसना

जिह्वा का वर्ण, शोथ, विदार, व्रण आदि देख लें। रोगी से जिह्वा बाहर निकालने को कहे। अर्दित में जीभ टढी निकलती है। जिह्वास्तम्भ में जीभ बाहर नही निकलती। जिह्वा की रसनाशक्ति की परीक्षा करनी चाहिए।

जिह्वा के अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग से रस-सञ्ज्ञा का सवहन त्रिधारा नाड़ी से तथा पश्चिम $\frac{1}{3}$ भाग से कण्ठरासनी नाड़ी के द्वारा होता है। जिह्वा की चेष्टाओं का संबन्ध जिह्वामूलिनी नाड़ी से है। तालु और स्वरयन्त्र से प्राणदा नाड़ी का सबन्ध होता है। अत' इन नाड़ियों की परीक्षा इस प्रसग में आवश्यक है।

कण्ठरासनी नाड़ी (Glosso-pharyngeal nerve)

यह नाड़ी मिश्र स्वरूप की है और इसमें संज्ञावह और चेष्टावह दोनों प्रकार के सूत्र हैं। सज्ञावह भाग का संबन्ध जिह्वा के पश्चिम ⅓ भाग से तथा ग्रसनिका की श्लेष्मल कला से होता है और चेष्टावह भाग का संबन्ध कण्ठसंकोचनी पेशी तथा शिफागलान्तरीय पेशी से है।

जिह्वा के पश्चिम ⅓ भाग मे स्वाद की परीक्षा करने तथा ग्रसनिका-प्रत्यावर्त्तन (Pharyngeal reflex) को देखने से इस नाड़ी की स्थिति का ज्ञान होता है। नाड़ी के घात में ये संज्ञायें नष्ट हो जाती हैं।

जिह्वामूलिनी नाड़ी (Hypoglossal nerve)

यह पूर्ण चेष्टावह है और जिह्वा तथा कण्ठिकास्थि की अवनामक पेशी से इसका संबन्ध रहता है। नाड़ी के घात में जिह्वा ठीक से वाहर नही निकल पाती और विकृत पार्श्व की ओर झुक जाती है।

प्राणदा नाड़ी (Vagus nerve)

यह मिश्र नाड़ी है। इसका चेष्टावह भाग कोमल तालु, ग्रसनिका, स्वरयंत्र एवं हृदय आदि आशयों से संवद्ध है और संज्ञावह भाग श्वसनमार्ग, हृदय आदि आशयों से संवन्ध रखता है।

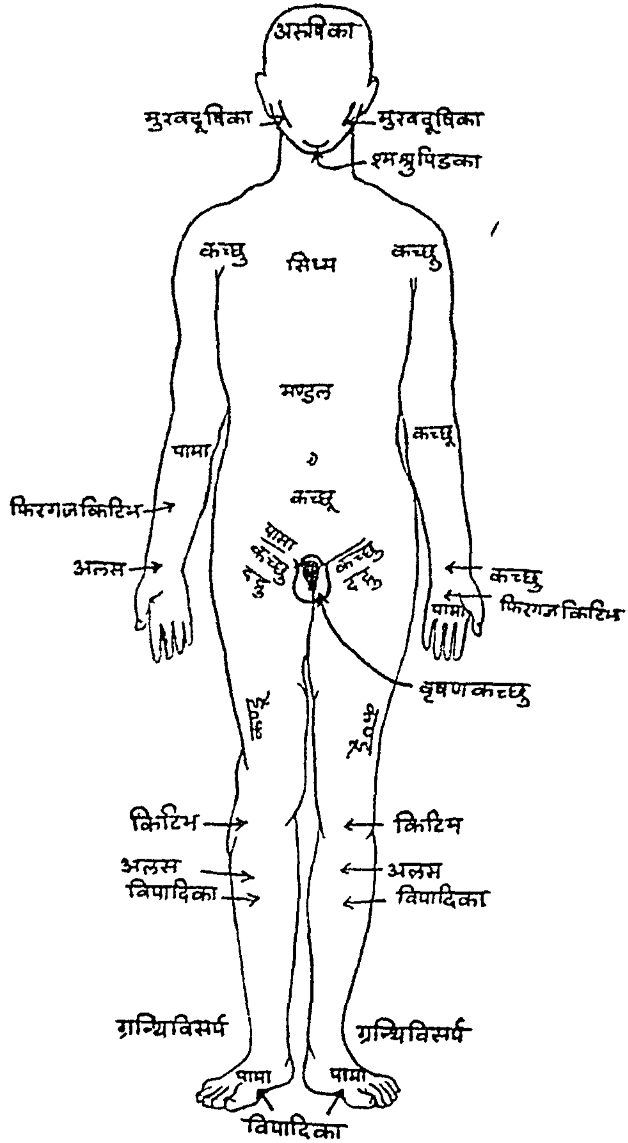
इस नाड़ी के घात में तालु की चेष्टा नष्ट हो जाती है। जल पीते समय जल नाक से वाहर आ जाता है। ध्वनियों का उच्चारण सानुनासिक होता है। स्वरतन्त्रिका शिथिल हो जाती है और ध्वनि रूक्ष एवं गंभीर हो जाती है।

त्वक्

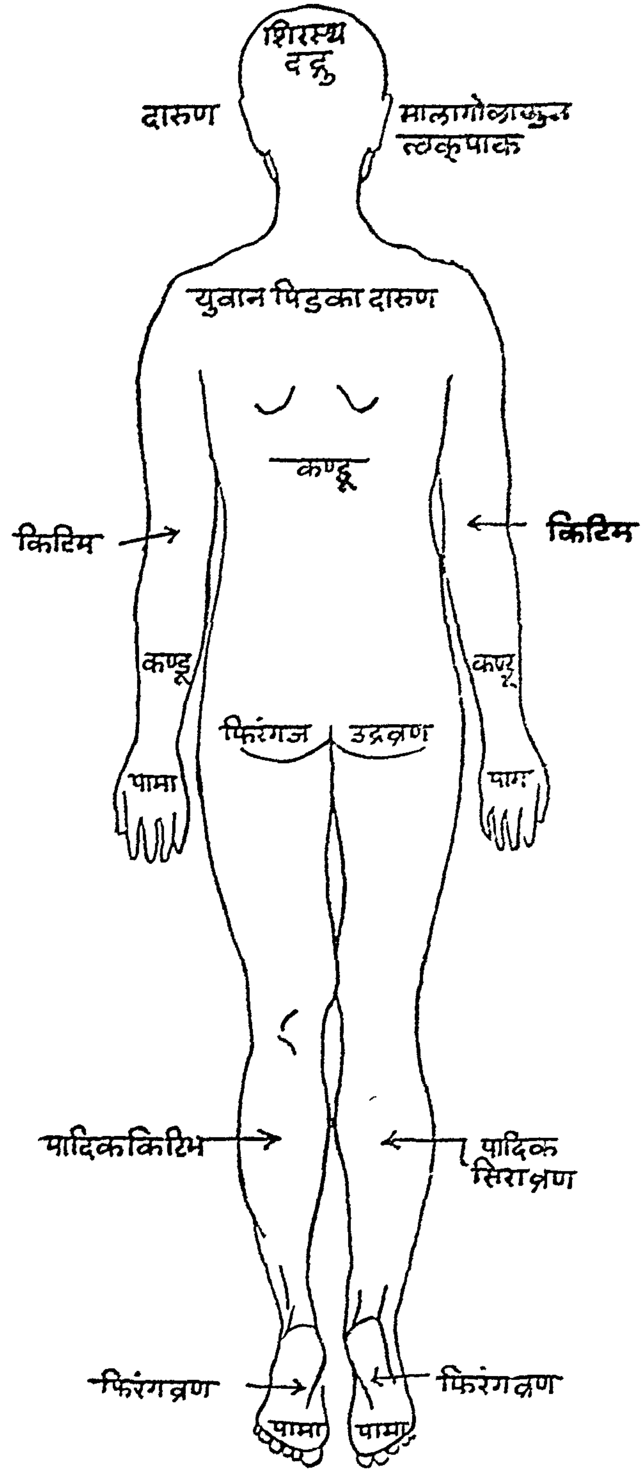
वर्ण, विस्फोट, शोथ आदि के अतिरिक्त त्वचा की स्पर्श-शक्ति की परीक्षा रोगी की आँख वन्द करा के करनी चाहिए। केशों और रोमों को भी खीच कर देखना चाहिए।[1]

---

१. 'आयम्योत्पाटितान् केशान् यो नरो नावबुध्यते।
अनातुरो वा रोगी वा षड्रात्रं नातिवर्त्तते॥' (च इ. ८)



चित्र ५१—त्वक्‌रोगों के अधिष्ठान



चित्र २२—त्वक्रोगों के अधिष्ठान

बाल-परीक्षा

वय के अनुसार बालक तीन प्रकार के होते हैं—

१. क्षीरप — १ वर्ष की आयु तक।
२. क्षीरान्नाद — २ वर्ष की आयु तक।
३. अन्नाद — १६ वर्ष की आयु तक।

आधुनिक दृष्टि से बालकों का विभाजन निम्नांकित रीति से किया गया है—

१. नवजात (Newborn) — १ मास की आयु तक।
२. शिशु (infant) — २ वर्ष की आयु तक।
३. बालक (Child) — १२ वर्ष की आयु तक।
४. किशोर (Adolescent) — १६ वर्ष की आयु तक।

प्रश्न-परीक्षा

बालकों के सबन्ध में रोगी का इतिवृत्त लेते समय निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

१. **पारिवारिक वृत्त**—माता-पिता तथा भाई-बहन के स्वास्थ्य विशेषतः फिरंग, अपस्मार आदि रोगों के विषय में पूछना चाहिए। माता की गर्भावस्था एवं गर्भपात आदि के सबन्ध में भी जानकारी करनी चाहिये।

२. **पूर्ववृत्त**—बालक के पूर्वकालिक स्वास्थ्य के संबन्ध में प्रश्न करना चाहिए। विशेषतः प्रसव एवं जन्मकाल में बालक की क्या स्थिति थी इसका पता अवश्य लगाना चाहिए।

३. **वर्त्तमान वृत्त**—वर्त्तमान वृत्त में बालक के आहार, विहार, निद्रा के संबन्ध में पूछना चाहिए। लक्षणों में विबन्ध, अतिसार, वमन, कास, ज्वर पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा

परीक्षा के द्वारा बालक की वेदना का पता लगाना बहुत कठिन होता है। बालक के निद्राकाल में परीक्षा अच्छी तरह की जा सकती है। जाग्रत अवस्था में उसका पूर्ण विश्वस्त बन कर तथा उसका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित कर कार्य

किया जा सकता है। वालक यदि रोने लगे तो परीक्षा व्यर्थ हो जाती है। इसलिए यह कार्य बड़ी सावधानी एवं चतुरता से करना चाहिए।

वालक के रुदन से उसकी व्यथा का संकेत मिलता है। उसकी विशिष्ट चेष्टा से या जिस जिस अंग पर उसका हाथ वार वार जाय वहाँ वेदना का अधिष्ठान समझा जाता है, यथा—नेत्र वार वार मूँदने से या ललाट पर रेखायें होने मे शिरःशूल का अनुमान किया जाता है। स्तनदंश, अन्त्रकूजन, आध्मान आदि के द्वारा कोष्ठगत शूल का पता लगता है।[1] वक्ष में शूल होने पर नासापुट विस्फारित हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य विकारों का संकेत प्राप्त होता है।

वालकों के रोग

वालकों में विशेषतः निम्नांकित रोगों का वाहुल्य देखा जाता है अतः इन पर विशेष ध्यान देना चाहिए—

(क) प्रसवकालीन आघातजन्य विकार।

(ख) कुलज रोग—यथा फिरंग, रक्तस्राव, अपस्मार आदि।

(ग) स्तन्यदोषजन्य विकार—यथा कुकूणक, पारिगर्भिक आदि।

(घ) ग्रहदोपजन्य विकार—अपस्मार, आक्षेपक आदि।

(च) सहज विकार—अतिह्रस्वता, अतिदीर्घता आदि।

(छ) क्षयजन्य विकार—वातवलासक, अस्थिक्षय आदि।

(ज) औपसर्गिक विकार—विसर्प, मसूरिका, रोमान्तिका, रोहिणी, मस्तिष्कावरणशोथ, प्रवाहिका, आमवात, कुकास, उत्फुल्लिका, यक्ष्मा आदि।

(झ) कृमिरोग—

(ट) अन्य विकार—यकृद्दाल्युदर, अश्मरी आदि।

---

१ 'शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम्।
स य स्पृशेद्भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः॥
तत्र विद्याद्रुजं मूर्ध्नि रुज चाक्षिनिमीलनात्।
कोष्ठे विवन्धवमथुस्तनदंशान्त्रकूजनैः॥
आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि।
वस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसंगत्रासदिगीक्षणैः॥
स्रोतास्यंगानि संधींश्च पश्येद् यत्नान्मुहुर्मुहुः। (मा. नि.)

स्त्री-परीक्षा

स्त्रियों की रोग-परीक्षा करते समय उसका पति या कोई संबन्धी अवश्य रहना चाहिए। यह व्यक्ति स्त्री का ऐसा आत्मीय हो जिसके सामने वह अपनी सारी वेदना खुल कर कह सके। अन्य पुरुषों के समक्ष इनकी परीक्षा न कर एकान्त में करनी चाहिए।

प्रश्न-परीक्षा

स्त्रियों से निम्नांकित प्रश्न विशेष रूप से करने चाहिए—

१ **आर्त्तव**—आर्त्तव प्राकृत परिमाण में और नियत अवधि तक रहता है या कम या अधिक होता है? आर्त्तवकाल में पीड़ा तो नहीं होती है? आर्त्तवकाल या बीच में योनि से श्वेत स्राव तो नहीं होता?

२. **गर्भ और सन्तति**—रोगिणी की गर्भावस्था कैसी रहती है? गर्भपात तो नहीं होता? सन्तति कितनी है और उसका स्वास्थ्य कैसा है? फिरग आदि रोगों का पता अवश्य लगाना चाहिये।

३. **स्तन्य**—स्तन्य का प्रमाण और स्वरूप कैसा रहता है?

४. **अन्य लक्षण**—ज्वर, छर्दि, शिर शूल, वस्तिशूल, हाथ पैर में जलन, मूर्च्छा आदि लक्षणों के सबन्ध में प्रश्न होना चाहिये।

पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा

यौन रोगों में उदर, योनि और गर्भाशय की परीक्षा पूर्णरूप से होनी चाहिए। गर्भ और अर्वुद की परीक्षा कर उसका निर्णय करना चाहिये।

वैकृती परीक्षा

स्तन्य और आर्त्तव की परीक्षा करनी चाहिए।

स्त्रियों के रोग

स्त्रियों में विशेषत: निम्नाकित रोगों पर ध्यान देना चाहिए—

१ योनिव्यापद्
२. स्तन्यदोष
३. रक्तगुल्म तथा अन्य अर्वुद
४. अपतन्त्रक
५. सोमरोग
६. आमवात
७ यक्ष्मा
८. हलीमक
९. हृद्रोग

चतुर्थ अध्याय

वैकृती परीक्षा

(Laboratary methods)

रोगी के शरीर से निकले हुए विविध उत्सर्गों की वैकृती परीक्षा (Pathological examination) से रोग-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है। आधुनिक रोगनिर्णय तो अधिकाश इसी पर निर्भर होता है। इन उत्सर्गों में दोष, धातु और मल इन तीनों की प्रयोगशाला में पूर्ण परीक्षा की जाती है।

दोष

दोषों में वात निराकार और सूक्ष्म होने के कारण उसका प्रत्यक्षीकरण संभव नही है। अतः पित्त और कफ की ही परीक्षा की जाती है। कार्यों के द्वारा वायु की स्थिति का केवल अनुमान किया जाता है।

पित्त

पॉच प्रकार के पित्त में पाचक पित्त सर्वप्रमुख है। महास्रोत में उद्रिक्त विविध रस जो आहार के पाचन में सहायक होते हैं पाचक पित्त के अन्तर्गत आते हैं। रोगपरीक्षा में आमाशयिक रस, याकृत पित्त तथा यकृत की अन्य पाचक क्रियाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः इस प्रसंग में इनकी परीक्षा का वर्णन किया जाता है।

आमाशयिक रस

आमाशय में पित्त के स्राव तथा भुक्त आहार पर उसके प्रभाव के निर्णय के लिए आमाशयस्थ द्रव्यों की परीक्षा की जाती है। आमाशय में उद्रिक्त पित्त के स्वरूप और कार्य के निरीक्षक के लिए रिक्त आमाशय में से परीक्षणीय द्रव्य आमाशय नलिका द्वारा वाहर निकालते हैं। इसकी सामान्य विधि यह है कि रोगी को कुछ मास, शाक, मिष्टान्न तथा मेवे खिलावे और १२ घण्टों के वाद इसे उपर्युक्त विधि से वाहर निकाले। बीच में कुछ खाने को न दे।

प्राकृतिक स्थिति में इसमें ५० प्रतिशत से कम पित्त होता है और आहार का कोई अंश नही होता। निम्नाकित विकारो में इसमें परिवर्त्तन आ जाता है।—

१. श्लैष्मिक शूल (Gastritis)—इसमें स्वल्प तथा सान्द्र क्षारीय द्रव निकलता है जिसमें श्लेष्मा का अश अधिक होता है।

२. पैत्तिक परिमाण-शूल (Gastric ulcer)—इसमें अत्यम्ल द्रव निकलता है जिसमें आहार का कोई अवशिष्ट अश नहीं रहता।

३ मुद्रिकावरोध (Pyloric obstruction)—इसमें अम्ल द्रव होता है तथा उसमें स्टार्च, शाक एवं मास के अवशेष होते हैं। सार्सीनी और यीस्ट भी पाये जाते हैं।

४ घातक अर्बुद—मास तथा शाक दोनों के अवशेष पाये जाते हैं। स्वतंत्र लवणाम्ल नही होता किन्तु दुग्धाम्ल पाया जा सकता है।

भुक्त आहार पर पित्त के कार्य के अवलोकन के लिए परीक्षाहार-विधि (Test meal method) उपयुक्त होती है। यह दो प्रकार की होती है।— पूर्ण परीक्षाहार-विधि (Single test meal method) तथा आशिक परीक्षाहार-विधि (Fractional test meal method)।

(क) इवाल्ड की पूर्ण परीक्षाहार-विधि (Single test meal method of Ewald)—

इसमे रोगी को रात में लघु भोजन देते हैं। तदनन्तर प्रात काल आमाशयस्थ द्रव्य बाहर निकाल लिये जाते हैं। पुनः लगभग ५ छटाक चाय और १½ छटाक बासी रोटी खिलाते हैं और १ घंटे बाद इसे भी आमाशयनलिका द्वारा बाहर निकाल लेते है। इस प्रकार प्राप्त द्रव्य की परीक्षा भौतिक और रासायनिक पद्धतियों से करते हैं।

भौतिकपरीक्षा

१ स्वरूप—इसमें उसके वर्ण, गन्ध आदि भौतिक गुणों का विचार किया जाता है। आमाशयिक व्रण में इसमें रक्त की उपस्थिति हो सकती है। आमाशयिक कैंसर में दुर्गन्धयुक्त द्रव और किण्वीकरण के कारण तीक्ष्णाम्लगंधि होता है।

२. मात्रा—प्राप्त द्रव्य की मात्रा ६०–१०० सी० सी० होनी चाहिए। वायु के कारण आमाशय की अत्यधिक गतिशीलता से मात्रा कम तथा अतिस्राव, मुद्रिकावरोध एवं पैत्तिक रोगों में मात्रा अधिक होती है।

रासायनिक परीक्षा

१. **प्रतिक्रिया**—स्वभावतः इसकी प्रतिक्रिया आम्लिक होती है।

२ **मात्रिक परीक्षा**—स्वतंत्र लवणाम्ल तथा सेन्द्रिय आम्लों की मात्रा देखी जाती है। स्वतंत्र लवणाम्ल की मात्रा सामान्यतः निम्नाङ्कित होती हैं—

प्राकृत—०·१५%
आमाशयिक व्रण ०·२४%
आमाशयिक कैंसर ०·०५%

३. **किण्वतत्त्व-परीक्षा**—आमाशयिक रस में स्थित पेप्सिन आदि किण्व तत्त्वों की क्रिया की परीक्षा भी की जाती है।

भुक्त आहार पर आहार का स्वरूप, आमाशयिक रस का स्राव, मुद्रिकाद्वार की स्थिति तथा रोगी की मानसिक स्थिति आदि अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है और चूँकि समय-समय पर इन परिस्थितियों के कारण भुक्त आहार के परिवर्त्तनों में भी विविधता आती रहती है अतएव इन आवस्थिक परिवर्त्तनों की व्यञ्जना न करने के कारण यह पूर्ण परीक्षाविधि विशेष उपयोगी नहीं, फलतः अब इसका व्यवहार नहीं होता।

(ख) आंशिक परीक्षाहारविधि (Fractional test meal)

इस विधि से आमाशयिक स्राव, आमाशय की गति तथा पित्त के विदाह आदि का परिज्ञान होता है। परीक्षा के पूर्व रात्रि में सोने के समय १ गिलास दूध पीने को देते हैं। प्रातःकाल रेफस या रायल की पतली और कोमल आमाशय नलिका (Rehfuss or Royle's stomach tube) मुख के द्वारा २२ इंच तक भीतर ले जाकर आमाशय में प्रविष्ट करते हैं और २० सी० सी० के सीरिंज से आमाशयिक द्रव्यों को खींचकर बाहर निकालते हैं।

रिक्त आमाशय में उपस्थित यह प्राकृत पित्त पाण्डुवर्ण, निर्गन्ध, सेन्द्रियाम्ल-रहित तथा ३० सी० सी० के लगभग होना चाहिए। इसमें स्वतंत्र लवणाम्ल

०.२% होता है। ५० सी० सी० से अधिक होने पर संभवत आमाशयिक व्रण की स्थिति समझनी चाहिये।

इसके वाद परीक्षाहार[1] देते हैं। पुनः आमाशयनलिका लगाकर १५–१५ मिनट पर १५ सी० सी० द्रव्य निकालते जाते हैं और उन्हें पृथक्-पृथक् परीक्षण-नलिकाओं मे रखते जाते हैं। आमाशयनलिका वरावर लगी रहती है और यह क्रिया २½ घण्टे तक चलती है। इस अवधि में रोगी शान्तचित्त होकर मनोरंजक पुस्तक पढता रहे। इसके वाद समस्त अवशिष्ट द्रव्य निकाल लेते हैं। यदि यह अवशेष अधिक हो तो मुद्रिकाद्वार के संकोच का सूचक है।

परीक्षाहार देने पर आहार का त्रिविध अवस्थापाक अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आहार के देते ही प्रथम अवस्था में वोधक, क्लेदक आदि अनेक कफों के उद्रेक से आमाशयस्थ स्वतंत्र अम्ल उदासीन होकर शून्य तक पहुँच जाता है। द्वितीय अवस्था में पित्त का उद्रेक वढता है। पित्त की अम्लता क्रमशः वढती है और १½ घण्टे में लगभग ०.१ प्रतिशत हो जाती है। इसके वाद यकृत का कटु पित्त ऊपर की ओर आमाशय में आकर अम्ल को उदासीन वना देता है, फलत अम्लता घट जाती है और धीरे-धीरे उसके स्थान पर कटुत्व प्रवल हो जाता है। इस अवस्था में क्रमशः वायु की प्रधानता होने लगती है। इसीको क्रमशः मधुर, अम्ल और कटु पाक कहते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मता से देखा जाय तो पच्यमानावस्था के अम्ल और कटु ये दो स्पष्ट विभाग होते हैं। स्वभावतः अन्त में पित्त की स्वाभाविक कटुता अम्लता को पराजित कर देती है किन्तु जव अम्ल का आधिक्य होता है तो उसकी अम्लता वनी रहती है, इसे 'विदग्ध पित्त' कहा गया है। यह दूषित पित्त अम्लपित्त, पैत्तिक शूल, रक्तपित्त आदि अनेक रोगों का कारण वनता है। समान वायु के प्रकोप से मुद्रिकाद्वार में सकोच हो जाता है तथा पित्त का स्राव वढ जाता है जिसके कारण भी अम्लता अधिक होती है।

---

१. दो वडे चम्मच से महीन जौ का ऑटा १। सेर जल में मिलाकर पकावे। जव पाँच छटाँक रह जाय तो उतार ले। इसमें थोडा नमक भी मिला सकते हैं। आजकल ५–७ प्रतिशत मद्यसार (अलकोहल) १०० सी० सी० देते हैं।

पृथक्-पृथक् परीक्षण नलिकाओं में संचित आमाशयिक रस की पृथक्-पृथक् परीक्षा की जाती है। यह परीक्षा तीन प्रकार की होती है:—

(क) भौतिक (ख) रासायनिक और (ग) अणुवीक्षण।

भौतिक परीक्षा

इसमें निम्नाकित बातों का विचार किया जाता है—

१. **वर्ण**—स्वभावत: आमाशयिक रस का वर्ण पाण्डु या पीत वर्ण होना चाहिए। अधिक स्राव से हरित वर्ण होता है तथा वायु के कारण मुद्रिकासंकोच में फेनिल रस मिलता है। रक्त की उपस्थिति से लालिमा आती है।

२. **गन्ध**—स्वभावत: इसमें कोई गन्ध नही होनी चाहिए किन्तु अग्निमाद्य के कारण आमदोष रहने पर सेन्द्रिय अम्ल उत्पन्न होने लगते हैं और उनके कारण अम्ल और तीक्ष्ण गंध उत्पन्न होती है।

३ **संघटन**—यदि आमाशयिक रस अतिद्रव है तो स्राव की अधिकता या आमाशय की मन्द गति समझनी चाहिए। श्लेष्मा की उपस्थिति से रस अतिसान्द्र होता है।

४. **अन्य पदार्थों की उपस्थिति**—आमाशयिक रस में श्लेष्मा, रक्त या पित्त का निरीक्षण करना चाहिए।

रासायनिक परीक्षा

१ **प्रतिक्रिया**—स्वभावत आमाशयिक रस अम्ल होता है किन्तु ४ प्रतिशत व्यक्तियों में अम्लता अनुपस्थित पाई गई है। यह अम्लता स्वतंत्र लवणाम्ल के कारण होती है। कभी-कभी स्वतत्र लवणाम्ल के अभाव में भी अम्लता मिलती है। यह दुग्धाम्ल (Lactic acid), नवनीताम्ल (Butyric acid) तथा शुक्ताम्ल (Acetic acid) इन तीन सेन्द्रिय अम्लों के कारण होती है। आमाशय मे लवणाम्ल की कमी से जीवाणुओं की क्रिया बढती है जिससे किण्वीकरण होने लगता है और फलत इन सेन्द्रिय अम्लों की उत्पत्ति होती है। यह अवस्था विशेषत: मुद्रिकासंकोच और कैंसर में देखी जाती है।

२. **संघटन**—आमाशयिक रस का विश्लेषण कर उसके विभिन्न घटकों का निश्चय करना चाहिए। स्वभावत आमाशयिक रस में लवणाम्ल, जल, पेप्सिन,

रैनिन, खनिज लवण, स्वल्प श्लेष्मा तथा अन्तरंग तत्त्व (Intrinsic factor) होते हैं। इनके अतिरिक्त, उसमें पित्त, रक्त, श्वेतसार, शर्करा की परीक्षा करनी चाहिये।

३ **अम्ल का निर्धारण**—आमाशय में अम्ल दो प्रकार का होता है—लवणाम्ल और सेन्द्रिय अम्ल। लवणाम्ल भी दो प्रकार का होता है—संयुक्त (Combined) और स्वतन्त्र (Free)। इन दोनों के योग को समस्त अम्लता (Total acidity) कहते हैं।

स्वतन्त्र अम्ल का निर्धारण कास्टिक सोडा के द्वारा करते हैं। आमाशयिक रस में अम्लता को उदासीन बनाने के लिए जितने सोडे की आवश्यकता पड़ती है उसके अनुसार अम्लता की उपस्थिति समझते हैं। समस्त अम्लता की परीक्षा क्लोराइड विधि से अच्छी तरह होती है। क्लोराइड का परिमाण निम्नांकित होता है—

	प्राकृत	आमाशयिक-व्रण	कैन्सर
खनिज क्लोराइड	०.१%	०.१%	०.२%
समस्त क्लोराइड	०.२५%	०.३४%	०.२५%

इसी प्रकार सेन्द्रिय अम्लों का भी निर्धारण करना चाहिये।

आमाशयिक रस के विकार-निदर्शक परिवर्त्तन

(१) पेप्सिन की कमी—आमाशय ग्रन्थियों का क्षय।

(२) रेनिन की कमी—आमाशयशोथ, कैन्सर की अन्तिम अवस्था।

(३) लवणाम्ल का आधिक्य—आमाशयिक या ग्रहणीगत व्रण, अम्लपित्त, पित्तनलिकाशोथ, अन्त्रपुच्छशोथ आदि के कारण प्रत्यावर्त्तित रूप से स्रावाधिक्य।

(४) लवणाम्ल की कमी—आमाशय कैन्सर, जीर्ण आमाशयशोथ, गंभीर पाण्डु, दौर्बल्यजनक अवस्था में यथा यक्ष्मा, ग्रहणी, प्रमेह, विषमज्वर, गर्भावस्था, कभी-कभी आमाशयिक व्रण, आमवात, अवटुवृद्धि आदि।

(५) लवणाम्ल का अभाव (Achylia gastrica)—घातक पाण्डु। कभी कभी सहज भी।

अणुवीक्षण-परीक्षा

अणुवीक्षणयन्त्र के द्वारा आमाशयिक रस में भुक्तांश, वसाकण, श्वेतसारकोष, शाकतन्तु, मांससूत्र, श्लेष्मल कला के कोषाणु, सार्सीनी, पूयकोषाणु, रक्तकण तथा जीवाणु की उपस्थिति का पता लगाना चाहिए।

आवरक कोषाणु कैन्सर में मिलते हैं। जीवाणु-ऑप्लर वोआस वैसिलाई—(Oppler Boas bacilli) कैन्सर में मिलते हैं। सार्सीनी और सिस्ट मुद्रिकासंकोच में पाये जाते हैं। निरन्तर रक्त की उपस्थिति कैन्सर की सूचक है। स्थूल भुक्तांश मुद्रिकासंकोच में मिलते हैं।

पित्त

पित्त शब्द से मुख्यतः यकृदुद्भूत पित्त का ग्रहण होता है।

संचय—प्रातःकाल खाली पेट में एक विशोधित आइनहॉर्न नलिका (Einhorn tube) २३ इञ्च चिह्न तक प्रविष्ट की जाती है और इसके द्वारा आमाशय को खाली कर शुद्ध जल से प्रक्षालित करते हैं। इसके बाद नलिका को धीरे-धीरे आगे बढाकर २८·५ इञ्च चिह्न तक ले जाते हैं जिससे वह ग्रहणी में प्रविष्ट हो जाय। इस प्रकार ग्रहणीगत पदार्थ प्रत्येक १५ मिनट पर बाहर निकाले जाते हैं और अन्त में शुद्ध जल से ग्रहणी का प्रक्षालन करते हैं। इसके बाद मैगसल्फ का २५% विलयन या यदि रोगी अतीसार-पीडित हो तो पेप्टोन का ५% विलयन नलिका द्वारा ग्रहणी में डालते हैं। इससे सामान्य पित्तनलिका प्रसारित हो जाती है तथा पित्ताशय संकुचित होता है जिसके कारण पित्त पूर्णतः ग्रहणी में आ जाता है। फिर इसे बाहर निकालकर परीक्षा करते हैं।

प्राकृत पित्त में जीवाणु, पूय, आवरक कोषाणु या कोलेस्टरॉल नहीं होना चाहिए और श्लेष्मा अत्यल्प होना चाहिए। इनकी उपस्थिति पित्तनलिकाशोथ और पित्ताश्मरी की द्योतक है।

भौतिक परीक्षा

१ **मात्रा—**स्वभावतः शरीर में पित्त की मात्रा पाँच अञ्जलि बतलाई गई है। आधुनिक दृष्टि से २४ घंटे में ५००–१००० सी० सी० पित्त का स्राव होता

है।[1] पित्तक्षय में यह मात्रा कम और पित्तवृद्धि में अधिक हो जाती है। परीक्षा के लिए जितनी मात्रा ली गई हो उसका उल्लेख करना चाहिए।

२. **रूप**—श्वेत और अरुण छोड़कर शेष नील, पीत, हरित आदि वर्ण स्वभावत: पित्त के होते है।[2] कामला में हारिद्रवर्ण तथा हलीमक में हरितवर्ण पित्त मिलता है। निराम पित्त पीत-ताम्र तथा सामपित्त हरित-नील होता है। वर्ण मे विविधता बिलीरुबीन और बिलीवर्डिन नामक पित्तरंजक द्रव्यों के कारण होती है। पहले रंजक द्रव्य से पीलापन और दूसरे से हरापन आता है।

३. **रस**—पित्त स्वभावतः कटुरस है किन्तु विदग्धावस्था में उसमें अम्लता आ जाती है। यह अम्लता पच्यमानावस्था में आमाशय में लवणाम्ल के उद्रेक से होती है। अम्लपित्त तथा पैत्तिकशूल में अम्लता बढ़ जाती है।

४. **गन्ध**—निराम पित्त स्वभावत: गन्धरहित होता है किन्तु साम पित्त में दुर्गन्ध होती है।[3]

५. **स्पर्श**—पित्त अत्युष्ण, किंचित् स्निग्ध तथा तीक्ष्ण होता है। तीक्ष्णाग्नि रोग में इसकी उष्णता और बढ जाती है।

६. **संघटन**—पित्त स्वभावतः लघु और द्रव होता है। आमदोष तथा श्लेष्मा होने पर इसमें गुरुत्व तथा सान्द्रता आ जाती है। अम्लपित्त में द्रवत्व बढ जाता है।

रासायनिक परीक्षा

१ **प्रतिक्रिया**—प्राकृत पित्त की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

---

१. 'पञ्च (अञ्जलयः) पित्तस्य।' (य. शा ७)

२. 'औष्ण्य तैक्ष्ण्यं सरत्वं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुवम्लौ पित्तस्यात्मरूपाणि।' (च. सू २०)

'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीत तथैव च। उष्णं कटुरस चैव विदग्धं चाम्लमेव च॥' (सु. सू २१)

३. 'दुर्गन्ध हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु।
अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं साम विनिर्दिशेत्॥
आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्।
पक्वं विगन्ध विज्ञेय रुचिपक्तृबलप्रदम्॥' (मधुकोष)

अणुवीक्षण-परीक्षा

अणुवीक्षणयन्त्र के द्वारा आमाशयिक रस में भुक्तांश, वसाकण, श्वेतसारकोष, शाकतन्तु, मांससूत्र, श्लेष्मल कला के कोषाणु, सार्सीनी, पूयकोषाणु, रक्तकण तथा जीवाणु की उपस्थिति का पता लगाना चाहिए।

आवरक कोषाणु कैन्सर में मिलते हैं। जीवाणु-ऑप्लर बोआस बेसिलाई— (Oppler Boas bacilli) कैन्सर में मिलते हैं। सार्सीनी और सिस्ट मुद्रिकासंकोच में पाये जाते हैं। निरन्तर रक्त की उपस्थिति कैन्सर की सूचक है। स्थूल भुक्तांश मुद्रिकासंकोच में मिलते हैं।

पित्त

पित्त शब्द से मुख्यतः यकृदुद्भूत पित्त का ग्रहण होता है।

संचय—प्रातःकाल खाली पेट में एक विशोधित आइनहॉर्न नलिका (Einhorn tube) २३ इञ्च चिह्न तक प्रविष्ट की जाती है और इसके द्वारा आमाशय को खाली कर शुद्ध जल से प्रक्षालित करते हैं। इसके बाद नलिका को धीरे-धीरे आगे बढाकर २८·५ इञ्च चिह्न तक ले जाते हैं जिससे वह ग्रहणी में प्रविष्ट हो जाय। इस प्रकार ग्रहणीगत पदार्थ प्रत्येक १५ मिनट पर बाहर निकाले जाते हैं और अन्त में शुद्ध जल से ग्रहणी का प्रक्षालन करते हैं। इसके बाद मैगसल्फ का २५% विलयन या यदि रोगी अतीसार-पीडित हो तो पेप्टोन का ५% विलयन नलिका द्वारा ग्रहणी में डालते हैं। इससे सामान्य पित्तनलिका प्रसारित हो जाती है तथा पित्ताशय संकुचित होता है जिसके कारण पित्त पूर्णतः ग्रहणी में आ जाता है। फिर इसे बाहर निकालकर परीक्षा करते हैं।

प्राकृत पित्त में जीवाणु, पूय, आवरक कोषाणु या कोलेस्टरॉल नहीं होना चाहिए और श्लेष्मा अत्यल्प होना चाहिए। इनकी उपस्थिति पित्तनलिकाशोथ और पित्ताश्मरी की द्योतक है।

भौतिक परीक्षा

१. **मात्रा**—स्वभावतः शरीर में पित्त की मात्रा पाँच अञ्जलि बतलाई गई है। आधुनिक दृष्टि से २४ घंटे में ५००–१००० सी० सी० पित्त का स्राव होता

है।[1] पित्तक्षय में यह मात्रा कम और पित्तवृद्धि में अधिक हो जाती है। परीक्षा के लिए जितनी मात्रा ली गई हो उसका उल्लेख करना चाहिए।

२. **रूप**—श्वेत और अरुण छोड़कर शेष नील, पीत, हरित आदि वर्ण स्वभावतः पित्त के होते है।[2] कामला में हारिद्रवर्ण तथा हलीमक मे हरितवर्ण पित्त मिलता है। निराम पित्त पीत-ताम्र तथा सामपित्त हरित-नील होता है। वर्ण मे विविधता बिलीरुबीन और बिलीवर्डिन नामक पित्तरंजक द्रव्यों के कारण होती है। पहले रंजक द्रव्य से पीलापन और दूसरे से हरापन आता है।

३. **रस**—पित्त स्वभावतः कटुरस है किन्तु विदग्धावस्था में उसमे अम्लता आ जाती है। यह अम्लता पच्यमानावस्था में आमाशय में लवणाम्ल के उद्रेक से होती है। अम्लपित्त तथा पैत्तिकशूल में अम्लता बढ़ जाती है।

४. **गन्ध**—निराम पित्त स्वभावतः गन्धरहित होता है किन्तु साम पित्त में दुर्गन्ध होती है।[3]

५. **स्पर्श**—पित्त अत्युष्ण, किंचित् स्निग्ध तथा तीक्ष्ण होता है। तीक्ष्णाग्नि रोग में इसकी उष्णता और बढ़ जाती है।

६. **संघटन**—पित्त स्वभावतः लघु और द्रव होता है। आमदोष तथा श्लेष्मा होने पर इसमें गुरुत्व तथा सान्द्रता आ जाती है। अम्लपित्त में द्रवत्व बढ़ जाता है।

रासायनिक परीक्षा

१. **प्रतिक्रिया**—प्राकृत पित्त की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

---

१. 'पञ्च (अञ्जलयः) पित्तस्य।' (च. शा. ७)

२. 'औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं सरत्वं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ पित्तस्यात्मरूपाणि।' (च सू २०)

'पित्तं तीक्ष्णं द्रव पूति नीलपीतं तथैव च। उष्ण कटुरसचैव विदग्धं चाम्लमेव च॥' (सु. सू. २१)

३. 'दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु।
अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्॥
आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्।
पक्वं विगन्ध विज्ञेय रुचिपक्तृबलप्रदम्॥' (मधुकोष)

अणुवीक्षण-परीक्षा

इसके द्वारा पित्त में उपस्थित पूय, जीवाणु, आवरक कोषाणु आदि का पता चलता है।

कफ

कफ का शास्त्रीय स्वरूप निम्नांकित है:—

भौतिक परीक्षा

१ **मात्रा**—स्वभावत शरीर में कफ की मात्रा ६ अंजलि मानी जाती है।[1] कफक्षय में यह मात्रा कम तथा कफवृद्धि में अधिक हो जाती है। श्लैष्मिकशूल में क्लेदक कफ बढ जाता है। परीक्षा के लिए लिये गये कफ की मात्रा का उल्लेख करना चाहिए।

२. **रूप**—श्लेष्मा का प्राकृत रूप श्वेत है।[2]

३. **रस**—प्राकृत कफ स्वाद में मधुर होता है किन्तु विदग्ध होने पर लवण हो जाता है।

४. **गन्ध**—निराम कफ निर्गन्ध तथा साम कफ दुर्गन्ध होता है।[3]

५. **स्पर्श**—कफ गुरु, मृदु, स्निग्ध, पिच्छिल होता है।

६. **संघटन**—श्लेष्मा का प्राकृत संघटन सान्द्र (स्थिर) होता है।

रासायनिक परीक्षा

१. **प्रतिक्रिया**—कफ की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

---

१. षट् (अञ्जलयः) श्लेष्मणः' (च शा ७.)

२. 'श्वैत्यशैत्यस्नेहगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्न्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि' (च. सू. २०)

'श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः॥ (सु. सू. २१)

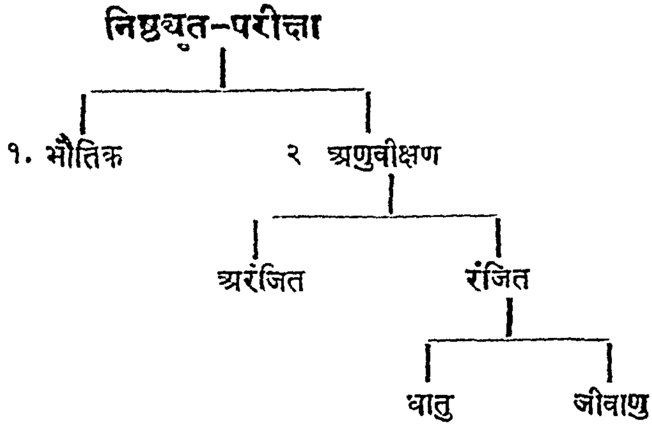
३. 'आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारवलासकृत्॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च।
पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत्॥' (मधुकोष)

महास्रोत में स्थित क्लेदक कफ सभी कफों का प्रतिनिधि है। शरीर के अंगों में जो क्लेद (आर्द्रता) होता है वह भी कफ ही है। जलोदर, फुफ्फुसावरणशोथ आदि मे जो जल संचित होता है वह भी वर्धित कफ ही है। मस्तिष्कसुषुम्ना द्रव भी एक प्रकार का कफ है। निष्ठ्यूत भी कफ का ही अंश है। इनकी परीक्षा इस प्रकरण मे की जायगी।

निष्ठ्यूत (Sputum)

संचयः—परीक्षा के लिए २४ घंटे में जितना निष्ठ्यूत निकले वह सब एकत्रित करना चाहिए। यदि यह संभव न हो तो रोगी के खाँसने पर जितना निष्ठ्यूत निकले उसका सावधानी से संचय करना चाहिए।

परीक्षाः—निष्ठ्यूत की परीक्षा निम्नांकित भागों में विभक्त है:—



भौतिक परीक्षा

१. मात्रा—स्वभावतः निष्ठ्यूत की मात्रा अत्यल्प होती है। प्रारंभिक यक्ष्मा में भी इसकी मात्रा अल्प होती है किन्तु निम्नांकित कफप्रधान विकारों में इसकी मात्रा में वृद्धि हो जाती है:[1]—

१ चिरकालीन यक्ष्मा	२. फुफ्फुसशोथ
३. श्वासनलिकाविस्तृति	४. विद्रधि या पूयोरस का विकार

---

१. उरोयुक्तो बहुः श्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः।
सततं च्यवते यस्य दूरात्त परिवर्जयेत्॥' (च इ ६)

१. रूप—निराम निष्ठयूत पाण्डुवर्ण, पिण्डित एवं फेनिल होता है। इसमें विकृति होने पर पित्त, पूय आदि की उपस्थिति से निम्नांकित वर्ण मिलते हैं:—

१. पीताभ श्वेत—साम कफ और पूय की उपस्थिति से निष्ठयूत का वर्ण पीताभ श्वेत होता है।

२. पीत—पूय की उपस्थिति से पीतवर्ण होता है।

३. हरिताभ—पित्त या परिवर्त्तित रक्तरंजक की उपस्थिति में कामला, न्यूमोनिया आदि में हरिताभ निष्ठयूत होता है।

४. रक्त—रक्तवर्ण निष्ठयूत रक्तपित्त में मिलता है। चमकीले लाल रंग का निष्ठयूत यक्ष्मा और श्वासनलिकाविस्तृति में मिलता है। जंग की तरह मलिन रक्तवर्ण न्यूमोनिया में पाया जाता है।[1]

५ कपिश—कपिश निष्ठयूत परिवर्तित रक्त का निदर्शक है और प्राय. हृद्रोगजन्य फुफ्फुसगत निष्क्रिय रक्तसंचय में पाया जाता है।

६. धूसर या कृष्ण-धूसर या कृष्णाभ निष्ठयूत तम्बाकू पीने वाले तथा कोयले की खानों या कारखानों में काम करने वालों में मिलता है।

२. गन्ध—निराम निष्ठयूत निर्गन्ध और साम निष्ठयूत दुर्गन्ध होता है।[2]

३ संघटन—निराम निष्ठयूत निःसार और फेनिल होता है किन्तु साम निष्ठयूत आविल, तन्तुल और स्त्यान (चिपकनेवाला-Tenacious) होता है। वातश्लैष्मिक या त्रिदोषज विकारों यथा श्वसनक ज्वर, कास तथा श्वास में साम निष्ठयूत स्त्यानरूप में मिलता है। फुफ्फुसशोथ में आविल निष्ठयूत आता है। तन्तुल निष्ठयूत चिरकालीन श्वसनरोगों में आता है। कभी-कभी पूय भी पाया जाता है। संघटन की दृष्टि से निष्ठयूत निम्नांकित रूपों का होता है:—

---

१. निष्ठयूते यस्य दृश्यन्ते वर्णाः बहुविधाः पृथक्।
तच्च मीदत्यपः प्राप्य न स जीवितुमर्हति ॥ (च. इ ९)

२. आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविघातकृत् ॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च।
पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत् ॥' (मधुकोष)

१. रसमय (Serous)।
२. श्लेष्मल (Mucoid)।
३. पूयमय (Purulent)।
४. रसपूयमय (Sero-purulent)।
५. श्लेष्मपूयमय (Muco-purulent)।
६ स्त्यान (Tenacious)।

कुछ निष्ठयूतों में लवे पात्र में रखने पर सान्द्रता के कारण तहें वनने लगती हैं। ऐसा श्वासनलिकाविस्तृति और फुफ्फुस शोथ में पाया जाता है।

४. **जलसंतरण-परीक्षा :**—एक वडे चौडे पात्र मे स्वच्छ जल भरकर उसमें निष्ठयूत डालना चाहिए। स्वभावत. निष्ठयूत हलका होने पर तैरता है किन्तु क्षयरोग में जव उसमें धातु का अंश आने लगता है तव गुरुत्व के कारण वह पानी में डूवने लगता है। निष्ठयूत का पानी में डूवना धात्वात्मक क्षय का निर्देशक है।[१]

कभी-कभी निष्ठ्यूत को जल में तैराने पर वृक्ष की तरह शाखायुक्त निर्मोक (Bronchial casts) मिलते हैं। यह प्राय' श्वसनक ज्वर, सूत्रमय श्वासनलिकाशोथ तथा रोहिणी में पाये जाते हैं।

अणुवीक्षण-परीक्षा

१. **अरंजित निष्ठयूत** (Unstained sputum)—इस विधि से निष्ठयूत में उपस्थित स्थितिस्थापक सूत्र, कर्शमैन का आवर्ती (Curschman's-spirals), चारकोट लेडन कण (Chaorcot Leyden Coystals) और रे फगस (Ray Fungus) की निश्चिति होती है।

२ **रंजित निष्ठयूत** (Stained sputum)—इसमें मुख्यत' कोषाणु (Cells) और जीवाणुओं की परीक्षा होती है। नियमत दो चित्रकाचों का रञ्जन किया जाता है। एक का झीलनीलसेन की विधि (Ziehl-Neelsen's-method) से और दूसरे का ग्राम की विधि (Gram's stain) से। परीक्षा के लिये निष्ठयूत के सवसे अधिक प्रयुक्त भाग, कुथित धातु के टुकडे या

---

१ 'निष्ठयूतं च पुरीष च रेतश्चाम्भसि मज्जति।
यस्य तस्यायुषः प्राप्तमन्तमाहुर्मनीषिणः॥' (च. इ. ९)

रक्तिम भाग लिए जाते हैं। यदि उपर्युक्त वस्तुएँ अनुपस्थित हों तो निष्ठ्यूत का सबसे मोटा और भारी भाग लिया जाता है।

निष्ठ्यूत के परीक्षणीय भाग को एक शलाका की सहायता से चित्रकाच पर रक्खा जाता है और दूसरे चित्रकाच से उसको रगड़ा जाता है। इसके लिए चित्रकाच का दूसरा पृष्ठ थोड़ा गरम भी किया जा सकता है। अब दोनों चित्रकाच हटा लिये जाते हैं और हवा में तथा ज्वाला के ऊपर तीन वार ले जाने से सुखाये जाते हैं, जिससे निष्ठ्यूत का पृष्ठ स्थिर हो जाता है। चित्रकाच रञ्जन के लिए द्रोणी (Rack) पर रख दिया जाता है।

झीलनीलसेन की विधि (Ziehl-Neelsen's method)

निष्ठ्यूत-पृष्ठ पर २ सी० सी० कार्वल फ्यूसिन (Carbol Fuchsin stain) गरम करके डालो। ५ मिनट के वाद साधारण जल से धो डालो। फिर उस पर ४०% गन्धकाम्ल डालो। आधे या १ मिनट के वाद उसे भी धो डालो। फिर भी पृष्ठ में थोड़ी लालिमा रहेगी। यदि लाली अधिक रह गई हो, तो गन्धकाम्ल से पुन: धो दो। अव मेथिलिन ब्ल्यू (Methelyne blue) डालो। इसे भी १–२ मिनट के वाद धो दो। चित्रकाच का हवा में सुखा दो और तैलावगाहन काच में देखो। इसमें यक्ष्मा के जीवाणु लाल, मालाकार और वक्र दीखते हैं।

१. तान्तव पदार्थ—इसमें पूयकोषाणु, आवरककोषाणु और रक्तकण मुख्य हैं।

२. जीवाणु—इसमें सर्वप्रधान यक्ष्मा का जीवाणु है। उसके वाद स्ट्रेप्टोकोकस, स्टैफिलोकोकस, न्यूमोकोकस, इन्फ्लुएञ्जा के जीवाणु आदि मुख्य हैं।

ग्राम की रञ्जनविधि (Gram's stain)—

रंजनपृष्ठ पर कार्वल जेन्सियन वॉयलेट (Carbol gentian Vioet) की कुछ बूँदे डालकर २–५ मिनट तक रक्खो और वाद में उसे जल से धोकर उस पर ग्राम का आयोडिन विलयन डालो। यह विलयन १ मिनट तक रक्खा जाता है, जिससे रंजनपृष्ठ कॉफी के वर्ण का हो जाता है। आयोडिन के अतिरिक्त विलयन को जलसे धो दो। मेथिलेटेड स्पिरिट से उसे तव तक विवर्ण करो जब कि और बैंगनी रंग उसमें से न आवे। इसे जल से धो दो और हलके कार्वल फ्यूसिन द्रव से विरञ्जित करो।

मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव (Crebrospinal fluid)

मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव कटिवेध के द्वारा निम्नांकित प्रयोजनों के लिए निकाला जाता है—

१. रोगों के निदान।

२. मस्तिष्कावरणगत दबाव को कम करना।

३. मस्तिष्कावरणशोथ में पूयमय विषाक्त पदार्थ को बाहर निकालना।

४. चिकित्सार्थ औषधद्रव देना।

सचयविधि—मस्तिष्क-सुषुम्ना द्रव का संचय कटिवेध (Lumbar puncture) के द्वारा किया जाता है। इसकी विधि यह है:—

रोगी तख्ते के किनारे लेट जाय और शिर तथा जानु को भीतर की ओर मोड़ ले जिससे कशेरुदण्ड पूरा प्रसारित हो जाय और कशेरुकाओं के बीच का स्थान स्पष्ट हो जाय। धनुस्तम्भ आदि आक्षेपयुक्त रोगों में क्लोरोफार्म दिया जाता है जिससे कशेरुकीय पेशियाँ प्रसारित हो जायँ। वेध का सर्वोत्तम स्थान तृतीय और चतुर्थ कटिकशेरुका के बीच का स्थान है। दोनों ओर के श्रोणिकपालों के सर्वोच्च बिन्दुओं को एक रेखा द्वारा मिलाने से यह स्थान मालूम हो जाता है। इसी स्थान पर त्वचा को विसङ्क्रमित कर पहले २ प्रतिशत प्रोकेन हाइड्रोक्लोर का अधस्त्वक् प्रयोग करते हैं जिससे वह स्थान संज्ञाहीन हो जाता है। अब कटिवेध-सूची को मध्य रेखा या एक ओर इस स्थान पर भीतर की ओर ले जाते हैं। यदि वहाँ अस्थि मिल जाय तो इधर उधर थोड़ा हटाकर स्थान ठीक कर ले। ४–६ सेंटीमीटर भीतर की ओर जाने पर सुषुम्नानलिका में सूची पहुँच जाती है। अब सुई से खीचने पर बूँद बूँद कर द्रव आने लगता है। सामान्यतः १–२ बूँद प्रति सेकेण्ड द्रव का प्रवाह होता है तथा इसका दबाव ६५–१५० मिलीमीटर (जल) होता है। मस्तिष्कावरणशोथ, शिरस्तोय, रक्तसंचय आदि मे बढ़कर २००–३०० मि० मी० हो जाता है। परीक्षा के लिए प्रायः ५ सी० सी० द्रव लिया जाता है और चिकित्सा में आवश्यकतानुसार १०–१५ सी० सी० तक निकालते हैं।

यदि कोई विशेष विषम स्थिति न हो तो रोगी को बैठाकर तथा आगे को झुकाकर भी यह विधि की जाती है।

इस प्रक्रिया में निम्नांकित बातों पर ध्यान रखना चाहिए :—

१. यन्त्रों की पूर्ण स्वच्छता होनी चाहिये ।

२ शनैः शनैः द्रव निकाला जाय । प्रति सेकण्ड ४–५ बूंद से अधिक गति न हो ।

३. कटिवेध के बाद रोगी १२–२४ घण्टों तक बिस्तरे पर लेटा रहे ।

४. यथासंभव छोटी सुई का प्रयोग किया जाय ।

मस्तिष्कार्बुद की स्थिति में द्रव निकालने पर सहसा दबाव कम होने से धम्मिल्लक का अंश महाविवर के द्वारा सुषुम्नाविवर में प्रविष्ट हो जाता है। इसमें सुषुम्नाशीर्षक पर आघात होने से मृत्यु हो सकती है। इसके अतिरिक्त, अर्बुद से रक्तस्राव भी बहुत होता है। कभी कभी वेध के बाद शिरःशूल होता है। इसके लिए वेध के बाद खाट का सिरहाना नीचा करके रखना चाहिये ।

भौतिक परीक्षा

१. **वर्ण**—यह वर्णरहित होता है। रक्त मिला होने पर लालिमा मिलती है ।

२. **पारदर्शकता**—यह स्वच्छ और पारदर्शक होता है। मस्तिष्कावरण-शोथ में आविल हो जाता है ।

३. **संघटन**—यह तनुजलीय विलयन है जो जमता नहीं है। मस्तिष्कावरण शोथ में जम जाता है ।

४. **विशिष्ट गुरुत्व**—इसका विशिष्ट गुरुत्व १००७ से १००९ है ।

रासायनिक परीक्षा

मस्तिष्कसुषुम्नाद्रव में शर्करा, अलव्यूमिन (०·०२५%), ग्लोब्युलिन, क्लोराइड तथा युरिया होते हैं। इनकी परीक्षा करनी चाहिये। द्रव की प्रतिक्रिया क्षारीय होती है ।

१. **शर्करा**—प्राकृत द्रव में ग्लुकोज ५०–८० मि० ग्रा० प्रति १०० सी० सी० होता है। इक्षुमेह में यह बढ जाता है तथा मस्तिष्कावरणशोथ में घट जाता है ।

२. **क्लोराइड**—सामान्यतः प्रति १०० सी० सी० द्रव में ७२०–७५० मि० ग्रा० क्लोराइड होता है। पूययुक्त एवं यक्ष्माजन्य मस्तिष्कावरणशोथ में इसकी मात्रा कम हो जाती है। वृक्कशोथ आदि में यह अधिक हो जाता है ।

३. **युरिया तथा मांसतत्वरहित नत्रजन**—स्वभावतः ये १०० सी० सी० में २०-२५ मि० ग्रा० होते हैं। मूत्रविषमयता में इनकी मात्रा २०० मि० ग्रा० से भी अधिक होता है।

लैंगे की स्वर्णप्रतिक्रिया (Lange's colloidal gold reaction)—प्राकृत मस्तिष्कसुषुम्ना द्रव सघन स्वर्णद्रव में कोई परिवर्त्तन उत्पन्न नही करता किन्तु फिरंगी खञ्जता (Tabes dorsalis), उन्मादज पक्षाघात (G. P. I.) एवं कुछ मस्तिष्कावरणशोथ में इस द्रव के द्वारा उस विलयन में अवक्षेप उत्पन्न होता है।

अणुवीक्षण-परीक्षा

(क) **कोषाणु-गणना**:—स्वभावतः द्रव में २-४ लसीकाणु प्रति घ० मि० मी० होते हैं। विकारों में इनकी संख्या निम्नांकित हो जाती है.—

१. व्रणशोथ	१०	प्रति घ० मि० मी०
२. शुद्ध मस्तिष्कावरणशोथ	५०-२०००	" "
३. क्षयज "	२०-४००	" "
४. मस्तिष्कगत फिरंग	१०-५०	" "

तीव्र मस्तिष्कावरणशोथ में कुछ बहुकारी कायाणु भी मिलते हैं।

(ख) **जीवाणु**:—मस्तिष्कावरणशोथ, फुफ्फुसशोथ, पूय, पूयमेह एवं क्षय के जीवाणु विशेषतः मिलते हैं।

विशिष्ट परीक्षा

१. **वासरमैन प्रतिक्रिया**—मस्तिष्कगत फिरंग के लिए द्रव की वासरमैन प्रतिक्रिया देखनी चाहिए।

अन्य अंगों में अधिष्ठित विकृत कफ

इसी प्रकार फुफ्फुसावरण, हृदयावरण, उदरावरण आदि अधिष्ठानों में संचित द्रव की परीक्षा करनी चाहिए।

वात

वात का प्रभाव बहुत व्यापक है और सूक्ष्म होने से इसका प्रत्यक्षीकरण भी पित्त और कफ के समान संभव नहीं है। तथापि पाचनसंस्थान पर कोष्ठगत वात क्रिया का अध्ययन कुछ किया जा सकता है।

पाचनसंस्थान के ऊर्ध्वभाग में प्राणवायु, मध्यभाग में समानवायु तथा अन्तिम भाग में अपानवायु का अधिष्ठान है और उन-उन अवयवों में उनकी क्रिया देखकर स्थिति का अनुमान करते हैं। प्राणवायु की विकृति में अन्न के निगरण में कष्ट होता है। समानवायु एवं अपानवायु के विकार से पाचनसंस्थान की गति विकृत हो जाती है फलतः आहार के पाचन एवं मल के उत्सर्ग में बाधा होती है।

पाचनसंस्थान के अवयवों की गति की परीक्षा निम्नांकित विधि से करते हैं:—

रोगी को रात में भोजन के साथ एक चम्मच कोयले का चूर्ण खिलाते हैं। स्वभावतः यह २४–४८ घंटों में पुरीष के साथ बाहर निकलना चाहिए।

१ प्रातःकाल रोगी को वमन करावे। यदि वमन में कोयला निकले तो आमाशयगत विकार समझना चाहिए।

२. दूसरे दिन प्रातः भी यदि स्वयं न निकले तथा वस्ति देने से कोयला पुरीष के साथ आवे तो वृहदन्त्रगत वातविकार समझे।

३. यदि वस्ति देने से भी न निकले तो क्षुद्रान्त्रगत वात का विकार समझना चाहिए।

रक्त

रक्तपरीक्षा के निम्नांकित विभाग हैं—

१. भौतिक परीक्षा

२. रक्त के शोणवर्तुलिका परिमाण (Estimation of Haemoglobin)

३. रुधिर कायाणु (R. b. c.) और श्वेत कायाणुओं (w. b. c) की गणना।

४. श्वेत कायाणुओं की भेदक गणना (Differential count)।

५ जीवाणुओं का निरीक्षण।

६. विशिष्ट परीक्षा।

रक्तपरीक्षा का वर्णन करने के पूर्व परीक्षा के लिए रोगी से रक्त लेने की विधि और उसके आवश्यक साधन बतलाना आवश्यक है। रोगी से रक्त लेने के लिए निम्नलिखित वस्तुओं की आवश्यकता होती है:—

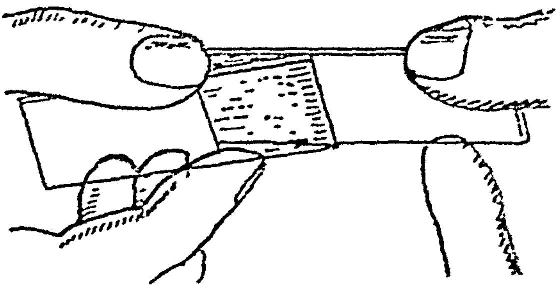
१. एक सीधी शल्यकर्म-सूची (Surgical Needle)
२. एक रक्तकणमापक यन्त्र (Haemocytometer, Thoma zeiss)
३. एक कागवाली शीशी, जिसमें रुधिर कायाणु द्रव (R b c. Fluid) भरा हो।
४. एक कागवाली शीशी, जिसमें श्वेत कायाणु द्रव (W. b c. Fluid) भरा हो।
५. दो चित्रकाच (Glass-slides)
६. एक शोणवर्तुलिमापक यन्त्र (Haemoglobinometer, Tallquist's pattern)।
७. एक शीशी, जिसमें परिस्नुत अलकोहल हो।

रक्ताहरण-विधि

रोगी से रक्त लेने के लिए चिकित्सक को सर्वप्रथम उपर्युक्त सभी आवश्यक वस्तुएँ प्रस्तुत रखनी चाहिए। रोगी की उँगली यदि ठंढी हो तो गरम पानी से धोकर गरम कर देना चाहिये और यदि भीगी हो तो सुखा देना चाहिये। उस उँगली को अपने बायें हाथ के अंगूठे और तर्जनी के बीच में पकड़ो। उसके अग्रभाग को अलकोहल से रूई के द्वारा विसंक्रामित करो और सूखने दो। दाहिने हाथ में सूई लेकर उँगली के अग्रभाग के निकट करतल की ओर तीव्र वेधन करो और उँगली को धीरे से दबाओ, जिससे एक बूँद रक्त वहाँ पृष्ठ पर एकत्र हो जाय। उसे साफ कर दो। इसी प्रकार निकाली हुई दूसरी बूँद को श्वेतकायाणु के लिए निर्धारित पिपेट में ·५ चिह्न तक मुख के द्वारा खींचो। ध्यान रहे कि इसके साथ हवा का एक बुलबुला भी अन्दर न जाने पावे। शीघ्र ही उसे साफकर ११ चिह्न तक श्वेतकायाणु द्रव खींचो। यदि हवा का कोई बुलबुला भीतर चला गया हो, तो फिर से यह क्रिया करनी चाहिये। इसी विधि से रुधिर कायाणु के लिए निर्धारित पिपेट में ·५ तक रक्त खीचो और अग्रभाग साफ करके १०१ अंक तक रक्तकायणु द्रव खीचो।

फिर एक स्निग्धता रहित चित्रकाच पर इसकी छोर से ½ इञ्च पर रक्त की एक छोटी सी बूँद लो। दूसरे चित्रकाच को पहले चित्रकाच पर तीक्ष्ण कोण

बनाते हुए रक्खो और उसे रक्तबिन्दु की ओर लाओ। चित्रकाच का स्पर्श पाते ही रक्तबिन्दु उसके अग्रभाग में अच्छी तरह फैल जायगा। ऊपरी चित्रकाच को निचले चित्रकाच की दूसरी छोर तक पीछे की ओर खींचकर ले जाओ। रक्त ऊपरी चित्रकाच के पीछे पीछे निचले चित्रकाच पर अच्छी तरह फैल जायगा। रक्तपृष्ठ की स्थूलता चित्रकाच के कोण, उस पर दबाव तथा रक्तबिन्दु की आकृति पर निर्भर करती है। यदि कोण छोटा है, दबाव अधिक है और रक्तकण का आकार भी छोटा है तो पृष्ठ पतला बनेगा अन्यथा मोटा।



चित्र २३—रक्तपृष्ठ-निर्माण

इसी पद्धति से पहले चित्रकाच की सहायता से दूसरे चित्रकाच पर पृष्ठ बना लो। फिर शोणवर्तुलिमापक पुस्तक से एक शोषक पत्र का टुकड़ा लो और उस पर रक्त की एक बूंद डाल दो। अन्त में, रोगी की उंगली पर थोड़ा अलकोहल लगाकर छोड़ दो। रक्तपृष्ठों को वायु में सुखा लिया जाता है और मक्खियों से बचाया जाता है। कुछ सप्ताह तक वे रञ्जन के योग्य रहते हैं, पर पिपेट के रक्त की गणना कुछ ही घण्टों के भीतर हो जानी चाहिये। चित्रकाच को विषमज्वर के जीवाणु की परीक्षा तथा भेदक गणना के लिए किसी अच्छी प्रयोगशाला में डाक से भी भेजा जा सकता है।

(१) भौतिक परीक्षा

भौतिक परीक्षा बिलकुल ताजे रक्त की करनी चाहिये क्योंकि थोड़ी देर रखने के बाद ही उसमें अनेक परिवर्तन होने लगते हैं और उसका स्वरूप बदल जाता है।

१. **वर्ण**—शुद्ध रक्त का प्राकृत वर्ण इन्द्रगोप (बीर बहूटी) के सदृश होता है। प्रकृति की विभिन्नता से यह रक्तकमल, लाक्षारस या गुञ्जाफल के सदृश भी होता है।[1] कफप्रकृति पुरुषों में यह स्वर्णाभ (हलके रंग का) तथा वातप्रकृति पुरुषों में लाक्षारस सदृश (गहरे रंग का) होता है। रक्त में निम्नांकित वर्णविकार दोषों के अनुसार मिलते हैं।[2]

१. अरुण, श्याम—वातिक
२. पीत, नील, हरित—पैत्तिक
३. पाण्डुर—श्लैष्मिक

२. **गन्ध**—शुद्ध रक्त में एक विशिष्ट लोहित गन्ध होती है जिसके प्रभाव से तामस और दुर्बल व्यक्ति मूर्छित हो जाते हैं।[3] पित्तदूषित रक्त आमगन्धि (मत्स्य के समान गन्धवाला) तथा सन्निपातदूषित रक्त विशेष दुर्गन्धयुक्त होता है।

३ **रस**—रक्त पाञ्चभौतिक होने के कारण उसमें षट्रस वर्त्तमान होते हैं किन्तु स्वभावतः उसमें लवण रस (क्षारीयतायुक्त) की प्रधानता होती है। कामला, रक्तपित्त आदि पैत्तिक विकारों में यह कटु-अम्ल हो जाता है जिसके कारण पिपीलिका, मक्षिका आदि जन्तु इसका ग्रहण नहीं करते। श्लैष्मिक विकारों

---

१ इन्द्रगोपप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात्। (सु. सू. १४)
'तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्।
गुञ्जाफलसवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम्॥ (च. सू. २४)

२ 'अरुणाभं भवेद् वातात् विशदं फेनिलं तनु।
पित्तात् पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च॥
ईषत् पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद् घनम्।
संसृष्टलिंगं संसर्गात् त्रिलिंगं सान्निपातिकम्॥' (च. सू. २४)

'तत्र फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रमस्कन्दि च वातेन दुष्टं, नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रमनिष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तेन दुष्टं, गैरिकोदकप्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टं, सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टं, द्विदोषलिंगं संसृष्टम्।' (सु. सू. १४)

३. पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः॥' (मा. नि.)

(प्रमेह आदि) में इसमें माधुर्य का आधिक्य हो जाता है जिससे शरीरपर मक्खियाँ अधिक लगती हैं।[1]

४. **स्पर्श**—शुद्ध रक्त किंचिदुष्ण तथा किञ्चित् स्निग्ध होता है। वातदूषित रक्त विशद और कफदूषित रक्त पिच्छिल होता है। पित्तदूषित रक्त अत्युष्ण तथा कफदूषित रक्त स्निग्ध तथा शीतल होता है।

५. **संघटन**—प्राकृत रक्त असंहत (नातिसान्द्र और नातिद्रव) होता है। वातदूषित रक्त तनु और फेनिल तथा कफदूषित रक्त घन और तन्तुमान होता है।

६. **मात्रा**—समस्त शरीर में रक्त आठ अञ्जलि प्रमाण में होता है।[2]

(२) रक्त के शोणवर्तुलि का परिमाण

पहले कहा जा चुका है कि प्राकृत रक्त का वर्ण इन्द्रगोप, रक्तकमल, लाक्षा, गुञ्जा आदि के सदृश प्रकृति के अनुसार होता है। यह वर्ण रक्त में रञ्जक द्रव्य की उपस्थिति के कारण होता है। आजकल इसकी परीक्षा के लिए अनेक अन्य नमूने बने हैं। टालक्वीस्ट के नमूने (Tallquist's pattern) में १० प्रतिशत से १०० प्रतिशत तक के रंग होते हैं। शोषकपत्र में लिये गये रक्त की तुलना इन्हीं रंगों से की जाती है। जिस रंग के साथ इसका रंग मिल जाता है, वही रक्त के शोणवर्तुलि की प्रतिशत मात्रा होती है।

(३) रुधिर कायाणुओं की गणना

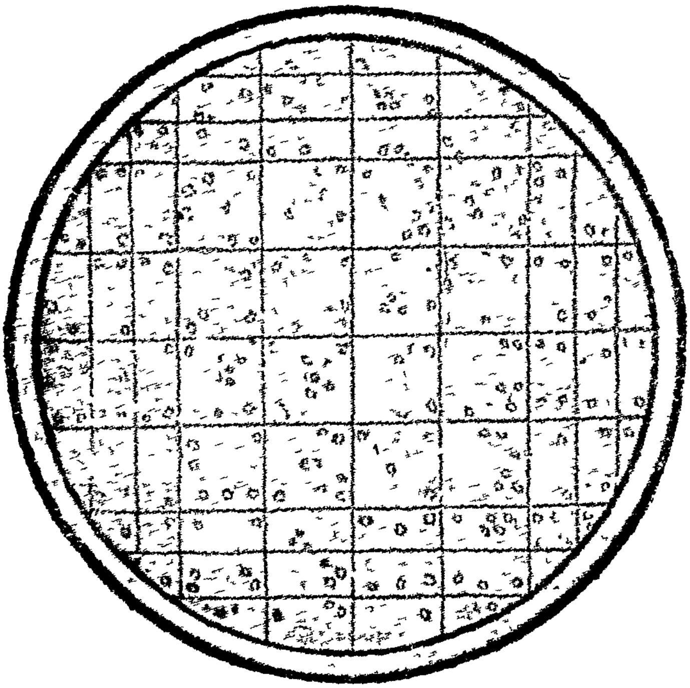
श्वेत कायाणुओं की पिपेट के अग्रभाग को उँगलियों से बन्द करके एक मिनट तक हिलाओ। पिपेट से १ या २ बूँद बाहर निकालने के बाद एक छोटी बूँद गणना के लिए प्रयुक्त चित्रकाच के क्षेत्र पर लो। उसको शीशे के आवरकखण्ड (Cover slip) से धीरे धीरे ढँक दो, जिससे उसके भीतर वायु के बुलबुले न

---

१. मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्याः माधुर्याच्च तनोरतः॥ (मा नि)

२. अष्टौ (अञ्जलयः) शोणितस्य' (च. शा ७)

जाने पावें। रक्तबिन्दु का आकार उतना ही होना चाहिये जो केवल गणनाक्षेत्र ही ढँक सके, उसके बाहर न जाने पावे, अन्यथा दूसरी बिन्दु लेनी पड़ेगी। अब श्वेतकणों की गणना सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से की जाती है। गणना-क्षेत्र में १६ छोटे छोटे क्षेत्र होते है, जिनका वर्गफल $\frac{१}{४००}$ वर्ग मिलीमीटर होता है। ऐसे १६ छोटे क्षेत्रों के मिलने से एक बड़ा क्षेत्र बनता है। बडे क्षेत्रोंकी संख्या भी १६ होती है।



चित्र २४—रक्तकणगणनाक्षेत्र

गणना की विधि यह है कि क्षेत्रों की प्रथम पंक्ति में ऊपर से नीचे की ओर गिनना चाहिये। फिर क्षेत्र को थोड़ा खिसकाकर दूसरी पंक्ति में नीचे से ऊपर गिनना चाहिए। इसी प्रकार W की तरह तीसरी पंक्ति में ऊपर से नीचे और चौथी पंक्ति में नीचे से ऊपर गिनना चाहिये। कुछ रुधिर कायाणु क्षेत्र के भीतर न होकर रेखा पर पडे मिलेंगे। इनमें जो कण ऊपर और बाँई ओर की रेखा पर हों, उन्हीं को गिनना चाहिये, दूसरों को नहीं, अन्यथा परिणाम गलत निकलेगा।

श्वेत कायाणुओं की गणना का सूत्र इस प्रकार है—

$$\frac{\text{कणसंख्या} \times ४००० \times २०}{२५६}$$

इसी विधि से रुधिरकायाणुओं की भी गणना होती है। उसका सूत्र निम्नलिखित है—

$$\frac{\text{कण संख्या} \times ४००० \times २००}{६४}$$

निम्न कारणों से गणना का परिणाम कभी कभी ठीक नही निकलता—

१. विलयन की अशुद्धि
२. पिपेट में चूषण की मन्दता।
३. गणना क्षेत्र की गहराई ठीक न होना।
४ कणों का विषम वितरण
५. धूलि इत्यादि।

रक्तपृष्ठ का रञ्जन

चित्रकाच जिस पर रक्त लिया गया है, लीशमैन के रंजन द्रव्य (Leishman Stain) से रञ्जित किया जाता है। रञ्जक द्रव्य की कुछ बूँदे चित्रकाच पर डाली जाती हैं, और उतना ही परिस्रुत जल डाला जाता है। ५–१० मिनट के बाद उसे साधारण जल से धो दिया जाता है और तब सूक्ष्मदर्शक यन्त्र मे उसकी परीक्षा की जाती है।

रक्तपृष्ठ की परीक्षा

(४) श्वेत कायाणुओं की भेदन गणना

साधारणतः अच्छे पृष्ठ में रक्तकायाणु समान रूप से फैले रहते हैं और श्वेत कायाणु बैंगनी तथा रुधिर कायाणु नीले दिखाई देते हैं।

पृष्ठ पर एक बूँद देवदारु का तेल (Cedar wood oil) डाला जाता है और सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के तैलावगाहन काच (Oil immersion lens) को क्रमश: नीचा किया जाता है, जिससे वह पृष्ठ के संपर्क में आ जाय। अब सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र को ठीक करके भेदक गणना प्रारम्भ की जाती है तथा विषमज्वर के जीवाणुओं का भी निरीक्षण किया जाता है।

एक कागज पर बह्वाकारी, लसकायाणु, एककायाणु और उषसिप्रिय के लिए क्रमशः ब० ल० ए० उ० ये चार शीर्षक बना लो और जब बह्वाकारी कण मिलें, तो ब के सामने एक चिह्न बना दो। इस प्रकार पृष्ठ बदलते जाओ और जो जो कण जितनी संख्या में मिलते जायें, उनके सामने उतने ही चिह्न बनाते जाओ। जब इनकी कुल संख्या १०० हो जाय तब गणना बन्द कर दो और प्रत्येक कण की प्रतिशत मात्रा निकालो।

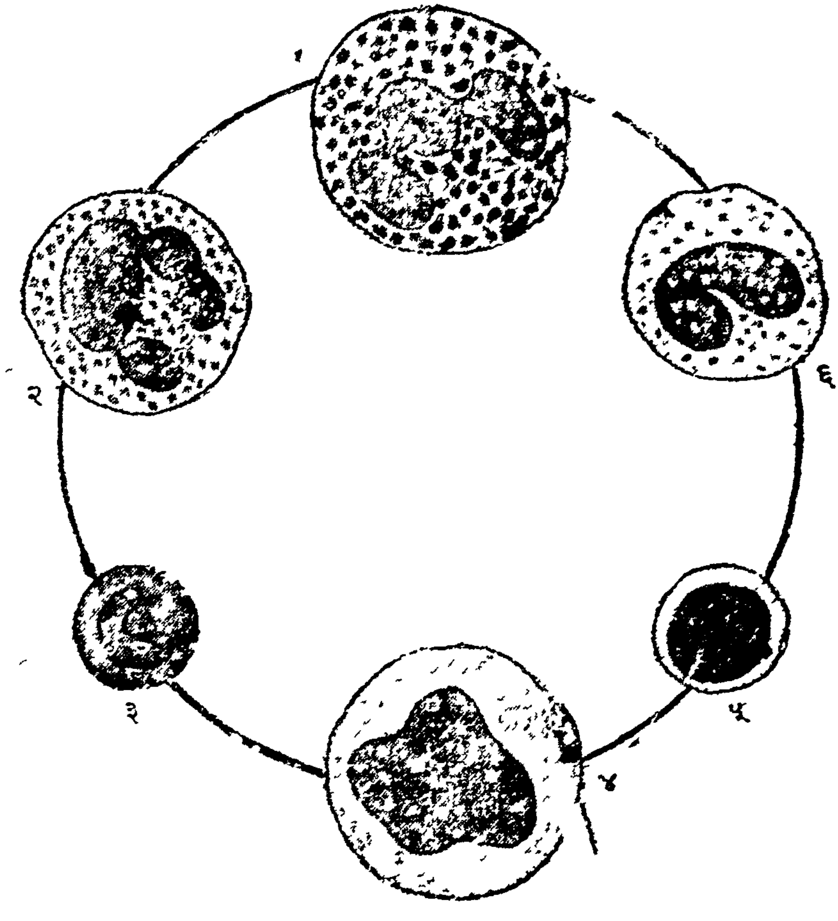
१. **बह्वाकारी कण** (Polymorph-nuclear)—यह प्रायः एक-कायाणुओं के आकार के होते हैं और लसकायाणुओं से बड़े तथा उषसिप्रिय से कुछ छोटे या बराबर होते हैं। इनका केन्द्र कई भागों में विभक्त और विषम होता है। कोषद्रव्य अधिक तथा कणमय होता है। इनकी संख्या स्वभावत: ६०% से ८०% तक होती है। ५/

२. **लसकायाणु** (Small mononuclears or Lymphocytes)

यह आकार में सबसे छोटे होते हैं, किन्तु अपेक्षाकृत इनके केन्द्र बड़े होते है, जिससे कोषद्रव्य की मात्रा बहुत कम होती है और उसमें कण भी नही होते। केन्द्र प्रायः गोल होते हैं। इनकी संख्या स्वभावतः २०% से ३०% तक होती है। बच्चों में इनकी संख्या कुछ अधिक होती है। एक साल के बच्चे में यह औसतन ६०% तथा १० साल के बालक में ३६% मिलते हैं।

३. **एककायाणु** (Large mononuclears)—आकार में यह बह्वाकारी कणों से कुछ छोटे या उनके समान होते हैं तथा उषसिप्रिय की आकृति के होते हैं। केन्द्र कुछ विभक्त और गोल या अण्डाकार होता है। कोषद्रव्य

स्वच्छ विस्तृत और कणों से रहित होता है। इनकी संख्या २% से ६% तक है।



चित्र २५

१. अम्लरंगेच्छु २. बहुकेन्द्री ३. परिवर्त्तनी ४. बृहत एककेन्द्री ५. लघु एककेन्द्री ६. भस्मरंगेच्छु।

(४) **उपसिप्रिय** (Eosinophile)—ये बहाकारी कणों के समान होते हैं, किन्तु इनके कोषद्रव्य में स्थूल कण होते हैं। आकार में यह बहाकारी कणों से बड़े होते हैं। इनकी संख्या ½ से २ प्रतिशत है।

सभी कणों का आकार रक्तपृष्ठ की स्थूलता पर निर्भर करता है। पतला रहने पर वे बड़े और पीले दिखाई देते हैं। और मोटे पृष्ठ में वे छोटे तथा सघन दीखते हैं।

उदाहरण—

च०	६८
ल०	२८
ए०	१
उ०	३
	१००

(५) **जीवाणु**—भेदकगणना के समय ही कुछ रक्तकणों की परीक्षा भी की जाती है, जिससे कुछ जीवाणुओं का पता चलता है। इनमें विषमज्वर, कालाआजार, श्लीपद और पीतज्वर मुख्य हैं।

(६) **विशिष्ट परीक्षा—**

१. **विडाल की परीक्षा** (Widal's test)—यह आन्त्रिक ज्वर की निश्चिति के लिए प्रयुक्त होती है। इसकी दो विधियाँ हैं—

(क) सूक्ष्मदर्शन विधि (Microscopic method)

(ख) स्थूलदर्शन विधि (Macroscopic method)

द्वितीय विधि विशेष रूप से प्रयुक्त होती है। इस परीक्षा को संश्लेषण-परीक्षा (Agglutination test) भी कहते हैं क्योंकि जीवाणुओं के कारण रक्त में उत्पन्न सश्लेषक प्रतिविष (Agglutinin) पर यह आधारित है। यह प्रतिविष आन्त्रिकज्वर में द्वितीय सप्ताह में विशेषत: १० दिनों के बाद उत्पन्न होता है। अत यह परीक्षा १० दिन बाद करनी चाहिये।

रोगी की सिरा से ५ सी० सी० रक्त लेकर उसका रक्तरस (सीरम) पृथक् कर लेते हैं। इसका नार्मल सोलाइन में १-१० का विलयन बना कर पिपेट के द्वारा ड्रेयर की नलिकाओं में रखते हैं। एक छोटे रैक पर तीन पंक्तियों में पाँच छिद्र होते हैं जिनमें नुकीली ड्रेयर की नलिकायें रक्खी रहती हैं। उपर्युक्त विलयन तीनों पंक्तियों की प्रथम नलिका में रखते हैं। इसी प्रकार दूसरी, तीसरी और चौथी नलिकाओं में क्रमशः १-२५, १-५०, १-१२५ तथा १-२५० का विलयन रखते हैं। अन्तिम नलिकायें खाली रहती हैं। इन सब नलिकाओं में जीवाणु का घोल बनाकर १५ बूँद डाल देते हैं और खूब मिला देते हैं। अब रैक को ५५° तापक्रम पर जल में डुबाकर २ घण्टे तक रखते हैं, फिर परीक्षा करते हैं।

नलिका के अग्रभाग पर श्वेत घन अवक्षेप होने पर आन्त्रिकज्वर की निश्चिति समझनी चाहिये।

इसी प्रकार उपान्त्रिकज्वर, माल्टाज्वर, प्रवाहिका आदि में भी यह उपयोगी परीक्षा है।

(२) **अल्डीहाइड परीक्षा** (Aldehyde Test)—यह कालाआजार के लिए की जाती है। इसकी विधि निम्नलिखित है:—

लगभग २ सी० सी० रक्त एक अधस्त्वक् (Subcutaneous) सीरिञ्ज में एकत्र करो और उसे शीघ्र एक स्वच्छ और शुष्क नलिका में रख दो। इस नलिका को काग बन्द कर ३ घण्टे तक चुपचाप छोड़ दो। इस प्रकार रक्तरस (Serum) पृथक् हो जायगी। यह रक्तरस एक पिपेट में खींचकर एक दूसरी साफ और सूखी परीक्षणनलिका में रख दी जाती है। इस नलिका में १ बूँद ४०% फॉर्मेलिन डाला जाता है। इसे १५ मिनट तक ध्यान से देखो।

१. यदि १५ मिनट में रक्तरस दुग्धसदृश हो जाय और जम जाय तो प्रतिक्रिया पूर्ण निश्चित समझनी चाहिये। + + +

२. यदि १५ मिनट में रक्तरस दुग्धसदृश हो जाय या जम जाय तो प्रतिक्रिया साधारणतः निश्चित समझनी चाहिये। + +

३. यदि १ घण्टे में रक्तरस दुग्धसदृश हो जाय और जम जाय तो प्रतिक्रिया साधारणतः निश्चित समझनी चाहिये। + +

४. यदि एक घण्टे में रक्तरस दुग्ध सदृश हो जाय या केवल जम जाय तो प्रतिक्रिया अल्पनिश्चित समझनी चाहिये। +

५. यदि २४घण्टे में रक्तरस जम जाय और दुग्धसदृश हो जाय तो प्रतिक्रिया अल्पनिश्चित समझनी चाहिये। +

इस प्रकार परीक्षणनलिका को १ घण्टे और २४ घण्टे के बाद फिर देखना चाहिये। रक्तरस जमने का प्रमाण यह है कि नलिका के हिलाने या उलटने से द्रव में कोई गति न होगी। यह प्रतिक्रिया रोग के दूसरे मास में मिलती है।

(३) **अन्टीमनी-परीक्षा** (Antimony Test)—यह निम्नलिखित विधि से की जाती है:—

रोगी की सिरा से १ सी० सी० रक्त लो और उसे एक स्वच्छ और सूखी नलिका में रक्खो। कुछ देर तक रक्तरस पृथक् होने के लिए छोड़ दो। स्वच्छ

रक्तरस को सीरिज से खींच कर एक ड्रेयर की नलिका (Dreyer's tube) में रक्खो। उसमें रक्तरस से सौगुना परिस्रुत जल डालो और दोनों को खूब मिलाओ। अब धीरे से ४ प्रतिशत यूरिया स्टीवेमिन (Urea stibamin) का विलयन नलिका के पार्श्व में डालो। यूरियास्टीवेमिन होने से तल में बैठ जाता है। दोनों विलयनों के सन्धिस्थल पर गाढा अवक्षेप मिलने से काला आजार की निश्चिति होती है।

(४) **रक्तघनीभवन** (Coagulability of blood)—३७° सेन्टीग्रेड तापक्रम पर एक स्वस्थ मनुष्य के रक्तघनीभवन का समय ४ मिनट है। रक्त प्रकृत्या असंहत होना चाहिए किन्तु बाहर निकलने पर उपर्युक्त अवधि में जम जाना चाहिए।[1] शरीर से जलांश का क्षय (रसक्षय) होने पर रक्त गाढ़ा हो जाता है। वातविकार तथा रक्तपित्त में रक्त जल्दी नहीं जाता।[2]

(५) **श्लीपद के जीवाणुओं की परीक्षा**—श्लीपद के जीवाणु रात्रि में ही शाखाओं में आते हैं। अतः ऐसे रोगियों का रक्त अर्धरात्रि के समय लेना चाहिये। इनकी परीक्षा के लिए जीवाणुओं का निरीक्षण तथा भेदक गणना की जाती है। इस रोग में उषासिप्रिय कणों की संख्या अधिक होती है।

(६) **वासरमैन प्रतिक्रिया** (Wassermann reaction)—यह परीक्षा फिरंग (Syphilis) की निश्चित के लिए की जाती है।

(७) **कान की परीक्षा** (Kahn's test)—यह भी फिरंग की परीक्षा के लिए प्रयुक्त होती है।

रक्तांक

रक्तांक प्रत्येक रुधिरकायाणु में वर्तमान शोणवर्तुलि की मात्रा बतलाता है। इसका सूत्र निम्नलिखित है:—

$$\text{रक्तांक} = \frac{\text{शोणवर्तुलि की प्रतिशत मात्रा}}{\text{रुधिरकायाणुसंख्या (यदि १० लाख से अधिक हो) के पहले दो अंक} \times २}$$

रक्तांक स्वभावतः ·८ से ·९ तक होता है। नियमतः उच्च रक्तांक घातक रक्ताल्पता का लक्षण है।

निम्नांकित तालिकाओं में रक्त के अवयवों और उनके रोगनिदर्शक परिवर्त्तनों का उल्लेख किया है:—

---

१. 'सम्यग् गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते। शुद्धं तदा विजानीयात्–' (सु सू १४)

२. 'पित्तात् पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च।' (च. सू २४)

रक्तपरीक्षा

रक्त तथा उसके प्रमुख घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्तन	परिवर्तन के प्रमुख कारण
१. राशि क. सम्पूर्ण रक्त	१ ख अञ्जलि प्रमाण से आठ अञ्जलि (१ अञ्जलि लगभग १ पौण्ड के) २ शरीरभार के अनुपात में ८५ (७०-१००) सी. सी. प्रति किलोग्राम शरीरभार या शरीरभार का ८.८ प्रतिशत ३. शरीर के आयतन के अनुपात में ३२०० (२८००-३८००) सी. सी. प्रतिघन मीटर	न्यूनता या अल्परक्तमयता (Oligaemia) आधिक्य या परमरक्तमयता (Hypervolemia or plethora)	विश्राम के समय, उत्थितासन तथा शीत ऋतु में स्वभावतः राशि में कुछ न्यूनता। वमन, प्रवाहिका, अतिसार, विसूचिका, जीर्णज्वर, राजयक्ष्मा, निपात, स्वेदाधिक्य और बहुमूत्रता के कारण रक्तराशि न्यून होती है। रक्तस्राव, रक्तार्श, असृग्दर, वृक्कशोफ तथा विषम ज्वर में रक्तकणों की अपेक्षाकृत अधिकता होने पर भी रक्तराशि की न्यूनता रहती है।
ख. रक्तरस	५० (४२-५६)		पुरुषों, सगर्भा स्त्रियों तथा नवजात बालकों में, व्यायाम

ग रक्तकण	सी सी प्रति किलो ग्राम शरीरभार के अनुपात मे या शरीरभार का ५ प्रतिशत ३८ (३६–४१) सी. सी. प्रति किलोग्राम शरीर भार।		के समय, ग्रीष्म ऋतु में, पर्वतीय प्रदेशों के प्रवास में तथा पृष्ठासन में लेटे रहने पर स्वाभाविक रूप से रक्त का कुछ आधिक्य रहता है। इनके अतिरिक्त सहज हृद्रोग, अपवृक्कता, परमावटुकता और रक्तकणों की संख्या कम होने पर यथा—प्लैहिक रक्तक्षय, यकृद्दाल्युदर, अंकुशमुखकृमिजन्य पाण्डुता तथा श्वेतमयता (Leukaemia) में राशि अधिक होती है।
२. सापेक्ष गुरुता (Sp. gra.)	क. रक्त १०५५–१०६०	न्यूनता	रक्तक्षय, सर्वांगशोफ, विषमज्वर, जीर्णज्वर, राजयक्ष्मा, आन्त्रिक ज्वर, वृक्कशोथ, परमावटुकता तथा लसाभश्वेतमयता (Lymphoid leukaemia)।
	ख. लसीका १०२६-१०३२ ग. रक्तकण १०९०	वृद्धि	विसूचिका, अतिसार, प्रवाहिका, वमन, प्रस्वेद, श्लैष्मिक शोथ (Myxoedema), श्वसनक ज्वर (Influenza), फुफ्फुसपाक, मस्तिष्क सुषुम्ना ज्वर आदि तीव्र उपसर्ग तथा मधुमेह, कामला, बहुकायाणुमयता वाले विकार, श्यावतायुक्त विकार तथा हृदय के दक्षिण अंश की हीन क्रिया से जनित हृदयातिपात।
३ रक्तस्रवणकाल	ड्यूक (Duke)	विलम्बित ·७–१०	तीव्र रक्तक्षय, नीलोहा (Purpura), अनगिक

रक्त के गुण	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्तन	परिवर्तन के प्रमुख कारण
(Bleeding time)	२ मिनट• नेल्सन तथा बुचर (Nelson & Butcher) २ ३ मि।	मिनट या उससे अधिक	(Aplastic) रक्तक्षय, रक्तलावीश्वेतमयता, रक्तस्रावी घनास्रणुमयता (Thrombocytheamia), अवरोधज कामला, नवजात की कामला, यकृतनाशक विकृतियाँ, जीवतिक्ति C तथा K की कमी, क्लोरोफार्म तथा फास्फोरस की विषाक्तता।
		स्वल्प काल १ मिनट या कम	पूर्वघनास्नि, चूर्णातु, तन्त्विजन तथा जीवतिक्ति C तथा K की रक्त में अधिकता, रक्त की सापेक्ष गुरुता बढ़ाने वाले विकार, हीनरक्त निपीड, हृदय की शिथिलता आदि।
५. रक्तस्कन्दनकाल (Coagulation time)	गिब्स (Gibbs) ३ (१-५) मिनट, ली तथा व्हाइट (Lee & White) ७ (५-१५) मिनट।	अल्पता	तन्द्राभ तथा तन्द्रिक ज्वर (Typhoid & Typhus fevers), अन्तर्हृच्छोथ, औपदशिक वमनिकाविकृति, प्लीहोच्छेदन के बाद, आरियोमायसिन, पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमायसिन, कार्टिसोन तथा डिजिटैलिस के प्रयोग काल में।
	राइट (Wright) १२ (१०-१५) मिनट हॉवेल (Howell	विलम्बन	हीमोफिलिया जीवतिक्ति K तथा पूर्वघनास्नि की न्यूनता, यकृद्दाल्युदर तथा यकृत के दूसरे तीव्ररोग, अवरोधज कामला, नवजात की कामला, रक्तक्षय, श्वेतमयताएँ, फुफ्फुसपाक।

	१६ (१५-२०) मिनट		
५. पूर्वघनास्रिकाल (Prothrombin time)	क्विक (Quick) १२-३० सेकेण्ड	रक्तसहतिकाल के समान	
६. रक्त की प्रतिक्रिया	pH ७·४	क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) pH ७·४-७·८ तक या अधिक	जठर व्रण (Peptic ulcer), परिणाम शूल आदि व्याधियाँ, अधिक मात्रा में पर्याप्त समय तक क्षार द्रव्यों का प्रयोग, वमन या पित्तातिसार में शरीर से अम्ल का अधिक उत्सर्ग, ज्वर-व्यायाम-मस्तिष्कशोथ-अपतन्त्रक-वायुमण्डल का उच्चताप तथा प्रवीजन बढाने वाली अवस्था के कारण प्राङ्गार द्विजारेय की रक्त में न्यूनता।
		अम्लोत्कर्ष (Acidosis) pH ७·० या कम	प्राङ्गार द्विजारेय (CO_2) की अधिकता वाले वातावरण में निवास, वायुकोष-विस्फार (Emphysema), हृदय की अकार्यक्षमता, तमकश्वास और वमन-प्रवाहिका-अतिसार आदि मे शरीर से क्षारद्रव्यों का अधिक उत्सर्ग हो जाने के कारण, अधिक लघन या क्षारयुक्त द्रव्यों का उपयोग न करना अथवा स्निग्ध आहार का अधिक प्रयोग, मधुमेह और वृक्क के विकारग्रस्त होने पर अम्लद्रव्यों का उत्सर्ग न होने से तथा चिकित्सा या दूसरे कारणो से अम्ल द्रव्यो का अतियोग।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
			मधुमेह, विसूचिका, तीव्र तथा चिरकालीन वृक्कशोथ, मूत्र-विषमयता तथा शैशवीय प्रवाहिका में अम्लोत्कर्ष का अधिक महत्व तथा आमवातज्वर एवं तीव्र रक्तनाश मे सामान्य अम्लोत्कर्ष।
७. प्रांगार द्विजारेय सयोग शक्ति (Co_2)	५५–७५%	७५% से अधिक ५५% से कम	क्षारोत्कर्ष। अम्लोत्कर्ष।
८. जारक धारिता (Oxygen capacity)	१७·५–२१·५%	अजारकता (Anoxia)	शोणवर्त्तुलि की कमी तथा रुधिर कायाणुओं की संख्याल्पता वाले विकार।
९. शोणवर्त्तुलि (Heamoglobin)	क सम्पूर्ण (Absolute):— नवजात–२० ग्राम% क्षीरप-क्षीरान्नाद–१५·५ ग्राम% वर्धमानावस्था—१२ ५–१३·८% युवावस्था–१३·८–२०%	अल्पवर्णता (Hypochromia)	आहार मे लौह घटकों की न्यूनता, लौहपाचन एवं सात्म्यीकरण के लिए आवश्यक जठर रस की अल्पता और यकृद्दाल्युदर तथा यकृत के दूसरे जीर्ण विकार, संग्रहणी–अतिसार–प्रवाहिका आदि के कारण लौहप्रचूषण में बाधा, अंकुशमुख–कृमिरोग, रक्तार्श–रक्तातिसार–रक्तपित्त आदि रक्तक्षयकारक व्याधियाँ, विषमज्वर, राजयक्ष्मा, गर्भिणी–रक्ताल्पता, असृग्दर, कर्कटार्बुद (Cancer), जीर्ण–वृक्कविकार, हारिद्र रोग (Chlorosis)।

	वृद्धावस्था-१३.२-१४.३% पुरुष-१५.६ (१४.७-२०) स्त्री-१३.७ (१२.५-१६.५) साहली(Sahli):- पुरुष-९५-११० यूनिट% स्त्री-९०-१०५ यूनिट%	शोणवर्तुलिमयता (Heamoglobinaemia)	गम्भीर स्वरूप के तीव्र उपसर्ग, शोणांशिक माला, गोलाणुजन्य दोषमयता, शोणांशिक रक्तक्षय, घातक विषमज्वर, अग्निदग्ध, हिमदग्ध (Frost bite) आदि में शोणवर्तुलि के स्वतंत्र होने के कारण।
१०. कामलादेशना (Icterus index)	२-५ यूनिट (२-५ मि. ग्रा. रक्तपित्त प्रति १०० सी. सी. रक्तरस)	देशनावृद्धि	सामान्यतया यकृत की कोणाओं के विकार, पित्तप्रवाह में बाधा तथा शोणांशन वाली व्याधियों में कामलादेशना बढती है।
		कामलादेशना ९-१५ यूनिट	वैनाशिक तथा शोणांशिक रक्तक्षय, विषमज्वर, आन्तरिक रक्तस्राव तथा पैत्तिक प्रवाह में आंशिक अवरोध।
		कामलादेशना १५-३० यूनिट	सामान्य पित्तवाहिनी में अवरोध, अग्न्याशयशीर्ष का कर्कटार्बुद, यकृद्दाल्युदर, बैंटी का रोग (Banti' s disease),

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
			गर्भापस्मार (Eclampsia), गर्भिणी का वैनाशिक वमन, नवजात की कामला तथा फास्फेट आदि से यकृत की विषाक्तता।
		कामलादेशना ३० से अधिक	तीव्र प्रसेकी कामला, तीव्र पीत यकृच्छोथ (Acute yellow atrophy of liver), पैत्तिक अवरोधकर-यकृद्दाल्युदर।
११.अवसादनगति (E.S.R.)	वेस्टरग्रेन (Westergren)—पुरुष-१-७ मि. मि. १ घंटे में स्त्री-३-१० मि. मि. १ घण्टे में विन्ट्रॉब (Wintrobe)—पुरुष-०-९ मि. मि. १ घण्टे मे स्त्री-०-२० मि. मि. १ घण्टे मे	अवसादनवृद्धि—अल्प-१५-४० मि. मि.	वैनाशिक रक्तक्षय, अष्ठीलावृद्धि (Senile hypertrophy), शस्त्रकर्म-अस्थिभङ्ग एवं मसूरीप्रयोग आदि के द्वारा विजातीय प्रोभूजिनों का रक्त में प्रवेश होने पर, रुधिरकायाणुओं की न्यूनता वाले विकार—तीव्र रक्तक्षय-रक्तस्राव-श्वेतमयता आदि, श्लेष्मक तथा आंत्रिक ज्वर, श्वसनी शोथ-तुण्डिका शोथ तथा तीव्र प्रतिश्याय आदि।
		मध्यम-४०-७५ मि. मि	रोमान्तिका, लोहितज्वर, आमवातज्वर, राजयक्ष्मा, फुफ्फुसपाक, मस्तिष्कावरण शोथ, श्वसनिकाभिस्तीर्णता,

			फुफ्फुस विद्रधि तथा अन्तःपूययुक्त विकार, अस्थिक्षय, सक्रिय फिरंग, हृच्छोथ, उदरावरण शोथ, तीव्र अस्थिमज्जा शोथ, आमवाताभ सन्धिशोथ (Rheumatoid arthritis), वृक्कशोथ, अपवृक्कता, विविध प्रकार के घातक अर्बुद, हृद्धमनी घनास्रता (Coronary thrombosis), सोमल-शीश आदि धातुओं की विषाक्तता, अत्यधिक रक्तक्षय, तीव्र पाण्डुता आदि ।
		अतितीव्र–७५ से अधिक	फौफ्फुसिक राजयक्ष्मा की तीव्रावस्था, उपसर्गी अन्तर्हृच्छोथ (Infective endocarditis) घातक अर्बुदों की समस्थाय (Metastasis) अवस्था और औपसर्गिक व्याधियों—रोमान्तिका आदि का गम्भीर वेग ।
१२. सकल प्रोभूजिन (Total protein)	६·५–८·५ ग्राम प्रति १०० सी. सी रक्त	परमप्रोभूजिनमयता (Hyperproteinaemia)	अतिसार–प्रवाहिका-विसूचिका आदि द्रवापहरण के द्वारा रक्तसंकेन्द्रणकारक व्याधियाँ, तीव्र विस्तृतदग्ध-वातकर्दम दण्डाणुमयता तथा असंयोज्य रक्तसंक्रम के कारण शोणांशन होने पर शोणावर्तुलि के स्वतन्त्र होने से, कालज्वर तथा कर्कटार्बुदोत्कर्ष (Carcinomatosis) में आवर्त्तुलि एवं तन्त्विजन का अधिक निर्माण होने से ।
क शुक्लि-(Albumin)	४ ५ (३·७–६·७) ग्राम प्रति १०० सी·सी·रक्तरस।		
ख. वर्त्तुलि	२·७ (१·५–३)	अल्पप्रोभूजिनमयता	सगर्भावस्था, जलोदर, वृक्कशोथ तथा अपवृक्कता आदि

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
(Globulin)	ग्राम प्रति १०० सी. सी. रक्त रस।	(Hypoproteinaemia)	के कारण शुक्लि का अधिक उत्सर्ग, क्षत-शस्त्रकर्म या अग्निदग्ध के कारण रक्त या रक्तरस का अधिक क्षय, यकृद्दाल्युदर तथा यकृत के दूसरे विकारों के कारण हीन प्रचूषण, आहार में प्रोभूजिन द्रव्यों की न्यूनता, पचनसंस्थान के विकार—अतिसार-संग्रहणी आदि, जीर्ण रक्तक्षय तथा हीन पोषण।
शुक्लि-आवर्त्तुलि-अनुपात—	१·५ · १ से २·५ : १ तक प्राणिज प्रोभूजिनों से शुक्लि तथा वानस्पतिक प्रोभूजिनों से आवर्त्तुलि की उत्पत्ति तथा वृद्धि।		
ग. तन्त्विजन (Fibrinogen)	२५० (२००–४००) मि. ग्राम प्रति १०० सी. सी. रक्त रस।	मात्रावृद्धि	आंत्रिक ज्वर के अतिरिक्त समस्त औपसर्गी ज्वर, सगर्भावस्था तथा रक्तस्राव के तुरन्त बाद और अवसादन गति बढाने वाले विकारों में तन्त्विजन की प्राय वृद्धि होती है।
		मात्रा न्यूनता	आंत्रिक ज्वर, यकृद्दाल्युदर तथा यकृत के दूसरे समस्त जीर्ण विकारों में इसकी मात्रा घटती है।

घ पूर्व घनास्त्रि (Prothrombin)	०.४ मि. ग्रा. प्रति १०० सी.सी. रक्तरस	न्यूनता	जीवतिक्ति K का आहार में अभाव या अल्पता, K का प्रचूषण होने के लिए आवश्यक पित्त का ह्रास, संग्रहणी-अतिसार आदि महास्रोत के जीर्ण विकार तथा यकृद्दाल्युदर, फिरंग, घातक अर्बुद तथा श्वेतमयता एवं सोमल आदि के कारण यकृत कोशाओं का अपजनन, तीव्र पीतयकृच्छोथ।
१३. अप्रोभूजिन भूयाति (Non-protein Nitrogen)	२०-४० मि. ग्रा. प्रति १००सी. सी. रक्तरस। (मिह की मात्रा प्राय. अप्रोभूजिन भूयाति की ५०% होती है)	मात्रावृद्धि	तीव्र वृक्कशोथ, जीर्ण वृक्कशोथ की अन्तिम अवस्था, वृक्कजरठता (Nephrosclerosis), मूत्रविषमयता तथा हृदयातिपात के कारण इनका उत्सर्ग न होने से रक्तरस में अधिक संचय, प्रोभूजिनों का अधिक सेवन, औपसर्गिक विकार, परमावटुकता, आन्तरिक रक्तस्राव, हृदय धमनी घनास्रता आदि में प्रोभूजिनों का अधिक नाश होकर इनकी वृद्धि, प्रवाहिका-अतिसार-वमन-रक्तस्राव-शोफ आदि के कारण रक्त से द्रवापहरण होने पर वृक्कद्वारा इनको पूर्णमात्रा में उत्सर्गित न कर सकने तथा अष्ठीलाभिवृद्धि से रक्त में अधिक संचय होने से।
क. मिह (Urea) तथा मिहभूयाति	१५-३५ (४० केवल वृद्धों में) मि. ग्रा.%	मात्रावृद्धि	वृक्कविकार, मूत्रविषमयता, उच्च रक्तनिपीड (घातक) तथा अप्रोभूजिन भूयातिवर्द्धक दूसरे विकार।
(Urea Nitrogen)	१२-१८ " "	मात्राल्पता	गर्भापस्मार, तीव्र पीत यकृच्छोथ, अनशन तथा यकृत की अकार्यक्षमता।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
ख. मिहिक अम्ल (Uric Acid)	१–२ मि. ग्रा.%	मात्रावृद्धि	वातरक्त, गर्भापस्मार, हृदय का असंतुलन (Irregulariteis), फुफ्फुसपाक तथा श्वेतकणमयता में श्वेत कणों के विघटन से और शीशाविषता के कारण इसकी वृद्धि।
ग. क्रव्यियी (Creatinine)	१–२ " "	मात्रावृद्धि	घातक वृक्क जरठता, अष्ठीला वृद्धिजन्य मूत्रावरोध, तीव्र वृक्कशोथ तथा मूत्र विषमयता।
		मात्राल्पता	मांसशोथ तथा मांसक्षयकारक व्याधियाँ।
१४. रक्तशर्करा (Blood sugar)	१००(८०–१२०) मि.ग्रा प्रति १०० सी. सी रक्त रस	परम मधुमयता (Hyperglycemia) १२० मि. ग्राम प्रतिशत से अधिक अनाहार कालीन रक्त शर्करा	मधुमेह, यकृत-अग्न्याशय-पित्ताशय के विकारों से पीडित होने पर भी मिष्टान्न का अतियोग, अवटुका (Thyroid), पोषणिका (Pituitary), अधिवृक्क (Adrenals) आदि अन्तःस्रावी ग्रंथियों का कार्याधिक्य, धमनी जरठतायुक्त उच्च रक्तनिपीड, वैनाशिक रक्तक्षय, फिरंग की कुछ अवस्थाओं में, जीर्ण तमकश्वास तथा प्रागारद्विजारेय का रक्त में आधिक्य, मस्तिष्कगत रक्तस्राव-करोटीभंग-काम-क्रोध-मानसिकक्षोभ आदि के कारण अन्तःशीर्षण्य निपीड की वृद्धि होने से परममधुमयता की उत्पत्ति।
		अल्प मधुमयता (Hypoglyce-	इंसुलिन का अतियोग, अग्न्याशय के अर्बुद, अवटुका-पोषणिका-अधिवृक्क आदि की अल्पकार्यता, यकृत के विकार,

		mia) ८० मि. ग्राम प्रतिशत से कम।	अत्यन्त श्रम, दीर्घकालीन अनशन तथा स्तन्यकाल में अल्प मात्रा में मधुमयता की उत्पत्ति।
१५ विमेद (Total lipids) क. पैत्तव (Cholesterol)	५००–७०० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस १६० (१४०-२००) मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस	परम पैत्तवमयता (Hypercholestrolemia) ३०० मि. ग्रा या अधिक प्रतिशत होने पर।	आहार में स्निग्ध द्रव्यों-अण्डा, मक्खन, मलाई, शूकरमांस आदि का अधिक प्रयोग, पित्ताश्मरी तथा अवरोधक कामला, अवटुकाग्रंथि की कार्यहीनता; मधुमेह, अपवृक्कता, जीर्ण वृक्क-शोथ से पीड़ित होनेपर और तीव्र औपसर्गिक रोगों से निवृत्त होने के बाद तथा गर्भधारण के तीसरे मास से प्रसवोत्तर २ मास तक इसकी राशि अधिक होती है।
ख. वसाम्ल (Fatty Acids)	२५० (२००-४००) मि. ग्रा. प्रति १०० सी सी. रक्त रक्त	अल्प पैत्तवमयता (Hypocholesterolemia)	वैनाशिक, शोणांशिक आदि सभी प्रकार के रक्तक्षय, परमावटुकता, यकृत के तीव्र विकार, राजयक्ष्मा की गंभीर अवस्था, औपसर्गिक ज्वरों की तीव्रावस्था आदि।
१६. पित्तरक्ति (Bilirubin)	०·२५ (० १-०·५) मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी रक्त रस	पित्तरक्तिमयता (Bilirubinaemia)	सर्पविष-शोणांशिकविष-वैनाशिक रक्तक्षय-घातक विषम ज्वर-विरोधी रक्त संक्रम तथा सहज एवं जन्मोत्तर कामला में रुधिरकायाणुओं के विनाश द्वारा इसकी अधिक उत्पत्ति होने से, पित्तकेशिकाओं तथा पित्तवाहिनी में प्रसेक-शोथ या अर्बुद आदि अन्य कारणों से अवरोध होने पर पित्तरक्ति का प्रचूषण होने से, तीव्र रासायनिक तथा औपसर्गिक विषों के प्रभाव से यकृत कोशाओं का शोष और पित्तमयता होने (Cholaemia) से इसकी रक्त में वृद्धि।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
१७. रक्तचूर्णातु (Blood calcium)	बच्चों में ९ (९-११) मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्त रस वयस्कों में १० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. व. रक्त रस	परमचूर्णमयता (Hypercalcemia) १२ मि. ग्रा. से अधिक	परावटुक (Parathyroid) ग्रंथि का कार्याधिक्य, जीवतिक्ति D का अतियोग, रक्तस्राव के बाद, श्वासावरोध, क्षारोत्कर्ष, परमप्रोभुजिनमयता, रुधिरमयता से आक्रान्त व्यक्तियों और स्तन्यकाल तथा गर्भधारण के बाद स्त्रियों में।
		अल्पचूर्णमयता (Hypocalcemia) ८ मि. ग्रा. से कम।	परावटुक ग्रंथि की कार्यहीनता एवं अपतानिका (Tetany), अस्थिवक्रता (Rickets), अस्थिमृदुता (Osteomalacia) तथा जीवतिक्ति D की अल्पता, संग्रहणी आदि जीण पचनविकारों के कारण चूर्णातु का प्रचूषण न होना, तीव्र वृक्कशोथ-अपवृक्कता आदि अल्पप्रोभुजिनमयताकारक विकार, कामला तथा अनूर्जताजनित व्याधियाँ।
१८. रक्तभास्वर (Blood phosphorus)	बाल्यावस्था-४-६ मि. ग्रा. प्रति १००सी.सी. रक्तरस युवावस्था-२-५ मि. ग्रा. प्रति १००सी.सी. रक्तरस	मात्रा वृद्धि	जीर्ण वृक्कशोथ एवं अपवृक्कता आदि के कारण भास्वर का उत्सर्ग न होना, मूत्र विषमयता, परावटुक ग्रंथि की कार्यहीनता, अवरोधज कामला, अस्थिभङ्ग तथा दूध-छेना-अण्डा-मांस-मछली आदि भास्वरप्रधान द्रव्यों का आहार में अधिक उपयोग।
		मात्राल्पता	अस्थिवक्रता, अस्थिमृदुता आदि जीवतिक्ति D की न्यूनता वाले विकार, परावटुक ग्रन्थि की कार्यवृद्धि के कारण चूर्णातु की

			अधिकता होकर भास्वर की अल्पता तथा आहार में भास्वर-जातीय द्रव्यों का अभाव अथवा पचन-विकारों के कारण उनका अल्प प्रचूषण ।
१९. रक्तनीरेय (Blood chlorides)	सम्पूर्ण रक्त-४५०-५०० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रक्तरस-५५०-६५० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी. रुधिरकायाणु-२०० मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी.	मात्रा वृद्धि	तीव्र या अनुतीव्र वृक्कशोथ और अपवृक्कता आदि के कारण उत्पन्न अल्प प्रोभूजिनमयता, जलोदर, सर्वांगशोफ, हृद्रोग, गर्भापस्मार, अष्ठीलावृद्धिजन्यमूत्रावरोध, रक्तक्षय, आहार मे लवण का अधिक प्रयोग तथा अधिवृक्क एवं पोषणिक ग्रंथि के कार्याधिक्य से वृक्कद्वारा नीरेयों का अपर्याप्त उत्सर्ग होने से ।
		मात्राल्पता	उदकमेह-मधुमेह-बहुमूत्रता तथा मूत्रल ओषधियों के अधिक प्रयोग से वृक्कद्वारा अधिक उत्सर्ग हो जाने पर, विस्तृत दग्ध या अन्य कारणों से लसीका का अधिक मात्रा मे नाश, अत्यधिक वमन एवं अतिसार आदि के कारण नीरेयो का प्रचूषण न होने से, तप्त स्थानों में अधिक समय तक रहने पर स्वेद के द्वारा नीरेयों का क्षय होने और अत्यधिक रक्तस्राव, फुफ्फुसपाक तथा एडिसन रोग (Addison' s disease) से पीडित व्यक्तियों में ।

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
२०. लौह (Iron)	पुरुष–०·१२५ मि. ग्रा. प्रति १०० सी. सी रक्त रस स्त्री–९·०९ मि ग्रा. प्रति १०० सी सी रक्त रस	मात्राल्पता	आहार में लौहप्रधान वानस्पतिक द्रव्यों की न्यूनता, जाठर पित्त की कमी, संग्रहणी, अतिसार आदि प्रवाहिका सदृश जीर्णविकार, यकृत के विकार ग्रस्त होने से लौह का अल्प प्रचूषण, रक्तस्राव, हारिद्र रोग, अल्प वर्णिक रक्तक्षय (Hypochromic aneamia), अंकुशमुख कृमिरोग, गर्भिणी का रक्तक्षय, शैशवीय रक्तक्षय आदि ।
२१. लोहक (Magnesium)	१·५–३·५ मि.ग्रा. प्रति १०० सी.सी रक्त रस	लौह के समान	
२२. क्षारातु (Sodium)	३००–३६० मि. ग्रा प्रति १००सी. सी. रक्त रस	रक्त नीरेयों के समान	
२३. दहातु (Potassium)	१८–२२ मि. ग्रा प्रति १००सी·सी· रक्त रस	रक्त नीरेयों के समान	
२४. जल	सम्पूर्ण रक्त–७८–८२ प्रतिशत	मात्राल्पता	अतिसार–वमन–विसूचिका–बहुमूत्रता–प्रस्वेद आदि के कारण जलीयांश का अधिक उत्सर्ग होने, परमज्वर-अंशुघात

			में जल का नाश होने तथा अधिक श्रम एवं संतप्त स्थानों में निवास आदि कारणों से मात्राल्पता।
	रक्त रस–१० प्रति शत	मात्राधिक्य	प्रोभूजिनों का अधिक नाश या वृक्कद्वारा उत्सर्ग होने पर तथा सर्वांग शोफ एवं जलोदर आदि व्याधियों से पीडित होने पर।
रक्तकण २५. घनास्रकायाणु (Thrombocytes) या रक्तचक्रिकाएँ (Blood platelets)	२–५ लक्ष प्रति घन मि मि.	घनास्रकायाण्वुत्कर्ष (Thromocytosis)	प्रसव एवं रक्तस्राव के उपरान्त कुछ काल तक, फुफ्फुसपाक तथा अन्य पूयजनक उपसर्गों से पीडित होने पर तथा निवृत्ति काल में, अस्थिभग्न-धातुनाश-शस्त्रकर्म आदि शारीरिक धातुओं का नाश करने वाली परिस्थितियों में, जीर्ण राजयक्ष्मा, हाजकिन के रोग (Hodgkin's), तीव्र आमवातज्वर, रक्तसंक्रम के उपरान्त तथा अत्यधिक श्रम करने के बाद इनकी अधिक उत्पत्ति होने से वृद्धि तथा प्लीहोच्छेदन के बाद इनका नाश न होने के कारण वृद्धि होती है।
		घनास्रकायाण्वपकर्ष (Thromocytopenia)	बैण्टी रोग (Banti's disease) आदि में, प्लीहा के द्वारा इनका अधिक विनाश होने से अपकर्ष, अन्तर्हृच्छोथ-नीलोहा (Purpura) आदि में केशिकाओं की प्राचीर का रोपण करने में अधिक व्यय होने के कारण इनकी कमी, तीव्र उपसर्ग, वैनाशिक रक्तक्षय, यकृद्दाल्युदर आदि में मज्जा के विषाक्त होने से उत्पादन कम होने के कारण हीनता और

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
			अचयिक (Aplastic) रक्तक्षय मे मज्जा शोष होने के कारण इनका अपकर्ष होता है।
		अल्पताजनित व्याधियाँ	केशिका प्राचीरों की भङ्गुरता, व्रण का रोपण न होना, घनास्र तथा रक्तसंहति (Thrombus & coagulation) मे विलम्ब, रक्तस्राव की प्रवृत्ति आदि।
२६. रुधिरकायाणु (R.B.C.)	पुरुष-५२ (४८-६०) लक्ष प्रति घन मि. मि. स्त्री-४५ (४२-५२) लक्ष प्रति घन मि. मि.	बहुकायाणुमयता (Polycythemia) ५५ लक्ष से अधिक स्त्रियो में ६० लक्ष से अधिक पुरुषो से	अतिसार-प्रवाहिका-विसूचिका-अतिस्वेद आदि के द्वारा द्रवापहरण हो जाने पर प्रति घन मि० मि० रुधिरकायाणुओं की वृद्धि होती है। वास्तव मे उनकी सख्या बढ़ती नहीं, जलीयाश कम होने से बढ़ी हुई ज्ञात होती है। ऊंचे पर्वतीय स्थानो मे प्रवास-हृद्रोग-वायुकोष विस्फार (Emphysema) श्वास-स्वरयंत्र सन्निरोध-कृत्रिम वातोरस (A. P.) तथा फौफ्फुसिक तन्तूत्कर्ष (Fibrosis bf lungs) आदि विकारो में प्राणवायु की अधिक आवश्यकता होने के कारण रुधिरकायाणु संख्या में बढ़ते हैं। निद्रालसी मस्तिष्क शोथ (Encephalitis lethargica), लासक (Chorea), जलशीर्ष (Hydrocephalus), मस्तिष्क अर्बुद, अधिवृक्क बीजग्रंथि-पोषणिका ग्रंथि के विकार तथा शोणवर्त्तुलि को

		अल्प कायाणुमयता (Oligocythemia) स्त्रियों में ४० लक्ष तथा पुरुषों में ४५ लक्षसे कम ।	निष्क्रय बनाने वाले द्रव्य-शुल्वौषधियों, आदि का अधिक प्रयोग होने पर भी इनकी वृद्धि होती है । सभी प्रकार के रक्तक्षय, विशेषकर वैनाशिक तथा अचयिक रक्तक्षय, गर्भिणी रक्तक्षय आदि ।
२७. श्वेत कायाणु (W.B.C.)	७५०० (५ से ११) सहस्र तक प्रति घन मि. मि.		स्वाभाविक रूप में भोजनोत्तर ६ घंटे तक, गर्भ धारण, प्रसव के बाद तथा नवजात में श्वेत कायाणुओं की वृद्धि होती है ।
क. बहुकारी (Polymorphs)	६०–७० प्रतिशत या३०००–६००० प्रति घन मि. मि	श्वेत कायाणूत्कर्ष या बहुकारी श्वेत कायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) बहुकारियों की संख्या १० सहस्र से अधिक होने पर	पूयजनक तृणाणुओं—विशेष कर माला-स्तवक-फुफ्फुस-मस्तिष्क-गुह्यगोलाणु, प्लेगदण्डाणु, स्थूलांत्रदण्डाणु (B. coli) और नीलपूयदण्डाणु (B. pyocyaneus) जनित उपसर्गों में इनकी पर्याप्त वृद्धि होती है । तीव्र उपसर्ग, उत्तम प्रतिकारक शक्ति तथा पूय का गम्भीर अंगों में अवस्थान या पूय का भीतरी निपीड होने पर श्वेत कणों की वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक होती है । मुख्यतया दोषमयता-पूयमयता पूययुक्त विद्रधि-व्रण या शोफ-अन्त पूयता-तुण्डिकाशोथ-पित्ताशय शोथ-पर्युदर शोथ (Peritonitis)-आंत्रपुच्छ शोथ (Appendicitis)-अस्थिमज्जाशोथ-विसर्प-हृदन्त शोथ आदि

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
			शोथ युक्त पूयजीवाणुजन्य औपसर्गिक रोगों में, फुफ्फुसपाक-श्वसनीफुफ्फुसपाक-मस्तिष्कावरणशोथ-प्लेग-आमवातज्वर-तीव्रराजयक्ष्मा-विसूचिका-रोहिणी-मसूरिका आदि औपसर्गिक ज्वरों में अधिक वृद्धि और आन्तरिक रक्तस्राव होने पर, अभिघात एवं दग्ध के उपरान्त तथा घातक अर्बुद, तीव्र-वातरक्त, अस्थि वक्रता, यकृद्दाल्युदर, आंत्रावरोध (Intestinal obstruction), पीतयकृच्छोष, गर्भापस्मार, मूत्र-विषमयता, मधुमेहज संन्यास, हृद्धमनीघनास्रता आदि व्याधियों में श्वेत कणों की मध्यम वृद्धि होती है।
		श्वेतापकर्ष या क्षीणापकर्ष (Leucopenia or neutropenia) संख्या ३ सहस्र से कम होने पर	आन्त्रिक-उपांत्रिक ज्वर, माल्टा ज्वर, विषम ज्वर, काल ज्वर, रोमान्तिका, पाषाणगर्दभ, इन्फ्लुएंजा, तन्द्रिक ज्वर, दण्डक ज्वर, परिवर्त्तित ज्वर, जीर्ण अनुपद्रुत क्षय और तीव्र विषमयताओं में तथा रोगी की प्रतिकारक शक्ति के दुर्बल होने पर, दुःस्वास्थ्य हीनपोषण तथा अनवधानता की अवस्थाएँ, जीवतिक्ति A की न्यूनता, हारिद्र रोग, वैनाशिक

			रक्तक्षय, अचयिक रक्तक्षय, वैंटी तथा हाजकिन के रोग और सोमल-अंजन-पारद-शीशा इत्यादि की विषाक्तता ।
ख. लसकायाणु (Lymphocytes)	२५-३०% या १०००-३००० प्रति घन मि. मी.	लसकायाणूत्कर्ष ४०% या ४ सहस्र से अधिक (Lymphocytosis)	कुकास (Whooping cough), प्लेग, अनुपद्रुत राजयक्ष्मा, लसाभ श्वेतमयता, अकणिककायाणूत्कर्ष (Agranuloleucocytosis), आंत्रिक-उपांत्रिक ज्वर, वैनाशिक-अचयिक रक्तक्षय, हारिद्र रोग, वैंटी तथा हाजकिनका रोग, सहज फिरंग, इन्फ्लुएंजा, रोमान्तिका, मसूरिका, पाषाणगर्दभ, शैशवीय अंगघात, दण्डक ज्वर, माल्टाज्वर, तन्द्रिक ज्वर, विषम ज्वर तथा अस्थिवक्रता, प्रशीताद, मेदोवृद्धि, मधुमेह आदि विकारों में ।
		लसापकर्ष (Lymphopenia) १५% या १ सहस्र से कम	अवसाद-क्लान्ति की अवस्थाएँ, औदरिक दुर्घटनाएँ (Catastrophies), दग्ध, हृदयातिपात, जीवतिक्तियों का हीन योग, मूत्रविषमयता की अन्तिम अवस्था, अति-तीव्र उपसर्गों में और बहाकारियों की वृद्धि होने पर ।
ग. उपसिप्रिय (Eosinophil)	१-४% या ५०-४०० प्रतिघन मि. मि.	उपसिप्रियता (Eosinophilia) ७% या ४०० से अधिक	कृमिरोग—अंकुश मुख १५%, श्लीपद कृमि २०-६०%, पेशीगत स्फीत कृमि २०-५०%, गण्डूपद १०-२५%, अनूर्जताजन्य रोग—श्वास के आवेग काल में ३०%, तृणपुष्पाख्य ज्वर १५%, शीतपित्त ८०%, पामा ५-१५%,

रक्त के घटक	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	परिवर्त्तन के प्रमुख कारण
			विजातीय प्रोभूजिन, पेनिसिलिन तथा प्रति जीवी औषधों के प्रयोग से; विसूचिका-आमवात-सक्रिय क्षय-औपसर्गिक पूयमेह तथा लोहित ज्वर के प्रकोप जाल में तथा सामान्यतया सभी औपसर्गिक रोगों के सन्निवृत्त काल मे; हाजकिनका रोग तथा श्वेतमयता, त्वकरोग, अस्थिमज्जा के विकार–अस्थिमृदुता–वक्रता एवं अर्बुद आदि; उष्ण कटिबंधज उषसि प्रियता तथा प्लीहोच्छेदन के बाद और कुछ व्यक्तियों मे कुलज रूप में।
घ. एक कायाणु (Monocytes)	२–६% या १००-६०० प्रति घन मि. मि	एक कायाणूत्कर्ष (Monocytosis) ५ प्रतिशत या ५०० से अधिक	विषमज्वर, काल ज्वर, जीर्ण आमातिसार, निद्रारोग (Trypanosomiasis), दण्डक ज्वर, तन्द्रिक ज्वर, आंत्रिक ज्वर, हाजकिन का रोग, फिरंग तथा अनुतीव्र तृणाण्विय अन्तर्हृच्छोथ (Subacute bacterial endocarditis), एक कायाण्विक श्वेतमयता (Monocytic leukaemia)।
ङ. क्षारप्रिय (Basophil)	०–५% या ०-५० प्रति घन मि. मि.	क्षारप्रियता (Basophilia)	मज्जाभ श्वेतमयता (Myloid leukaemia), रुधिरमग्नता, यकृद्दाल्युदर, नासाकोटर का जीर्ण शोथ (Ch. Rhinitis), मसूरिका एवं लघुमसूरिका।

पूय (Pus)

संचय—एक छोटी नलिका में या रूई के फाहे में पूय का सचय लगभग १ सी० सी० करते हैं।

भौतिक-परीक्षा

इसमें पूय के वर्ण, गन्ध, संघटन आदि का विचार करना चाहिए।

अणुवीक्षण-परीक्षा

यक्ष्मा, पूय, पूयमेह आदि रोगों के जीवाणु के लिए इसकी परीक्षा अणुवीक्षण यंत्र से होनी चाहिए।

रक्तपित्त

रोगी के शरीर से निःसृत रक्त कौआ, कुत्ता आदि पशु-पक्षियों को खिलावे। यदि वे खा जाँय तो जीवरक्त और यदि न खाँय तो रक्तपित्त समझना चाहिए। श्वेत वस्त्र को रक्तपित्त में भिगोकर फिर गरम पानी से धो दें। यदि बिलकुल धुल जाय तो जीवरक्त अन्यथा रक्तपित्त समझना चाहिए।[1] ऊर्ध्वग रक्तपित्त में मुख से जो रक्त आता है उसकी लिटमस प्रतिक्रिया देखनी चाहिए। यदि प्रतिक्रिया क्षारीय हो तो रक्त फुफ्फुसागत (Haemoptysis) और यदि आम्लिक हो तो आमाशयागत (Haemetemesis) समझना चाहिए। आमाशय के कैन्सर में यकृत्खण्डवत् (Coffee-ground metrial) रक्त वमन होता है। अन्य विकारों मे भी अनेक वर्णों का रक्त आता है।[2]

---

१. तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा।
भुक्ते तच्चेद्वदेज्जीवं न भुक्ते पित्तमादिशेत् ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावान कोष्णवारिणा।
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते ॥ (च सि ६)

२. मांसप्रक्षालनाभं क्वथितमिव च यत् कर्दमाम्भोनिभं वा
मेदःपूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम।
यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥ (सु० उ ४५)

आर्त्तव

भौतिक परीक्षा

१. **मात्रा**—आर्त्तवस्राव अधिकाधिक पाँच दिनों तक होता है और उसमें रक्त न बहुत और न कम आना चाहिए।[1] सामान्यतः इसकी मात्रा प्रतिमास २२½ तोले होती है। इसकी कुल मात्रा चार अञ्जलि बतलाई गई है। अधिक रक्त प्रदर में तथा अल्प रक्त आर्त्तवक्षय में आता है।

२. **वर्ण**—सामान्यतः आर्त्तव का वर्ण रक्त के सदृश (इन्द्रगोप, पद्म, अलक्तक, गुंजाफल के समान) होता है। प्राकृत आर्त्तव खरगोश के रक्त या लाक्षारस के सदृश होता है। इससे रंजित वस्त्र को पानी से धोने पर रंग छूट जाना चाहिए।[2] किन्तु विभिन्न विकृतियों में निम्नांकित वर्णविकार मिलते हैं—

श्यावारुणवर्ण—वातविकार।

नील, पीत, लोहितवर्ण—पित्तविकार।

पाण्डुवर्ण—कफविकार।

३. **गन्ध**—प्राकृत आर्त्तव गन्धरहित होना चाहिए किन्तु रक्तदोष से उसमें दुर्गन्ध उत्पन्न होती है और शव के समान उससे गन्ध आने लगती है। कभी-कभी सान्निपातिक दोषों से आर्त्तव मूत्रपुरीषगन्धि आता है।[3]

४. **स्पर्श**—स्वभावतः आर्त्तव निष्पिच्छ होना चाहिए। कफज योनिव्यापदों में पिच्छिल आर्त्तव आता है।

---

१. मासान्निष्पिच्छदाहार्त्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च।
नैवातिबहु नात्यल्पमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्॥ (च. चि ३०)

२. 'गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसंनिभम्।
इन्द्रगोपकसंकाशमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्॥' (च. चि ३०)
शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्त्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत्॥' (सु. शा. २)

३. मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्त्तवम्।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥ (सु. शा. ३)
कुणपगन्ध्यनल्पं रक्तेन— (सु. शा. २)
मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेन— (सु. शा. २)

५. **संघटन**—प्राकृत आर्त्तव न अतिद्रव, न अतिसान्द्र होना चाहिए। पैत्तिक विकारों में आर्त्तव अतिद्रव तथा वातश्लैष्मिक विकारों में अतिसान्द्र और ग्रंथिभूत होता है। पित्तश्लैष्मिक दोषों से आर्त्तव पूय के सदृश हो जाता है।[1]

स्तन्य

भौतिक परीक्षा

१. **मात्रा**—स्तन्य की मात्रा न अधिक होनी चाहिए और न कम। स्तन्य की स्वाभाविक मात्रा शरीर में दो अञ्जलि मानी गई है।[2]

२. **रूप**—स्तन्य का प्राकृत वर्ण पाण्डुर श्वेत होता है। स्तन्य को निर्मल जल में डालकर उसकी परीक्षा करें। यदि स्तन्य जल में मिलकर एकाकार हो जाय तथा पाण्डुर वर्ण एवं निर्मल हो तो शुद्ध समझना चाहिए। पित्त के कारण स्तन्य में नील, पीत, कृष्ण आदि विकृत वर्ण आते हैं। वातप्रकोप से स्तन्य फेनिल होता है।[3]

३. **रस**—स्तन्य स्वभावतः मधुर होता है। वातज विकारों में इसका माधुर्य नष्ट हो जाता है और कषाय, तिक्त आदि रस प्रादुर्भूत होते हैं।

४. **गन्ध**—स्तन्य की गन्ध विशिष्ट होती है। पित्तज विकारों में स्तन्य दुर्गन्धयुक्त आता है।

५ **स्पर्श**—स्पर्श में स्तन्य न अतिरूक्ष होना चाहिए, न अतिस्निग्ध। वातज विकारों में रूक्षता तथा कफज विकारों में स्निग्धता और पिच्छिलता उत्पन्न होती है।

६ **संघटन**—सामान्यतः स्तन्य लघु और प्रसन्न होना चाहिए। कफ से इसमें आविलता और गुरुता होती है।

---

१. 'ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्याम्, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्याम्।' (सु. शा. २)

२. 'द्वावञ्जली तु स्तन्यस्य चतस्रो रजसः स्त्रियाः।' (वा. शा ३)

३. 'यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम्।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद् विनिर्दिशेत्॥' (सु नि. १०)

'स्तन्यसंपत् तु प्रकृतवर्णगन्धरसस्पर्शम्। उदकपात्रे दुह्यमानमुदकं व्येति, प्रकृतिभूतत्वात् तत् पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति।' (च. शा. ८)

शुक्र

भौतिक परीक्षा

१. **मात्रा**—शुक्र की प्राकृत मात्रा समस्त शरीर में अर्धाञ्जलि होती है। किन्तु परीक्षा के लिए संभोगकाल में एक वार जितना शुक्र आता है उसे ग्रहण करना चाहिए। यह मात्रा न अधिक होनी चाहिए और न कम। शुक्रवृद्धि में अति और शुक्रक्षय में कम शुक्र आता है।

२. **रूप**—शुद्ध शुक्र स्फटिक के समान श्वेतवर्ण होना चाहिए।[1] वातिक दोष से इसमें फेनिलता और श्यावता तथा पित्त दोष से नील, पीत आदि वर्ण उत्पन्न होते हैं। श्लेष्मदोष से शुक्र अतिश्वेतवर्ण होता है।

३. **रस**—शुद्ध शुक्र मधुर होना चाहिए। वायु के कारण इसमें वैरस्य आता है।

४. **गन्ध**—प्राकृत शुक्र मधु के समान गन्धवाला होता है। पित्तदोष से इसमें दुर्गन्ध उत्पन्न होती है।

५. **स्पर्श**—प्राकृत शुक्र स्निग्ध और पिच्छिल होता है। किन्तु वायु के कारण यह रूक्ष और कफ के कारण अतिपिच्छिल हो जाता है। स्वभावतः शुक्र सौम्य होता है किन्तु पित्तदोष से उसमें उष्णता आती है और शुक्रच्युति के समय लिंग में दाह होता है।[2]

---

१. स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा॥ (सु. शा. २)
स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम्॥ (च. चि ३०)
बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरुपिच्छिलम्।
शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत् तदसंशयम्॥ (च. चि. २)

२. 'फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात्।'
'सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च। दहल्लिंगं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम्॥ श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम्।' (च चि ३०)

'तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, शोणितवर्णवेदनं कुणपगन्ध्यनल्पं रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्याम्, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्याम्, क्षीणं प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्याम्, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति।' (सु. शा. २)

६. **संघटन**—शुद्ध शुक्र गाढ़ा द्रव —न अतिघन न अतिद्रव—(तैल-मधु के सदृश अर्धद्रव) होना चाहिए। वातदोष से इसमें पतलापन तथा कफदोष से गाढ़ापन होता है। कफदोष के आधिक्य से तथा शुक्रवृद्धि में शुक्र ग्रथिल (गाँठदार) होता है। पित्त-श्लेष्म दोषों से शुक्र पूय के सदृश होता है।

७. **अन्य पदार्थों की उपस्थिति**—अतिसंभोग से शुक्रक्षय होने पर या अभिघात, क्षत आदि से शुक्र के साथ रक्त मिला आता है।[1]

रासायनिक परीक्षा

शुक्र में अन्य पदार्थों की उपस्थिति का निश्चय करने के लिए उसकी रासायनिक परीक्षा करनी चाहिए।

अणुवीक्षण-परीक्षा

शुक्रकीटों की दुर्बलता से सन्तोनात्पत्ति नही होती। ऐसी स्थिति में, शुक्र को अणुवीक्षण यंत्र में रखकर शुक्रकीटों की संख्या तथा उनकी गति की परीक्षा करनी चाहिए। संभोग के समय स्वभावतः जितना शुक्र निकलता है उसमें प्राय वीस करोड़ शुक्रकीट होते हैं। क्लैब्य रोग में उनकी सख्या वहुत कम, प्रायः नही के बराबर हो जाती है[2] और उनकी गति भी क्षीण हो जाती है।

मूत्र

मूत्र-परीक्षा के निम्नांकित विभाग हैं—

मूत्र-परीक्षा

- भौतिक परीक्षा
- रासायनिक परीक्षा
    - लाक्षणिक
    - मात्रिक
- सूक्ष्मदर्शक परीक्षा

'फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम्।
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाष्टमम् ॥' (च. चि ३०)

१ 'स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात् क्षतादपि।
शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम् ॥' (च चि ३०)

२. 'म्लानशिश्नश्च निर्बीजः स्यादेतत् क्लैब्यलक्षणम्।' (च. चि ३०)

मूत्र का संचय

परीक्षा के लिए मूत्र एक गोपुच्छाकार (Conical) शीशे के पात्र में रक्खा जाता है, जिसमें अल्पतम प्रक्षेप-द्रव्य भी आसानी से तल में बैठ जाता है।

परीक्षा के लिए मूत्र जिस दिन आवे, उसी दिन उसकी परीक्षा समाप्त कर लेनी चाहिए, क्योंकि ताजी हालत में परीक्षा के परिणाम उत्तम निकलते हैं। अधिक समय बीतने पर उसमें विघटन प्रारम्भ हो जाता है, जिससे वह मलिन दीखने लगता है, उसके तल में फॉस्फेट का प्रक्षेप अधिक बैठ जाता है और उसकी गन्ध अमोनिया की सी हो जाती है। फलतः ऐसे विघटित मूत्र की परीक्षा से कभी शुद्ध निदान नहीं हो सकता।

हमारे देश की जलवायु में, मूत्रपरीक्षा शीतकाल में १२ घण्टों के भीतर तथा ग्रीष्मकाल में ८ घण्टों के भीतर समाप्त कर लेनी चाहिए, बशर्ते कि मूत्र एक स्वच्छ पात्र में एकत्रित किया गया हो, अन्यथा इस अवधि के बाद अन्य सेन्द्रिय पदार्थों की भाँति उसमें भी पूतिभवन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उसकी प्रतिक्रिया यूरिया के अमोनिया में परिवर्तित हो जाने से अम्ल के बदले क्षारीय हो जाती है और उसमें जीवाणुओं की वृद्धि तथा फॉस्फेट का सञ्चय होने से उसका वर्ण भी मलिन हो जाता है। ये फॉस्फेट पात्र के तल में बैठ जाते हैं और मूत्र में अमोनिया और तत्सदृश अन्य पदार्थों की उत्पत्ति होने से उससे एक तीखी गन्ध निकलती है।

कभी कभी जब मूत्र को कुछ देर के लिए सुरक्षित रखना पड़ता है; तब उसमें निम्नलिखित जन्तुघ्न द्रव्य डालते हैं—

१. फार्मेलिन (Formalin)—१ औंस मूत्र में १ बूंद।
२. थाइमल (Thymol) का चूर्ण—१ औंस मूत्र में १ ग्रेन।
३. एका टाइकोटिस (Aqua Ptychotis)—१ औंस मूत्र में ५ बूंद।

अभाव या शीघ्रता में कर्पूर का चूर्ण भी कुछ घण्टों के लिए मूत्र को सुरक्षित रख सकता है।

योगरत्नाकर में परीक्षा के लिए मूत्रसञ्चय-विधि का निम्नलिखित वर्णन किया गया है :—

'निशान्त्ययामे घटिकाचतुष्टये उत्थाप्य वैद्य' किलरोगिणा च ।
मूत्रं धृतं काचमये च पात्रे सूर्योदये तत्सततं परीक्षेत् ॥'
'तस्याद्यधारां परिहृत्य मध्यधारोद्भवं तत्परिधारयित्वा ।
सम्यक् परिज्ञाय गदस्य हेतुं कुर्याच्चिकित्सा सततं हिताय ॥'

भौतिक परीक्षा (Physical Examination)

इसके अन्तर्गत मूत्र के निम्न भौतिक गुणों का विचार किया जाता है—

१. मात्रा (Quantity)
२ वर्ण (Colour)
३. पारदर्शकता (Transparency)
४. गन्ध (Odour)
५. विशिष्ट गुरुत्व (Specific gravity)
६. प्रक्षेपद्रव्य (Sediment)
७ प्रतिक्रिया (Reaction)

१. मात्रा

२४ घण्टों में एकत्रित की गई मूत्र की राशि में से लगभग ४ औंस (२ छॅटाक) परीक्षा के लिए भेजा जाता है। मात्रा की निश्चिति एक परिमापक पात्र (Measure glass) के द्वारा की जाती है, जिसमें घन सेंटीमीटर (C. C) और औंस के चिह्न अंकित रहते हैं।

स्वभावतः एक युवा पुरुष २४ घण्टों में १५०० सी० सी० या ५० औंस मूत्र का उत्सर्ग करता है और उससे कुछ ही कम स्त्रियाँ करती हैं। अपनी आयु के अनुपात से बालक अधिक मूत्र का त्याग करते हैं, क्योंकि उनका आहार द्रवप्राय होता है। १५ साल से बाद यह मात्रा युवा के बराबर हो जाती है। स्वास्थ्य की अवस्था में भी यह मात्रा कई कारणों पर आश्रित रहती है। निम्नलिखित कारणों से मूत्र की राशि बढ़ जाती है[1]—

१ द्रव आहार का आधिक्य २. शीतऋतु
३. आर्द्र जलवायु ४. निष्क्रियता ५. घबड़ाहट

---

१. द्रवातियोगात शैत्येन संयोगाच्चातिवर्धते ।' (आयुर्वेदविज्ञान)

निम्न कारणों से मूत्र की मात्रा घट जाती है[१]—

१. द्रव आहार की अल्पता २. ग्रीष्म ऋतु

३ शुष्क जलवायु ४. व्यायाम ५. स्वेदागम

स्वेद और मूत्र की मात्रा एक दूसरे से बहुत अधिक संबन्धित है। साधारणतया, एक व्यक्ति एक दिन में १½ सेर पसीने और र मूत्र का त्याग करता है। ग्रीष्म ऋतु में पसीना अधिक निकलने से मूत्र की मात्रा कम हो जाती है। इसके विपरीत, शीत ऋतु में पसेना कम निकलने से मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। इनके घनिष्ठ संबन्ध का कारण यह है कि दोनों के रासायनिक अवयव एक ही होते हैं, भेद केवल इतना ही है कि पसीने में वे अधिक तनु (Dilute) रूप में रहते हैं।

स्वभावतः रात्रि की अपेक्षा दिन में मूत्र की मात्रा अधिक होती है, जिसका अनुपात लगभग २ : १ होता है। यह अनुपात जीर्ण वृक्करोगों में बदल जाता है। अतः यदि किसी रोगी में वृक्करोग का सन्देह हो, तो उसे यह आदेश देना चाहिए कि वह दिन और रात का मूत्र पृथक् पृथक् पात्रों में एकत्रित करे और इनकी मात्रा भी पृथक् पृथक् नाप कर इसका अनुपात निकालना चाहिये।

जहाँ एक ही राशि मिले, वहाँ भोजन के तीन घण्टे बाद का मूत्र परीक्षा के लिये लिया जाता है, क्योंकि इसमें विकृत अवयवों के मिलने की संभावना अधिक रहती है।

२. वर्ण

सान्द्रता के क्रम से मूत्र में निम्न स्वाभाविक वर्ण होते हैं—

१. जलीय (Watery) ५. कपिशपीत (Brownish)

२. पीताभ (Pale yellow) ६. कपिश (Brown)।

३. नीवार सदृश (Straw) ७. श्यामल (Chocolate)।

४. पीत (yellow)

---

१. विरत्या द्रवपानाच्च स्वेदाधिक्यात् स्रुतेऽसृजि।
जलोदरेऽतिसारे च मूत्रं स्तोकं स्रुतेऽसृणाम्॥' (आ. वि.)

मूत्र का वर्ण उसकी सान्द्रता पर निर्भर करता है। मूत्र जितना ही सान्द्र होगा, उसका वर्ण उतना ही गाढा होगा। इसके विपरीत, जब मूत्र तनु होगा, तो उसका वर्ण भी हलका होगा।

मूत्र के निम्नलिखित वैकृत वर्ण होते हैं :—

१. श्याम (Blackish)—परिवर्तित रक्त की उपस्थिति के कारण।

२ धूमिल (Smoky)—परिवर्तित रक्त की अल्प मात्रा में उपस्थिति के कारण।

३. रक्त (Red)—ताजे रक्त की उपस्थिति के कारण।

४. क्षीराभ (Milky)—अन्न-रस (Chyle) की उपस्थिति में।

५. हरिताभ (Greenish)—पित्त की उपस्थिति में।

इनमें प्रथम दो वाताधिक्य से, क्षीराभ कफाधिक्य से तथा शेष वर्ण पित्ताधिक्य से होते हैं।[1]

मूत्र की मलिनता (Haziness) और क्षीराभ वर्ण में भेद अत्यन्त सावधानी से करना चाहिये, क्योंकि बहुधा अन्न-रसयुक्त मूत्र में सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से श्लीपद के जीवाणु देखे गये हैं।

३. पारदर्शकता

प्राकृत मूत्र नियमत: स्वच्छ होता है। कभी-कभी वह जीवाणुओं तथा

---

१ 'वाते च पाण्डुरं मूत्रं सफेनं कफरोगिणः।
रक्तवर्णं भवेत् पित्ते द्वन्द्वजे मिश्रितं भवेत्॥
सन्निपाते च कृष्णं स्यादेतन्मूत्रस्य लक्षणम्॥'
'नीलं च रूक्षं कुपिते च वायौ पीतारुणं तैलसमं च पित्ते।
स्निग्धं कफे पल्वलवारितुल्यं स्निग्धोष्णरक्तं रुधिरप्रकोपे॥
मातुलुंगरसाभासं सौवीराभं जलोपमम्। प्रपाकरहितानां च मूत्रं चन्दनसन्निभम्॥
अजीर्णप्रभवे रोगे मूत्रं तण्डुलतोयवत्। नवज्वरे धूम्रवर्णं बहुमूत्रं प्रजायते॥
पित्तानिले धूम्रजलाभमुष्णं श्वेतं मरुच्छ्लेष्मणि बुद्बुदाभम्।
तच्छ्लेष्मपित्ते कलुषं सरक्तं जीर्णज्वरेऽसृक्सदृशं च पीतम्॥
स्यात् संनिपातादपि मिश्रवर्णं तूर्णं विधिज्ञेन विचारणीयम्॥' (यो. र)

घन पदार्थों की उपस्थिति के कारण मलिन हो जाता है।[1] यदि मलिनता मूत्र को निकालने के बाद भी रहे, तो उसे जीवाणुजन्य समझना चाहिये।

कभी-कभी मूत्र की अतिसान्द्रता के कारण उसमें उपस्थित यूरेट लवण अवक्षिप्त होकर उसे मलिन बना देते हैं। यदि यह मलिनता सिरकाम्ल (Acetic acid) डालने पर दूर हो जाय, तो फॉस्फेट की उपस्थिति समझना चाहिये।

कदाचित् कुछ औषधों के सेवन से भी मूत्र के वर्ण में भिन्नता आ जाती है। यथा मेथिलिन ब्लू से हरा, सैन्टोनिन से पीला, सनाय, कैस्करा (Cascara) रेवंद चीनी (Rhubarb) से कपिश और यवानीसत्त्व से पीताभ हरित वर्ण मूत्र में उत्पन्न हो जाता है।

४. गन्ध

स्वभावतः मूत्र में एक विशिष्ट उड़नशील गन्ध (Aromatic odour) होती है, जिससे सर्वसाधारण परिचित है। मूत्र में निम्नलिखित वैकृत गन्ध होती है:—

१. तीक्ष्ण (Pungent) ⎫ पूतिभवन के कारण मूत्रा-
२. अमोनियासदृश (Ammoniacal) ⎭ शयशोथ आदि रोगों में।

३. बस्तगन्धि[2]—अश्मरी रोग में।

४. फलसदृश (Fruity)—एसिटोन (Acetone) की अधिक मात्रा के कारण इक्षुमेह और असाध्य प्रसूतिसन्निपात (Eclampsia) में।

५. पुरीषसदृश (Faecal)—पुरीष के संसर्ग से।

६. चन्दनसदृश—चन्दन तेल के सेवन से।

५. विशिष्ट गुरुत्व

मूत्र का औसत विशिष्ट गुरुत्व १००५ से १०१५ तक होता है। संप्रति इसकी नाप (Urinometer) नामक यन्त्र से की जाती है। इस यंत्र में १००० से १०६० तक चिह्न अंकित रहते हैं और इसे ऐसी सावधानी से मूत्र के पात्र में डाला जाता है कि यह बिना पात्र के तल या पार्श्व में स्पर्श हुए

---

१. 'सामान्य लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता।' (मा. नि.)
२ 'मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः।' (मा. नि.)

मूत्र मे तैरता रहे और उसकी सतह पर बुलबुले भी न उठें। यदि बुलबुले हों तो उन्हे सोख्ते के एक टुकडे से हटा लेना चाहिये

मूत्रोत्सर्ग के थोड़ी देर बाद तक गरम रहने से मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व कुछ कम होता है। इसलिए जब वह वायुमंडल के तापक्रम के बराबर हो जाय, तब उसकी परीक्षा करनी चाहिये।

स्वभावतः मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व उसके वर्ण के अनुपात से तथा उसकी मात्रा के विपरीत अनुपात से होता है। उदाहरणतः, प्रातःकाल, जब वायुमडल ठंढा होता है, मूत्र की राशि अधिक होती है और उसका वर्ण हलका तथा विशिष्ट गुरुत्व कम होता है। इसके विपरीत, दोपहर में, जब तापक्रम अधिक होता है, मूत्र की राशि कम, उसका रंग गाढा और विशिष्ट गुरुत्व अधिक होता है। स्वभावतः मूत्र में अधिक विशिष्ट गुरुत्व और हलका रंग दोनों एक साथ नही होते, किन्तु वे शर्करा की उपस्थिति सूचित करते हैं। इसके विपरीत, जब मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व कम होने पर भी उसका रग गाढा हो तो वह भी विकृति का ही सूचक है और इसके कारण मूत्र में वर्णोत्पादक वस्तुओं का आधिक्य और क्लोराइड तथा यूरिया की कमी है।

इसकी परीक्षा की प्राचीन विधि यह है —

मूत्र में तृण से तेल की एक बूंद डाले। यदि वह बिन्दु, मूत्र की सतह पर फैल जाय तो रोग सुखसाध्य, यदि न फैले तो कष्ट साध्य और तल में बैठ जाय तो असाध्य समझना चाहिए।[1]

६. प्रक्षेपद्रव्य

स्वभावतः मूत्र का कोई भी अवयव दृष्टिगोचर नहीं होता। अधिक सान्द्र मूत्र में केवल यूरेट दिखलाई पड़ते हैं। जब मूत्र को थोड़ी देर तक रखने पर कोई वस्तु पात्र के तल में बैठती हुई दीखे, तो प्रक्षेपद्रव्य की उपस्थिति जाननी

---

1. 'परीक्षा विधिवत् कार्या रोगिमूत्रस्य तत्त्वतः।
तृणेन क्षापयेत्तैलबिन्दुं तत्रातिलाघवात्॥
विकासितं तैलमथाशु मूत्रे साध्यः स रोगी न विकासित चेत्।
स्यात् कष्टसाध्यस्तलगोवसाध्यो नागार्जुनेनैव कृता परीक्षा॥' (यो. र.)

चाहिये। परीक्षा के लिए सुविधा की दृष्टि से प्रक्षेपद्रव्य का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है :—

प्रक्षेपद्रव्य

श्वेत[1]	श्लेष्मल[2] (mucoid)	कपिशरक्त[3]	रक्त[4]
१. फास्फेट	१. श्लेष्मा (mucus)	१. यूरेट	१. रक्त
२. पूय	२. श्लेष्मा + कैल्सियम ऑग्जलेट	२ यूरिक अम्ल	

प्रक्षेपद्रव्य की परीक्षा जो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से की जाती है, वह उच्चकोटि की होती है। फिर भी नीचे कुछ परीक्षायें दी जा रही हैं :—

१. मूत्र को उस पात्र से दूसरे पात्र में डाल दो। केवल प्रक्षेपद्रव्य को उसमें रहने दो। इस प्रक्षेपद्रव्य के तीन भाग करके तीनों को अलग-अलग परीक्षणनलिका में रक्खो। इनमें से एक में सिरकाम्ल की कुछ बूंदें डालो। यदि प्रक्षेपद्रव्य पूर्णतः नष्ट होजाय तो फॉस्फेट (केवल) और यदि अंशत: नष्ट हो तो फॉस्फेट (कुछ अन्य वस्तुओं के साथ) समझना चाहिए।

२. अब दूसरी परीक्षणनलिका लो और उसमें थोड़ा पोटाश का द्रव (Liquor Potash) डालो। यदि रज्जुसदृश अवक्षेप या जिलेटिनसदृश वस्तु मिले तो पूय और यदि प्रक्षेप घुल जाय तो श्लेष्मा की उपस्थिति समझनी चाहिए। तीसरी नलिका तुलना के लिए रखी जाती है।

३. एक परीक्षण-नलिका में उसके ¾ भाग तक मूत्र लो, जिसमें कपिशरक्त प्रक्षेप उपस्थित हों। मूत्र का ऊपरी भाग स्पिरिट लैम्प से गरम करो। यदि मलिनता दूर हो जाय तो यूरेट की उपस्थिति समझनी चाहिये।

४. एक नलिका में थोड़ा प्रक्षेप लो। उसमें सान्द्र लवणाम्ल (Strong Hydrochloric acid) डालो। यदि प्रक्षेप घुल जाय और उसमें अमोनिया का विलयन (Liquor ammonia fort) डालने पर क्रिस्टल बन जाय तो कैल्सियम आक्जलेट की उपस्थिति समझनी चाहिए।

---

१. सुरामेह पूयमेह। २. सान्द्रमेह लालामेह। ३ माञ्जिष्ठमेह। ४ रक्तमेह।

७. प्रतिक्रिया

स्वभावतः मूत्र की प्रतिक्रिया एसिड सोडियम फॉस्फेट (Acid sodium Phosphate) की उपस्थिति के कारण आम्लिक होती है। कभी कभी यह क्षारीय, उदासीन (Neutral) या क्षाराम्लिक (Amphoteric) होती है। लाल लिटमस डालने पर जब मूत्र नीला हो जाय तो क्षारीय समझना चाहिये। इसके विपरीत, जब नीला लिटमस लाल हो जाय तो उसे आम्लिक समझना चाहिये। जब मूत्र में दोनों तरह के लिटमस डालने पर भी कोई प्रतिक्रिया न हो, तो उसे उदासीन और जब दोनों प्रतिक्रियायें उपस्थित हों, तो क्षाराम्लिक कहते हैं। क्षाराम्लिक प्रतिक्रिया आम्लिक लवणों के साथ साथ डाइ-सोडियम हाइड्रोजन फास्फेट (Di-Sodium Hydrogen Phosphate) की अधिक मात्रा में उपस्थिति के कारण होती है। किन्तु निदान की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं।

पहले लिखा जा चुका है कि स्वभावतः मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक होती है, किंतु इसमें पूतिभवन की क्रिया प्रारम्भ होने से वह क्षारीय हो जाती है और उसमें से अमोनिया के समान गन्ध निकलने लगती है। ऐसी अवस्था में शुद्ध परिणाम निकालना कठिन है, इसलिए ऐसी विघटित राशि फेंक देनी चाहिए और परीक्षा के लिए नवीन राशि लेनी चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो मूत्र को थोड़े अभ्रक के चूर्ण के साथ मिलाकर निथार लेना चाहिये और तब उसकी परीक्षा की जा सकती है। मूत्र की आम्लिकता निम्न दशाओं में बढ जाती है :—

१. सोडियम-एसिड-फॉस्फेट के सेवन से।

२ आहार में प्रोटीन की अधिकता से।

३. रक्त की आम्लिकता से।

४. मूत्र के गाढा होने से यथा ज्वरों में।

मूत्र की आम्लिकता अधिक बढने से बच्चों में मूत्रक्षय (Enuresis) हो जाता है। ताजा मूत्र की क्षारीयता क्षणिक क्षारीयता (Volatile alkalinity) सूचित करती है, जिसकी पहचान अमोनिया सदृश गन्ध से होती है और जिससे लाल लिटमस नीला हो जाता है। इसे क्षणिक इसलिए कहते हैं कि गरम करने पर अमोनिया मूत्र से निकल जाता है और उसकी क्षारीयता नष्ट हो

जाती है। जब गरम करने पर भी कोई परिवर्तन न हो, तो उसे स्थायी क्षारीयता (Fined Alkalinity) कहते हैं। यह क्षारीय लवणों के कारण होती है और निम्न अवस्थाओं में पाई जाती है—

१. वमन के आधिक्य में।

२. न्यूमोनिया में दारुण ज्वरमोक्ष (Crisis) के बाद।

३. रक्ताल्पता के विभिन्न रूपों में।

४. पूर्णाहार के पचन काल में।

५. फलाहार की अधिकता में।

६. वानस्पतिक अम्लों के लवणों के सेवन से।

रासायनिक परीक्षा

(क) लाक्षणिक (Qualitative)

१. अलब्यूमिन (Albumin)—स्वभावतः यह मूत्रमें कुछ दुर्लभ अपवादों के अतिरिक्त अनुपस्थित रहता है। यह मूत्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सामान्यतया पाया जाने वाला वैकृत अवयव है।

परीक्षायें—(क) ताप-परीक्षा (Heat test)—परीक्षणनलिका का $\frac{3}{4}$ भाग मूत्र से भरो और इसका ऊपरी हिस्सा गरम करो। नलिका के खाली हिस्से में गर्मी न पहुँचने पावे, अन्यथा नलिका टूट जायगी। यदि गरम करने पर मूत्र का ऊपरी हिस्सा मलिन हो जाय तो फॉस्फेट, अलब्यूमिन या दोनों की उपस्थिति समझनी चाहिये। इसके बाद उसमें सिरकाम्ल की कुछ बूँदें डालो। यदि मलिनता नष्ट हो जाय, तो फॉस्फेट अन्यथा अलब्यूमिन की उपस्थिति समझनी चाहिये। यदि मलिनता कुछ अंशों में कम हो तो अलब्यूमिन और फॉस्फेट दोनों की उपस्थिति समझनी चाहिये।

उपर्युक्त परीक्षा के लिए मूत्र की स्वच्छता अत्यावश्यक है। अतः यदि मूत्र मलिन हो, तो पहले उसे निःस्यन्दन (Filter) के द्वारा स्वच्छ बना लेना चाहिये।

(ख) वृत्तपरीक्षा या हेलार की परीक्षा (Ring test or Helar's test)—एक नलिका में एक इंच सान्द्र शोरकाम्ल (Strong Nitric

acid) लो। उसके ऊपर १ इञ्च मूत्र पिपेट के द्वारा तिरछे डालो। अलव्यूमिन की उपस्थिति में दोनों द्रवों के सन्धिस्थान में एक श्वेत, पारभासक (Opaque) वृत्तरेखा मिलेगी। यदि यह रेखा हरी या नीली हो, तो पित्त की उपस्थिति समझनी चाहिये। दूसरे वर्ण की रेखाओं का निदान में कोई महत्व नहीं है।

२. **शर्करा** (Sugar)—स्वभावतः यह मूत्र में अनुपस्थित रहता है। (क) **फेहलिंग की परीक्षा** (Fehling's test)—एक नलिका में ½ इञ्च फेहलिंग विलयन नं० १ लो। इसमें उतना ही फेहलिंग विलयन नं० २ डालो। दूसरी नलिका में १½ इञ्च मूत्र लो। दोनों नलिकाओं को अलग अलग गरम करो, जब तक वे उबलने न लगें। उबलने पर मूत्र को फेहलिंग विलयन वाली नलिका में डालो। यदि रक्तवर्ण का अवक्षेप मिले, तो शर्करा की उपस्थिति समझनी चाहिये। यदि वर्ण में कोई परिवर्तन न हो, तो फिर गरम करो। अब यदि लाल अवक्षेप मिले तो शर्करा की अल्प मात्रा समझनी चाहिये। इतने पर भी यदि कोई परिवर्तन न हो, तो शर्करा की अनुपस्थिति समझनी चाहिये।

इस परीक्षा में सावधानी से काम लेना चाहिये, क्योंकि कभी कभी मूत्र न डालने पर भी फेहलिन विलयन गरम करने से लाल हो जाता है। ऐसा तभी होता है, जब विलयन बहुत पुराना हो। इसलिए ऐसे विलयन का परीक्षा में प्रयोग नहीं करना चाहिये। साथ ही इस बात पर भी ध्यान देना चाहिये कि विलयन में मूत्र डालने पर जो लाली पैदा होती है, वह लाल अवक्षेप के कारण होती है या विलयन ही लाल हो जाता है और उसमें अवक्षेप सफेद रहता है। पहली स्थिति तो शर्करा की उपस्थिति सूचित करती है, पर दूसरी मूत्र का विशिष्ट गुरुत्व अधिक होने से होती है, न कि शर्करा के कारण। मूत्र को सुरक्षित रखने के लिए जब फॉर्मेलिन का उपयोग अधिक मात्रा में होता है, तब भी विलयन लाल हो जाता है।

(ख) **बेनेडिक्ट की परीक्षा** (Benedict's test) एक नलिका में बेनेडिक्ट का द्रव (Benedict's reagent) लो। उसमें ८ या १० बूँद मूत्र डालो। इसे गरम करो और फिर ठंढा होने दो। एक अवक्षेप मिलेगा, जिसका वर्ण शर्करा की मात्रा के अनुसार हरा या लाल होगा।

३. **फॉस्फेट**—प्रायः प्राकृत मूत्र में यह अनुपस्थित रहता है। इसकी परीक्षा का वर्णन अलब्यूमिन की तापपरीक्षा के सिलसिले में कर दिया गया है। यदि गरम करने से उत्पन्न हुई मलिनता सिरकाम्ल या शोरकाम्ल के डालने से दूर हो जाय तो फॉस्फेट की अधिकता समझनी चाहिये।

फॉस्फेट सभी मूत्र में होते हैं, पर वे मूत्र की आम्लिकता के कारण उसमें घुले रहते हैं। जब किसी कारण से मूत्र की आम्लिकता कम या नष्ट हो जाती है, तब फॉस्फेट का अवक्षेप बन जाता है। इस प्रकार फॉस्फेट की अधिकता एक आपेक्षिक वस्तु है, जो मूत्र की आम्लिक प्रतिक्रिया पर निर्भर रहती है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि फॉस्फेट की वास्तव में वृद्धि हो गई है।

४. **पित्त**—स्वभावतः अनुपस्थित।

परीक्षा—(क) जब शोरकाम्ल के ऊपर मूत्र डालने से दोनों के सन्धिस्थल पर हरी या नीली वृत्तरेखा मिले, तब पित्त की उपस्थिति समझनी चाहिये। यह विधि पित्त के रञ्जक कणों (Pigments) की परीक्षा के लिए उपयुक्त होती है।

(ख) **हे की परीक्षा** (Hay's test)—एक नलिका में २ इंच मूत्र लो। उसमें शोधा गन्धक (Sublime sulphur) का चूर्ण डालो। यदि गन्धक के कण नीचे बैठने लगें, तो पित्त की उपस्थिति समझनी चाहिये। यह विधि पित्त लवणों की परीक्षा के लिए उपयुक्त होती है।

५. **अन्नरस** (Chyle)—इसकी उपस्थिति में मूत्र का वर्ण एकदम दूध की तरह हो जाता है और यही इसकी आसान पहचान है।

६. **रक्त**—(क) **ग्वेकम परीक्षा** (Guaicum test)—यदि मूत्र क्षारीय हो, तो पहले सिरकाम्ल से उसको आम्लिक बना लेना चाहिये। इस मूत्र को एक नलिका में २ इंच तक लो। इसमें ताजा टिंक्चर ग्वेकम की कुछ बूंदें डालो और दोनों को अच्छी तरह मिला लो। एक दूसरी नलिका लो और उसमें १ इंच तक [illegible] डालो। इसमें बराबर ही उसमें [illegible] मिलाओ और [illegible] दोनों मिला लो। इसको पहली नलिका में धीरे धीरे डालो। [illegible] सन्धिस्थल पर [illegible] नीला रंग पैदा हो जाय तो रक्त की उपस्थिति समझनी चाहिये।

(ख) **बेञ्जिडिन परीक्षा** (Benzidin test)—एक नलिका में सान्द्र सिरकाम्ल में बेञ्जिडिन का सन्तृप्त विलयन बनाओ। उसमें उसके बराबर हाइड्रोजन परोक्साइड मिलाओ। अब उतना ही मूत्र धीरे धीरे उस नलिका में डालो। रक्त की उपस्थिति में उसका रंग नीला हो जायगा।

(ग) प्रक्षेपद्रव्यों की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से परीक्षा करने पर रक्तकणों की उपस्थिति मिलेगी।

(घ) रक्त की उपस्थिति में मूत्र का वर्ण भी धूमिल (यदि रक्त कम मात्रा मे हो) या लाल (यदि रक्त अधिक मात्रा में हो) होता है।

७. पूय

परीक्षायें—(क) एक नलिका में २ इञ्च मूत्र लो। उसमें टिंक्चर ग्वैकम की कुछ बूँदें डालो और दोनों को खूब मिला लो। पूय की उपस्थिति में वह नीला हो जायगा, पर गरम करने से यह नीलापन नष्ट हो जायगा।

(ख) नलिका में १ या २ इञ्च मूत्र लो जिसमें प्रक्षेप द्रव्य भी मिले हों। इसका आधा पोटाश का द्रव (Liquor Potash) मिलाओ। यदि यह रज्जु या जिलेटिन की तरह हो जाय तो पूय की उपस्थिति समझनी चाहिये।

८. एसिटोन—स्वभावतः अनुपस्थित।

परीक्षा—(क) एक नलिका में १ इञ्च ताजा मूत्र लो उसमें अमोनियम सल्फेट का एक टुकड़ा डालो और दोनों को अच्छी तरह मिलाओ। यदि तली में कुछ भी न बैठे तो फिर थोड़ा अमोनियम सल्फेट मिलाओ। इस प्रकार उस विलयन को सन्तृप्त (Satruated) बना लो अर्थात् उसमें तब तक अमोनियम सल्फेट मिलाते जाओ, जबतक उसका थोड़ा सा अंश नलिका के तल में न बैठ जाय। यदि मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक हो तो उसमें १ या २ बूँद लाइकर अमोनिया फोर्ट डालो। मूत्र क्षारीय होने पर इसकी कोई आवश्यकता नहीं। अब एक दूसरी नलिका लो और उसमें सोडियम नाइट्रोप्रुसाइड का विलयन बनाओ। १ इञ्च पानी में मटर के बराबर सोडियम नाइट्रोप्रुसाइड मिलाकर विलयन बनाना चाहिये। इस विलयन को पहली नलिका के विलयन में डालो। एसिटोन की उपस्थिति में पोटाशियम परमैंगनेट की तरह गहरा बैंगनी रंग उत्पन्न हो जायगा।

(ख) एसिटोन की अधिक मात्रा रहने पर मूत्र से मेव के सदृश गन्ध (Fruity odour) निकलती है।

एसिटोन की परीक्षा के लिए मूत्र एकदम ताजा होना चाहिये, अन्यथा उड़नशील होने के कारण यह शीघ्र नष्ट हो जाता है। इसकी रिपोर्ट देते समय सावधानी से काम लेना चाहिये क्योंकि इसकी उपस्थिति भयानक विकृति की सूचक होती है। इक्षुमेह में यह संज्ञानाश या संन्यास के पहले या साथ ही होता है।

९. **डाइ-एसिटिक अम्ल** (Di-Acetic acid)—स्वभावतः अनुपस्थित।

परीक्षा—एक नलिका में २ इंच ताजा मूत्र लो। इसमें बूँद बूँद करके टिंचर फेरी परक्लोर डालो, जब तक अवक्षेप न आ जाय। फिर इसको निथार लो। निस्यन्दित द्रव में फिर टिंक्चर फेरी परक्लोर की कुछ बूँदे डालो। डाइ-एसिटिक अम्ल की उपस्थिति में जम्बू सदृश वर्ण उत्पन्न होगा, जो गरम करने पर नष्ट हो जायगा। मूत्र में सर्वदा यह एसिटोन के साथ पाया जाता है और गम्भीर विकृति का सूचक है।

१०. **इण्डिकन** (Indican)—स्वभावतः यह मूत्र में अल्प मात्रा में उपस्थित रहता है जो प्रोटीनयुक्त आहार का अधिक सेवन करने से बढ़ जाता है। इसकी उत्पत्ति आन्त्र में पूतिभवन के कारण होती है।

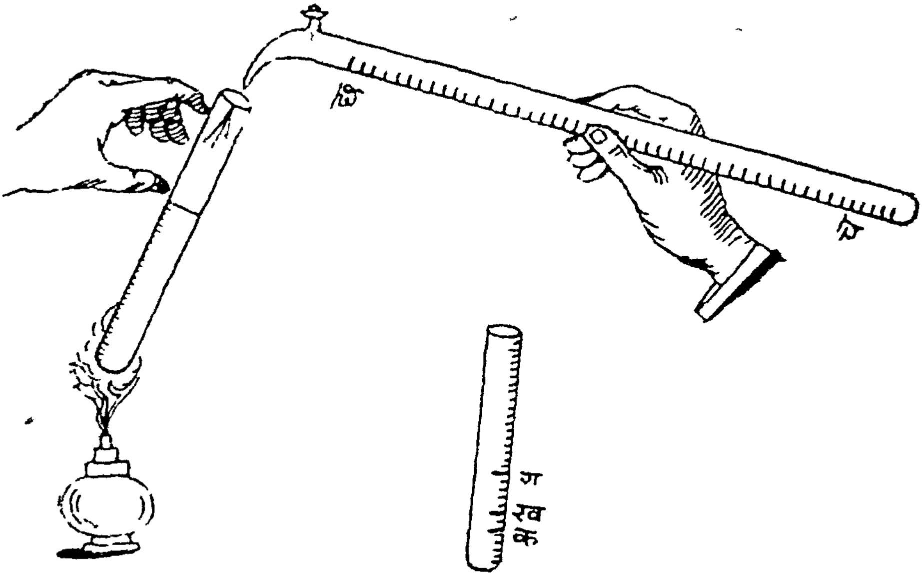
परीक्षा (Obermayer's test)—नलिका में २ इंच मूत्र लो। उसके बराबर ओवरमेयर का द्रव (Obermayer's reagent) और एक इंच क्लोरोफार्म लो। नलिका को कई बार उलट पलट कर अच्छी तरह मिलाओ। हिलाओ मत। इन्डिकन की उपस्थिति में क्लोरोफार्म तल में बैठ जाता है और उसका वर्ण नीला हो जाता है।

११. **डायजो-प्रतिक्रिया** (Diazo-reaction)—स्वभावतः अनुपस्थित।

परीक्षा—नलिका में १ इंच मूत्र लो। इसमें सल्फैनिलिक अम्ल के ५ प्रतिशत लवणाम्ल में बनाए हुए सन्तृप्त विलयन की समान मात्रा मिलाओ। फिर २ बूँद सोडियम नाइट्राइट का ½ प्रतिशत विलयन मिलाओ। इसको तब

तक हिलाओ, जब तक कि फेन न उठे। अब इसको अमोनिया से क्षारीय बनाओ। यदि फेन लाल हो जाय और विलयन का रंग पोर्ट वाइन (एक विशिष्ट प्रकार का मद्य) की तरह हो जाय, तो इसकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

(ख) मात्रिक परीक्षा (Quantitative Examination)



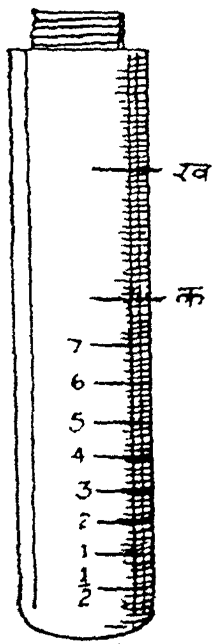
चित्र २६—शर्करामापक

१. शर्करा—शर्करा की प्रतिशत मात्रा नापने के लिए एक बहुत सस्ता और सुविधाजनक यन्त्र प्रयुक्त होता है, उसे 'कार्वारडाइन का सकारोमीटर (Carwardyne's Sachharometer) कहते हैं। इसमें दो परिमापक पात्र और एक परीक्षानलिका होती है। छोटे पात्र में क चिह्न तक फेहलिंग विलयन नं० १ भरो और ख चिह्न तक फेहलिंग विलयन न० २ भरो। ग चिह्न तक उसमें साधारण जल डालो और सारे द्रव को परीक्षणनलिका में उड़ेल दो। अब बडे पात्र के च चिह्न तक मूत्र भरो और छ चिह्न तक जल डालो। पूरे द्रव को अच्छी तरह मिला लो।

परीक्षणनलिका को गरम करो और उसमें बड़े पात्र के द्रव को धीरे-धीरे

डालते जाओ जब तक कि उसमें नीला रंग अच्छी तरह न हो जाय। अब बड़े पात्र में अंकित चिह्न को पढ़ लो। यह शर्करा की प्रतिशत मात्रा बतलायगा।

२. **अलब्यूमिन**—इसकी प्रतिशत मात्रा नापने के लिए दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली, मूत्र की प्रतिक्रिया आम्लिक होनी चाहिये तथा उसको सिरकाम्ल कई बूँदें डाल कर आम्लिक बना लेनी चाहिये। दूसरी, मूत्र का वि० गुरुत्व १००८ या इससे कम ही होना चाहिये अथवा उसमें जल मिलाकर उसका गुरुत्व कम कर देना चाहिये क्योंकि अधिक वि० गुरुत्व वाले मूत्र में अलब्यूमिन का अवक्षेप ऊपर तैरने लगता है, फलत. परिणाम ठीक नही निकलता।



चित्र २७—अल्व्युमिनमापक

इसके लिए जो यन्त्र प्रयुक्त होता है उसे 'एसबेक का अलव्यूमिनोमीटर' (Esback's Albuminometer) कहते हैं। इसमें क चिह्न तक मूत्र भरो और ख चिह्न तक 'एसबेक का द्रव' (Esback reagent) भरो। काग बन्द करके उसको खूब मिलाओ और २४ घण्टे के लिए उसे शान्त स्थान में रख दो। जहाँ तक उसमें अवक्षेप बने, वह अंक पढ़ लो। यह १००० सी. सी

मूत्र में शुष्क अल्ब्यूमिन की मात्रा ग्रामों (Grams) में बतलायगा। उदाहरणार्थ यदि अपक्षेप ½ अंक तक बना है तो अल्ब्यूमिन की मात्रा ०५ ग्राम प्रतिशत है।

अणुवीक्षण-परीक्षा

आम्लिक मूत्र में निम्न पदार्थों की उपस्थिति सम्भव है :—

१ यूरिक अम्ल।

२. अनियताकार यूरेट।

३. कल्सियम ऑक्जलेट।

४. ल्यूसिन (Leucin), टाइरोसिन (Tyrosin), सिस्टीन (Cystin) और मेदकण।

इसी प्रकार क्षारीय मूत्र में अधिकतर निम्न पदार्थों के प्रक्षेप मिलते हैं।—

१. कणीय फॉस्फेट (Amorphous or granular phosphates)।

२. त्रितय फॉस्फेट (Triple phosphates)।

मूत्र में उपस्थित सेन्द्रिय (Organic) प्रक्षेप द्रव्यों में निर्मोक (कणीय, रक्तीय, मेदस आदि), रक्तकण, श्वेतकण, शुक्रकीट आदि मुख्य हैं। निरिन्द्रिय (Unorganised) प्रक्षेप द्रव्यों में बहुधा यूरिक अम्ल, कल्सियम आक्जलेट, त्रितय फॉस्फेट, यूरेट, फॉस्फेट और कार्बोनेट आदि मिलते हैं।

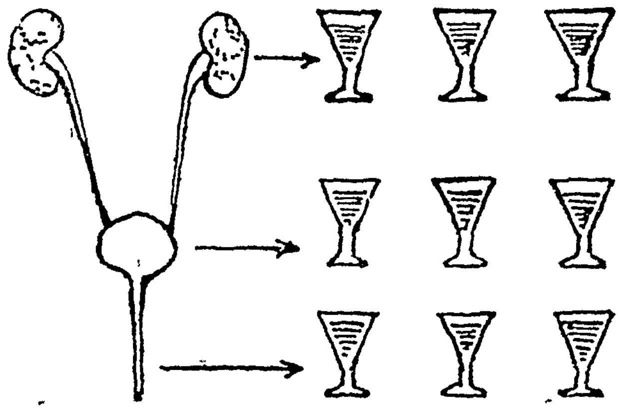
पूयमेह के लिए नलिकाचतुष्टय परीक्षा (Four-glass Test)

१. **नलिका** :—मूत्रोत्सर्ग के पहले रोगी के मूत्र मार्ग को सिरिंज से धो लिया जाता है और उससे प्राप्त द्रव को इस नलिका में रक्खा जाता है। इसमें उपस्थित पूय आदि स्पष्टतः मूत्र मार्ग के अग्रभाग की विकृति के सूचक होते हैं।

२. **नलिका** :—इसमें रोगी अपने मूत्र का ⅓ भाग निकालता है और इसमें यदि पूय, रक्त आदि उपस्थित हों तो मूत्र मार्ग के पश्चाद् भाग या मूत्राशय का विकार समझना चाहिये।

३. **नलिका** :—इसमें उत्सृष्ट मूत्र का दूसरा भाग होता है, जो मूत्राशय में उपस्थित शुद्ध मूत्र का प्रतिनिधित्व करता है।

४. **नलिका :**—पौरुषग्रंथि (Prostate Gland) और शुक्राशय (Vesiculaseminalis) का मर्दन करने के बाद रोगी को इस नलिका में मूत्रोत्सर्ग करने के लिए कहा जाता है। इससे पौरुषग्रंथि और शुक्राशय के विकार का पता लगता है।



चित्र २८—त्रिपात्र-परीक्षा

शोणितमेह के लिए त्रिपात्र-परीक्षा

शोणितमेह में रक्त मूत्रवह संस्थान के किस अंग से आता है इसका निर्णय करने के लिए यह परीक्षा की जाती है :—

तीन साफ काँच के शंक्वाकार पात्र रक्खे जाते हैं जिनमें रोगी बारी-बारी से मूत्र करता है। मूत्र में रक्त की मात्रा अधिक होने पर उसका रंग लाल या मञ्जिष्ठावर्ण होता है। सामान्य राशि होने पर रंग धूमिल या श्यामाभ होता है। अत्यल्प मात्रा होने पर प्रत्यक्ष परिवर्तन पता नही चलता किन्तु रासायनिक या अणुवीक्षण परीक्षाओं से उसका ज्ञान होता है।

इस परीक्षा से विकृति के अधिष्ठान का निर्णय निम्नाङ्कित रीति से करते हैं—

	प्रथम पात्र	द्वितीय पात्र	तृतीय पात्र
१. वृक्क	रक्त	रक्त	रक्त
२. गवीनी	रक्त	स्वच्छ	स्वच्छ
३. अष्ठीला	रक्त	स्वच्छ	रक्त
४. बस्ति	स्वच्छ	स्वच्छ	रक्त

मूत्र के रोगनिदर्शक परिवर्त्तन

भौतिक परीक्षा	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	सम्भाव्य व्याधियाँ
१. राशि (Total quantity)	१५०० सी. सी. या २५ छटाक २४ घण्टे में	मात्रा में परिवर्त्तन	स्वाभाविक स्थिति मे ऋतु-देश-काल-आहार-व्यायाम-आयु तथा शरीरभार के अनुपात मे मूत्र की राशि घटती या बढती रहती है। मधुमेह, उदकमेह, बहुमूत्रमेह, जीर्णवृक्कशोथ, भय, अपतन्त्रक आदि विकारों मे भी राशि बढती है। वमन-विरेचन-विसूचिकादि के द्वारा द्रवापहरण होने पर तथा हृदय की दुर्बलता, वृक्कशोथ आदि विकारों में मूत्र की राशि कम होती है।
२. रंग (Colour)	सामान्यतया हल्का पीला । मूत्र की राशि-विशिष्टगुरुता-संकेन्द्रण-प्रति-क्रिया आदि तथा आहार द्रव्य-व्यायाम-आदि के अनुपात में मूत्र के रग मे स्वाभाविक रूप से परिवर्त्तन होता है।	१. जल के समान वर्णहीन या ईषत् पीत	उदकमेह, बहुमूत्रमेह, मधुमेह, चिरकालीन वृक्कशोथ, अपतंत्रक, अपस्मार।
		२ पीतवर्ण	व्यायाम प्रस्वेद आदि कारणों से मूत्र का सकेन्द्रण, आहार-औषध के रूप में गाजर, रेवन्दचीनी, सनाय की पत्ती या पित्तयोगों का प्रयोग। रक्तपित्ति की मात्रा वृद्धि।

भौतिक परीक्षा	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	सम्भाव्य व्याधियाँ
		३. हरितवर्ण	स्वाभाविक रागकों की अधिकता या मूत्र के गाढा होने पर और पित्ताधिक्य या कालमेह से।
		४. लालवर्ण	रक्तकण, शोणवर्त्तुलि की उपस्थिति या स्वाभाविक मूत्ररुधिर (Uroerythrin) की मात्रा अधिक होने अथवा विशेष आहार या औषधियों के प्रयोग से।
		५. कृष्णवर्ण	मूत्र के स्वाभाविक रागकों या इण्डिकान (Indican) की अधिकता, रक्त या मलिमसि (Melanin) की उपस्थिति।
		६. दुग्धवर्ण	भास्वीय की अधिकता, पूय (Pus), पयोलस (Chyle) या शुक्र की उपस्थिति।
३. प्रतिक्रिया (Reaction)	ईषत् अम्ल pH६ (४·७–७·५)	अम्लता वृद्धि	आहार में मासजातीय द्रव्यों की प्रधानता तथा अल्पाम्लता (Hypoacidity) की अवस्थाएँ, मधुमेह, सभी प्रकार के ज्वर, जीर्ण अन्तरालीय (Interstitial) वृक्कशोथ और अनशन काल मे।
		क्षारीयता	आहार मे फल-वानस्पतिक अम्ल-लवण आदि का अधिक प्रयोग, पाण्डुरोग, फुफ्फुसपाक तथा ज्वर का दारुण मोक्ष (Crisis) होने पर या अत्यधिक वमन होने पर।

(४ विशिष्ट गुरुता Sp.gravity)	१०१२-१०२५ तक	अल्प विशिष्टगुरुता १०१० से कम	उदकमेह (Diabetes Insipidus), जीर्ण अन्तरालीय वृक्कशोथ, मूत्रविषमयता की पूर्व स्थिति, तीव्र वृक्कशोथ तथा ज्वरनिवृत्तिकाल, अपतंत्रक के आवेग के बाद तथा मद्यसेवन के बाद ।
		अधिक विशिष्टगुरुता १०२५ से अधिक	मधुमेह, तीव्र ज्वरो का दारुण मोक्ष होने पर, प्रवाहिका-वमन-प्रस्वेदादि के द्वारा जलीयांश का क्षय हो जाने पर, वृक्कशोथ की कुछ अवस्थाओं मे तथा गरिष्ठ पौष्टिक आहार का सेवन करने पर अथवा मूत्र में नमक और मिह (Urea) की राशि अधिक होने पर ।
रासायनिक परीक्षा ५. जल	१४४० सी सी. या ९६%		
		मिह की मात्रा वृद्धि ४० ग्राम से अधिक (Azoturia)	जल या मद्य (Beer) का अधिक सेवन, भोजन में प्रोभूजिनों का आधिक्य, धातुक्षयकारक ज्वर, मधुमेह, गर्भधारण के बाद तथा प्रसूतावस्था मे, सर्वांगशोथ, श्वेतमयता तथा फुफ्फुसपाक से पीड़ित रोगियो मे ।
ठोस द्रव्य—	६० ग्राम या ४%	मिह मात्राल्पता २० ग्राम से कम	आहार में प्रोभूजिनो की अल्पता-यकृदाल्युदर-पीत यकृच्छो-अम्लोत्कर्ष-फुफ्फुसक्षय तथा पाण्डुरोग मे मिह की अल्पोत्पत्ति के कारण, तीव्र व कालिक वृक्कशोथ-अमूत्रता (Anuria) तथा अष्ठीलावृद्धिजन्य मूत्रावरोध आदि व्याधियों में मिह का रक्त में विधारण होने से ।
६. मिह (Urea)	३५ ग्राम या २-३%		

रासायनिक परीक्षा	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	सम्भाव्य व्याधियाँ
७. क्रियियी (Creatinine)	१ ग्राम या ०·०७%	क्रियियी वृद्धि	आन्त्रिक (Typhoid), तन्द्रिक (Typhus), अपतानक (Tetany), फुफ्फुसपाक, अन्तर्विद्रधि आदि।
		क्रियियी अल्पता	पाण्डुरोग, हारिद्ररोग, अंगघात, पेशीक्षय, वृक्कशोथ तथा यकृत के विकार।
८. मिहिक अम्ल (Uric acid)	०·७५ ग्राम या ०·०५%	मिहिक अम्ल की अधिक्ता	वातरक्त के आक्रमण के कुछ काल उपरान्त, तीव्र संधिस्थ आमवात, सभी प्रकार के तीव्र ज्वर, अत्यधिक श्रम, श्वेतकण तथा यकृत-वृक्क आदि अंगों का अपजनन होने पर और आहार में यकृत-वृक्क मस्तिष्क आदि प्राणिज द्रव्यों की अधिकता होने पर।
		मिहिक अम्ल की अल्पता	वृक्कशोथ, हारिद्र रोग तथा शीश विष से पीडित रोगियों और शाकाहारी व्यक्तियों में।
९. अश्वमेहिक अम्ल (Hippuric)	०·७० ग्राम या ०·०५%	मात्रा की अल्पता	अङ्गघात, पक्षवध, परिसरीय नाडीशोथ आदि नाडी विकारों में।
१०. गंधश्यामिक (Thiocyanic)	०·१५ ग्राम या ०·०१%	विशेष महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन नहीं	

११. सुरभिजाराम्ल (Oxyacids)	०.०६ ग्राम या ०.००४%		
१२. तिग्मिकि अम्ल (Oxalic acid)	०.०१५ ग्राम या ०.००१%	मात्रावृद्धि	टमाटर-गोभी-गाजर-पालक-प्याज-सेव आदि तिग्मिक अम्लयुक्त पदार्थों का आहार में अधिक प्रयोग, अति भोजन, व्यायाम का अभाव, अग्निमांद्य, दौर्बल्य, वातरक्त, वातिक अवसन्नता (Neurasthenia) तथा यकृत् की हीन-कार्यता के कारण उत्पन्न पचनविकारों में।
१३. निनीलिन्य (Indican)	०.०१ ग्राम या ०.००१%	मात्रावृद्धि	शरीर के आन्तरिक अंगों मे प्रोभूजिनों का पूतिभवन करने वाले अन्त:पूयतायुक्त विकार, यक्ष्मज फुफ्फुसविवर (Cavity), श्वसनिकाभिस्तीर्णता, कोथ (Gangrene) आदि विकार तथा प्रोभूजिनों का ठीक समवर्त्त न होने पर, आंत्रावरोध (Intestinal obstruction), विसूचिका, आंत्रिक ज्वर, उदरावरण शोथ, जाठराम्ल की अल्पता और तज्जनित अग्निमांद्यादि विकार।
१४ क्षारातुनीरेय (Nacl)	१६.५ ग्राम या १.१%	नीरेयों (Chlorides) की अधिकता (क्षारातु तथा	जल तथा नमक का अधिक सेवन, शोथ या शरीर में सञ्चित द्रव का अपहरण या शोषण करते समय, उदकमेह, अस्थिवक्रता तथा यकृद्दाल्युदर पीडित रोगियों में, फुफ्फुस-

रासायनिक परीक्षा	स्वाभाविक मर्यादा	परिवर्त्तन	सम्भाव्य व्याधियाँ
		दहातु नीरेयों के रूप मे) स्वाभाविक मात्रा १०-१५ ग्राम	पाक तथा विसर्गी ज्वरों के मोक्ष तथा अपस्मार के आवेग के पश्चात् ।
१५ क्षारातु (Na_2O)	५ ० ग्राम या ०·३%	नीरेयो की न्यूनता	फुफ्फुसपाक के प्रारम्भिक दिनो मे, जलोदर सदृश फुफ्फुसावरणशोथ तथा शोफ में, जीर्ण अन्तरालीय वृक्कशोथ (Ch. Interstitial), विषमज्वर के अतिरिक्त ज्वरों के वेग के समय, विसूचिका, प्रवाहिका, जठर कर्कटार्बुद, तीव्र पाण्डुरोग, तीव्र यकृत क्षय आदि विकार तथा अनशन एवं अत्यधिक शारीरिक श्रम के बाद ।
१६ भास्विक अम्ल (Phosphoric acid)	२·५ ग्राम या ०·१५%		
१७. शुल्बारिक अम्ल (Sulphuric)	२·५ ग्राम या ०·१५%	शुल्बीयो (Sulphates) की मात्रा वृद्धि	तीव्र ज्वरितावस्था, तीव्र मज्जाशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, वर्धनशील पेशी क्षय (Muscular atrophy), मधुमेह, उदकमेह, मूत्र विषमयता, जठराम्ल की अल्पता, मलावरोध

		क्षारातु-दहातु-चूर्णातु तथा भ्राजातु का शुल्वीय लवणों के रूप में उत्सर्ग	तथा आन्त्रस्थ पूतिभवन, अपरस (Eczema) तथा मज्जाभ श्वेतमयता (Myeloid leukaemia)।
१८. दहातु (K_2o)	२·५ ग्राम या ०·१५%	दैनिक मात्रा २—३ ग्राम शुल्बीयों की अल्पता	शरीर समवर्त्त (Metabolism) की न्यूनता, रोग-निवृत्तावस्था तथा शाकाहार एवं अनशन या अल्पाशन की अवस्थाएँ।
१९. सैकतिक अम्ल (Silicic acid)	०·४५ ग्राम या ०·०३%		
२०. भ्राजातु (Mgo)	०·३० ग्राम या ०·०२%		
२१ चूर्णातु (Cao)	०·२५ ग्राम या ०·०१५%		
२२ तिक्ताति (Ammonia)	०·६५ ग्राम या ०·०४%	तिक्ताति का अधिक उत्सर्ग	मधुमेह मे रक्तगत अम्लोत्कर्ष के अनुपात में, गर्भवती स्त्रियों में वैनाशिक रूप के वमन में और यकृद्दाल्युदर तथा यकृत की हीनक्रियता के दूसरे विकारों में।
२३. लौह (Iron)	०·००५ ग्राम या ०·०००४%		

२४. प्रोभूजिन— क. शुक्ति (Albumin)	स्वाभाविक	कुछ वर्धमानावस्था के व्यक्तियों में, आहार में अत्यधिक प्रोभूजिनद्रव्य-अण्डा-मास आदि का सेवन करने पर, अनभ्यस्त व्यक्तियों को कठिन श्रम के बाद तथा क्वचित् अधिक समय तक खड़े रहने पर अल्पमात्रा में मूत्र मे शुक्ति की उपस्थिति कुछ समय के लिए संभव है। इसके अतिरिक्त शीत लगने, पानी में भींगने, शीत मे प्रवास करने में तथा गर्भिणी स्त्रियों, पाण्डु, अस्थिर रक्तनिपीड तथा दौर्बल्य-युक्त व्यक्तियो मे और स्वप्नदोष के बाद कभी कभी शुक्तिमेह होता है। यह वास्तव मे वैकारिक नही है।
	आगिक या वैकारिक-वृक्क पूर्व (Prer-enal)	हृद्रोग, तीव्र रक्तक्षय, प्रवृद्ध जलोदर, औदरिक अर्बुद, अपस्मार आदि से वृक्कीय रक्तप्रवाह मे बाधा उत्पन्न होने के कारण; रोहिणी, लोहित ज्वर, फुफ्फुस-पाक, आन्त्रिक ज्वर, श्लीपद, पूयमयता, दोषमयता आदि तीव्र औपसर्गिक रोगों से पीडित व्यक्तियों मे उपसर्गजन्य विप से वृक्कों में क्षोभ उत्पन्न होने के कारण; गर्भिणी विषमयता तथा कामला में शारीरिक विप का वृक्कों पर प्रभाव होने के कारण, पारद, सोमल, वंग आदि रासायनिक विषों के प्रभाव से वृक्कों में क्षोभ उत्पन्न होने के कारण शुक्तिमेह होता है।
	वृक्क्य (Renal)	तीव्र, अनुतीव्र, जीर्ण सभी प्रकार के वृक्कशोथ (Nephritis), अपवृक्कता (Nephrosis), वसाकुल (Lardaceous) और मण्डाभ (Amyloid) वृक्क विकार मे तथा राजयक्ष्मा, फिरंग, अन्तःशल्यता (Embolism), घनास्रोत्कर्ष (Thrombosis), कर्कटार्बुद (Cancer) आदि का वृक्कों पर प्रभाव होने पर मूत्र में शुक्ति पर्याप्त मात्रा मे मिलती है।

	वृक्कोत्तर (Post-renal)	वृक्कालिन्दशोथ (Pyelitis, Pyelonephritis), मूत्राशय शोथ (Cystitis), पूयापवृक्कता (Pyonephrosis), मूत्रमार्गशोथ (Urethritis) इत्यादि कारणों से मूत्र मे शुक्लि की अल्पराशि होती है ।
ख. बेन्स-जोन्स प्रोभूजिन (Bence-jones protein)		प्रभूतमज्जार्बुद (Multiple myelomata) के ८०% रोगियों में, अर्बुदों के अस्थिगत समस्थाय (Metastasis in the bones), अस्थिमृदुता (Osteomalacia), श्वेतमयताएँ, हाजकिन का रोग, लसमासार्बुद (Lymphosarcoma) तथा उच्च रक्तनिपीड वाले व्यक्तियों के मूत्र मे यह प्रोभूजिन मिलती है ।
२५. मधु शर्करा	अस्थायी रूप में मूत्र मे शर्करा की उपलब्धि	चिन्ता-भय-क्रोधादि मानसिक विकार, आहार मे शर्कराजातीय द्रव्यों का अधिक प्रयोग, आन्त्रिक ज्वर, लोहित ज्वर, रोमान्तिका, फुफ्फुसपाक, मस्तिष्का-वरण शोथ आदि तीव्र औपसर्गिक ज्वरों से निवृत्ति होने पर, अवटुका, पोषणिका, अधिवृक्क ग्रथियों की कार्यवृद्धि की कुछ अवस्थाओं मे, स्थूल या मेदोरोगग्रस्त व्यक्तियों मे, मस्तिष्काघात, कपालान्तर्य रक्तस्राव तथा प्रवृद्ध निपीड (Intracranial pressure), स्तब्धता (Shock), कपाल भंग तथा मस्तिष्क के अर्बुद, अनभ्यस्त व्यक्तियों मे अधिक शारीरिक श्रम करने के बाद तथा क्वचित् सगर्भा स्त्रियों मे मूत्र मे शर्करा साधारण मात्रा में प्राप्त होती है ।
	स्थायी रूप मे मूत्र मे शर्करा की उपस्थिति	मधुमेह (Diabetes mellitus), वृक्क्य शर्करामेह (Renal glycosurea), मस्तिष्क की प्राण गुहाभूमि (Floor of the 4th ventricle) के अपाय (injury) तथा कभी कभी अवटुका ग्रथि की कार्यवृद्धि के कारण

		उत्पन्न ग्रैव के रोग (Grave's disease) या पोषणिका की कार्य वृद्धि के कारण उत्पन्न शाखाग्रहती (Acromegaly) में भी स्थायी रूप से मधुशर्करा मूत्र में मिलती है।
२६. शुक्ता (Acetone)		मधुमेह, अनशन, अत्यधिक वमन. संघट्टन (Concussion), मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्क सुषुम्नावरण शोथ, निद्रालसी मस्तिष्क शोथ (Encephalitis Lethargica), श्वास-तमकश्वास आदि प्राणवायु की कमी वाले विकार तथा अम्लोत्कर्ष कारक इतर व्याधियाँ।
२७. पित्त		शोणांशिक कामला (Heamolytic Jaundice), यकृज्जन्य तथा अवरोधजन्य कामला, तीव्र यकृच्छोथ, तीव्र पीत यकृतक्षय या शोष तथा रक्तविनाश कारक व्याधियों आदि में मूत्र में पित्त (Choluria) मिला करता है।
२८ मूत्रपित्ति (Urobilin)	मात्रावृद्धि	शोणांशिक रक्तक्षय, शोणांशिक कामला, वैनाशिक रक्तक्षय, विषमज्वर इत्यादि रक्तनाशक विकार, यकृच्छोथ, यकृद्दाल्युदर, हृद्रोगज अधिरक्तता (Congestion) इत्यादि से यकृत् की कार्यक्षमता घटने और आन्तरिक रक्तस्राव, फुफ्फुसपाक तथा लोहितज्वर पीडित व्यक्तियों में।
	अल्पता या अभाव	पूर्ण अवरोधजन्य कामला, तीव्र वृक्कशोथ तथा अनशन।
२९. रक्त	वृक्क पूर्व (Pre-	नीलोहा (Purpura), शोणितप्रियता (Heamophilia), प्रशीताद

	renal)	(Scurvy), श्वेतमयताऐं, प्लेग, मसूरिका, पीतज्वर, विषमज्वर तथा धमनी-जरठता (Arteriosclerosis) ।
	वृक्कज्य (Renal)	सभ। प्रकार के तीव्र वृक्कशोथ, वृक्क के अर्बुद, वृक्काश्मरी, वृक्कयक्ष्मा, वृक्काभिघात (Trauma), वृक्कगत अन्त:शल्यता तथा घनास्रोत्कर्ष (Embolism & Thrombosis) ।
	वृक्कोत्तर (Post-renal)	गवीनी, मूत्राशय. अष्ठीला तथा मूत्रमार्ग के शोथ, अभिघात तथा अश्मरियाँ और कृमि रोग (Bilhargia hematobia) ।
३०. शोणवर्त्तुलि (Haemoglobin)		विषमज्वर, नागविष, लूताविष (Spider-poisons) आदि शोणाशन करने वाले विषों के प्रभाव से, विस्तृत दग्ध, शोणांशिक रक्तक्षय, तथा अत्यधिक शीत से ।
३१ पूय (Pus)		वृक्कालिन्द शोथ (Pyelitis), वृक्कविद्रधि, पूयापवृक्कता (Pyonephrosis) वृक्काश्मरी, वृक्कयक्ष्मा, घातक वृक्कार्बुद, गवीनीगत अश्मरी, मूत्राशयशोथ तथा मूत्राशयगत अश्मरी, मूत्राशय यक्ष्मा, मूत्राशय व्रण तथा अर्बुद, अष्ठीला तथा मूत्रमार्ग के विकार और औपसर्गिक पूयमेह ।
३२. पयोलस (Chyle)		श्लीपद कृमि के द्वारा रसवाहिनियों या रसप्रपा में अवरोध रसवाहिनियों पर गर्भ, औदरिक अर्बुद एव अभिवृद्ध ग्रंथियों आदि का दवाव तथा रसवाहिनियों का शोथ या उनका आघात आदि से विदीर्ण होना ।

पुरीष

पुरीष-परीक्षा विशेषत उदररोगों में और आन्त्रज कृमियों की निश्चिति के लिए होती है।

पुरीष का संचय—पुरीष का उत्सर्ग एक स्वच्छ पात्र में करना चाहिये और उसका मूत्र से संसर्ग भी न होना चाहिये। यथाशीघ्र पुरीष की परीक्षा कर लेना उत्तम है, क्योंकि देर करने से उसमें पूतिभवन के कारण बहुत से परिवर्तन हो जाते हैं, जिससे परिणाम शुद्ध नही निकलता। दूसरे, पुरीष जब तक गरम रहता है तभी तक अमीबा की गति देखी जा सकती है अन्यथा नहीं।

भौतिक परीक्षा

१. **मात्रा**—यह भोजन के ऊपर निर्भर करती है, फिर भी यह मांसाहार से अल्प तथा शाकाहार से अधिक होती है।

२. **आकृति और संघटन**—कठिन पुरीष कोष्ठबद्धता का सूचक है तथा गोल गाँठें जीर्ण कोष्ठबद्धता में मिलती हैं। स्वाभाविक पुरीष मुलायम और बँधा होता है। चावल के धोवन की तरह पतले दस्त विसूचिका में होते हैं। फीते की तरह चपटे दस्त आन्त्रावरोध में होते हैं। वातदोष से पुरीष रूक्ष तथा आमदोष से पिच्छिल होता है।

३. **वर्ण** (Colour)

प्राकृत—

१. पीताभ कपिश (Yellowish brown) यूरोबिलीन (Urobilin) के कारण।

२. हलका पीला (Light yellow)—दुग्धाहार से।

३. हरित—कैलोमल की अधिक मात्रा से।

४. कृष्ण—लौह या बिस्मथ के प्रयोग से।

वैकृत[१]—

१. पीत या स्वर्णाभ (Golden yellow)—पैत्तिक दोष से अपरिवर्तित बिलिरुबिन (Bilirubin) के कारण।

---

१. 'वातान्मले तु दृढता शुष्कता चापि जायते।
पीतता जायते पित्ताच्छुक्लता श्लेष्मणो भवेत्॥

२ हरित—शैशवातिसार ।

३. श्वेत—(White coloured or clay)—कफाधिक्य, कामला, जलोदर में ।

४ धूमिल—वाताधिक्य से ।

५. कृष्ण—वातिक दोष से आन्त्र के ऊर्ध्वभाग मे रक्तस्राव ।

६. कपिश—वातश्लेष्म दोष से ।

७ श्यामपीत—वातपित्त दोष से ।

८. श्वेतपीत—कफपित्त दोष से ।

९. अनेकवर्ण[1]—सन्निपात से ।

४ गन्ध—पुरीष की गन्ध विशिष्ट होती है । आमदोष से पुरीष अत्यन्त दुर्गन्धित होता है ।[2]

प्राकृत—दुर्गन्धित—(मांसाहार से अधिक)

वैकृत—

अम्ल—शैशवातिसार ।

अत्यधिक पूतिगन्ध—घातक अर्बुद, मलाशय का उपदंश व्रण, कोथसहित अतिसार ।[3]

सन्निपाते च सर्वाणि लक्षणानि भवन्ति हि ।
त्रुटित फेनिलं रूक्ष धूमिल वातकोपतः ॥
वातश्लेष्मविकारे च जायते कपिशं मलम् ।
वद्ध सुत्रुटितं पीतश्याम पित्तानिलाद् भवेत् ॥
पीतश्वेतं श्लेष्मपित्तादीपत् सान्द्र च पिच्छिलम् ।
श्यामं त्रुटितपीताभं वद्धश्वेतं त्रिदोषतः ॥
गुटियुक्तं च कपिल यदि वर्चोऽवलोक्यते ।
प्रक्षीणमलदोषेण दूषितः परिकथ्यते ॥
सित महत्पूतिगन्धि मल ज्ञेयं जलोदरे ।
श्यामं क्षये त्वामवति पीत सकटिवेदनम् ॥' (यो. र)

१ 'पक्वजाम्बवसकाशं यकृत्खण्डनिभ तनु । घृततैलवसामज्जवेशवारपयोदधि ॥
मांसधावनतोयाभं कृष्ण नीलारुणप्रभम् । मेचक स्निग्धकर्बूर चन्द्रकोपगतं घनम् ॥' (मा नि)

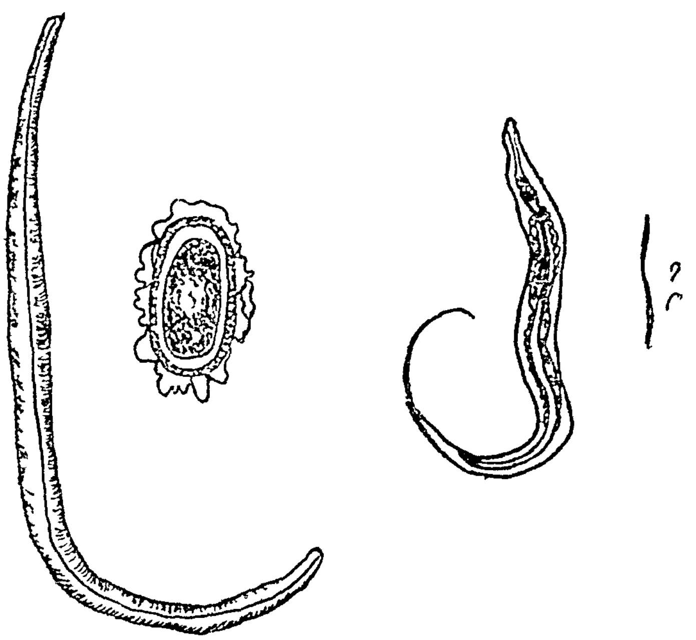
२. 'संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥' (सु. उ ४०)

३. 'कुणपं मस्तुलुंगाभम् ।' (मा नि)

५. श्लेष्मा—यह थोड़ी मात्रा में प्राकृत पुरीष में भी उपस्थित रहता है, पर क्षोभ या शोथ के कारण इसकी मात्रा बढ जाती है। जब यह पुरीष के साथ एकदम मिला हो तो क्षुद्रान्त्र की विकृति का सूचक है। जब इसका अधिक अंश मल के साथ नही मिला हो तो बृहदन्त्र का शोथ समझना चाहिये। प्रवाहिका में केवल श्लेष्मा कुछ रक्त के साथ निकलता है। श्लेष्मल बृहदन्त्रशोथ और कलीय अन्त्र शोथ में श्लेष्मा के निर्मोक मिलते है।

६ अश्मरी (Stones)—शूल रोग में पित्ताश्मरी के लिए पुरीष की परीक्षा करनी चाहिये।

७ कृमि (Animal parasites)—



चित्र २९

गण्डूपद कृमि (Round worm) शंकुकृमि[1] (Hook worm)

---

१. पृथुब्रध्ननिभाः केचित्केचिद्गण्डूपदोपमाः।
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाणवः ॥
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च। (मा नि)

८ जलसन्तरण-परीक्षा—पुरीष को जल मे डालकर देखना चाहिए। यदि तैरता रहे तो पक्व और यदि डूब जाय तो अपक्व पुरीष समझें।[1]

रासायनिक परीक्षा

१. **प्रतिक्रिया**—स्वभावत: यह थोड़ा अम्ल या थोड़ा क्षारीय होता है।

२. **रक्त**—पुरीष मे रक्त की उपस्थिति का सन्देह होने पर मूत्र के प्रसग मे वर्णित रक्त की परीक्षा करनी चाहिये। सक्षेप में, उसकी विधि नीचे दी जा रही है।

एक नलिका में थोड़ा पुरीष लो और उसमे जल मिलाओ। दूसरी नलिका मे सान्द्र सिरकाम्ल (Glacial acetic acid) में बनाया हुआ बेंज़ोडिन का सन्तृप्त विलयन लो और उसमे उसी के बराबर हाइड्रोजन पेरोक्साइड डालो। इस द्रव को पहली नलिका मे उडेलो। रक्त की उपस्थिति मे नीला रंग उत्पन्न हो जायगा।

अणुवीक्षण परीक्षा

इसके लिए पुरीष का बहुत पतला पृष्ठ बनाना चाहिये। इससे अमीबा, उसके सिस्ट, अपक्व आहार, इपीथिलियल सेल, प्रयकोष्ठ, रक्तकण और जीवाणुओं की निश्चिति होती है।

वान्त (Vomit)

वमन के द्वारा आमाशय से निकले हुये पदार्थों की परीक्षा तीन प्रकार से होती है—१. भौतिक, २. रासायनिक और अणुवीक्षण।

भौतिक परीक्षा

१ **मात्रा**—प्राय वान्त पदार्थ की मात्रा भुक्त पदार्थ के अनुरूप होती है किन्तु आमाशय-विस्तृति मे यह मात्रा अधिक हो जाती है।

---

१. 'मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्वा तूत्प्लवते जले।
विनातिद्रवसघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥' (च चि १५)
'एतान्येव तु लिगानि विपरीतानि यस्य वै।
लाघव च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥' (सु उ ४०)

२. **वर्ण**—पीतहरित वर्ण पित्त के कारण तथा लालिमा रक्त के कारण होती है।

३. **गन्ध**—बद्धगुदोदर में वान्त द्रव्य में पुरीष की गन्ध आती है। मद्य आदि विषों में भी उन द्रव्यों की गन्ध रहती है।

४. **संघटन**—आमाशयशोथ आदि मे श्लेष्मा मिले रहने के कारण वमन गाढा होता है।

५. **घटक**—वान्त पदार्थों में आहार-द्रव्य, पित्त, पुरीष, रक्त एवं विष पदार्थों की परीक्षा करनी चाहिये।

आहारद्रव्य अजीर्ण या विष में मिलते है। यकृच्छोथ, ग्रहणीशोथ, तीव्रज्वर आदि मे पित्त बढ़ कर वमन के साथ निकलता है। बद्धगुदोदर मे पुरीष वमन से आता है। आमाशयव्रण, कैन्सर आदि मे रक्तवमन होता है।

रासायनिक परीक्षा

१. **प्रतिक्रिया**—लवणाम्ल आदि अम्लो के कारण प्रतिक्रिया आम्लिक तथा पित्त के कारण क्षारीय होती है।

२. **घटकों की परीक्षा**—वान्त पदार्थ को कपड़े मे छान कर उसकी परीक्षा पित्त, रक्त एव विषो के लिए करनी चाहिये।

अणुवीक्षण परीक्षा

इससे वान्त द्रव्य में भुक्तांश, श्लैष्मिक कोषाणु, रक्तकण आदि का निर्णय किया जाता है।

पंचम अध्याय

विकृति-परीक्षा

(Pathological study)

मूलत: दोष-वैषम्य विकार है किन्तु दोष विषम होने पर अपने संपर्क में आनेवाले धातुओं और मलों को भी दूषित करते हैं अत सामान्यत दोष और दूष्य (धातु-मल) के संयोग मे विकार का प्रादुर्भाव माना जाता है। ये विषम दोष शरीर के किसी विशिष्ट अङ्ग-प्रत्यग में अधिष्ठित होकर रोग उत्पन्न करते है, अत 'अधिष्ठान' या 'सस्थान-सश्रय' का भी विचार किया जाता है। इस प्रकार विकृति-परीक्षा में दोष, धातु, मल और अधिष्ठान इन चार भावों का विवेचन किया जाता है जिससे विकृति के मौलिक स्वरूप का परिज्ञान होता है। प्रश्न-परीक्षा से निदान, पूर्वरूप, उपशय का, पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा से रूप का तथा विकृति-परीक्षा से सम्प्राप्ति का बोध होता है।

दोष

विकार की उत्पत्ति मे 'दोष' सज्ञा सार्थक होती है। वात, पित्त और कफ ये तीन दोष विकृत होकर विभिन्न रोगों को उत्पन्न करते है। कुछ रोग सामान्यज होते है जो सामान्यतः तीनों दोषों से उत्पन्न होते है यथा उदर रोग, हृद्रोग आदि। इसके अतिरिक्त, कुछ रोग नानात्मज होते है जो एक विशिष्ट दोष से उत्पन्न होते है यथा वात से वातव्याधि, पित्त से दाह तथा कफ से अरुचि। सामान्यज रोगों में भी कोई दोष प्रधान और कोई अप्रधान होता है। इसी प्रकार नानात्मज रोगों में भी एक विशिष्ट रोग प्रधान होने पर भी अन्य दोष अनुबन्ध रूप में रहते है।

दोषों के सम्बन्ध में निम्नांकित विचार[1] विकार-विनिश्चय में सहायक होते हैं—

---

१. 'दोषस्य च प्राकृतवैकृताभ्यां भेदोऽनुबन्ध्यादपि चानुबन्धात्।
तथा प्रकृत्यप्रकृतिस्वयोगात्तथाशयाकर्षवशाद् गतेश्च ॥' (मधु)

१. **प्राकृत-वैकृत**—अपने काल में प्रकुपित दोष प्राकृत और अन्य ऋतुओं में प्रकुपित दोष वैकृत कहलाता है यथा वसन्त में कफ प्राकृत तथा वात और पित्त वैकृत है। प्राकृत-वैकृत दोषों का विचार रोगो की साध्यसाध्यता के ज्ञान में सहायक होता है। प्राकृत दोषों से उत्पन्न विकार सुखसाध्य और वैकृत दोषों से उत्पन्न विकार कष्टसाध्य होते है।[1] वायु महात्यय होने के कारण प्राकृत होने पर भी कष्टसाध्य होता है।

२. **अनुबन्ध्य-अनुबन्ध**—रोगों की उत्पत्ति में तीनों दोष विषम होकर कारणभूत होते हैं[2] यह पहले लिखा गया है। इन दोषों मे कोई प्रधान और बाकी अप्रधान होते है। प्रधान दोष को अनुबन्ध्य और अप्रधान दोषको अनुबन्ध कहते हैं। अनुबन्ध्य दोष विकारका नेतृत्व करता है और अनुबन्ध दोष अनुगामी होकर उसका सहायक होता है।

दोषों के अनुबन्ध्यानुबन्धत्व का निर्णय निम्नाकित लक्षणों से होता है—

१. **स्वतन्त्रता**—अनुबन्ध्य दोष स्वतन्त्र होता है और अनुबन्ध दोष परतन्त्र। अपने हेतुओं से नियन्त्रित अनुबन्ध्य दोष अन्य दोषों पर निर्भर नही होकर स्वतन्त्र रूप से शरीर मे गति करता है। इसके विपरीत, अनुबन्ध दोष अनुबन्ध्य दोष से सबद्ध होकर उसके अनुसार चलता है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही होती।

२. **व्यक्तलिंगता**—अनुबन्ध्य दोष के लक्षण व्यक्त होते हैं और अनुबन्ध दोष के अव्यक्त।

३. **यथोक्तसमुत्थानोपशमत्व**—शास्त्र में जो निदान और उपशम बतलाया गया है वही निदान और उपशम जिस दोष का मिलता हो वह अनुबन्ध्य और इसके विपरीत अनुबन्ध होता है। अनुबन्ध दोष का प्रकोप और प्रशम अनुबन्ध्य दोष के साथ साथ होता है।

यथा अधोग रक्तपित्त मे पित्त दोष अनुबन्ध्य और वात अनुबन्ध होता है

---

१. 'प्राकृत. सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।' (च. चि ३)
२. 'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।' (मा)

क्योंकि पित्त स्वतन्त्र, व्यक्तलिंग तथा यथोक्तसमुत्थानोपशम है। इसके विपरीत वात पित्त के अधीन परतन्त्र, अव्यक्तलिंग और अयथोक्तसमुत्थानोपशम है।[1]

अनुबन्ध्यानुबन्ध का विचार विशेष कर चिकित्सा में सहायक होता है। संसर्गज रोगों में अनुबन्ध्य दोष की चिकित्सा मुख्यतः करनी पड़ती है और उसमें इस बात का ख्याल रखना पड़ता है कि अनुबन्ध का विरोध भी न हो। प्रधान दोष की शान्ति से ही अप्रधान दोष की शान्ति होती है। यथा अधोग रक्तपित्त में ऐसी चिकित्सा करनी पड़ती है जिससे पित्त की मुख्यतः शान्ति हो और वात का विरोध भी न हो।[2]

३. **प्रकृति-विकृति**—जो दोष पुरुष में गर्भावस्था से ही प्रधान होता है उसे प्रकृति और शेष विकृति कहलाते हैं। प्रकृतिजन्य विकार कष्टसाध्य तथा विकृतिजन्य विकार सुखसाध्य होते हैं। यथा वातप्रकृति के पुरुषों को जब वात-व्याधि होगी तो वह कष्टसाध्य होगी और वही कफप्रकृति के पुरुषों में सुखसाध्य होगी।[3]

४. **साम-निराम**—आम (अपक्व रस) से संयुक्त दोष साम और उससे रहित निराम कहलाते हैं।[4] साम-निराम का विचार चिकित्सा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है अतः पृथक् दोषों का वर्णन साम-निराम की दृष्टि से किया जाता है।[5]

१. 'स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः।' (च चि. ६)

२. अस्य प्रयोजनं संसर्गजे व्याधावनुबन्ध्यो विशेषेण चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेन। तदुक्तं चरके–तत्रोपद्रवस्य प्रायः प्रधानप्रशमात् प्रशमः इति। (च चि. २१) उपद्रवोऽनुबन्धः।' (मधु.)

३. 'नच तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्।' (च सू १०)

४. 'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥
आमेन तेन संयुक्ता दोषाः दूष्याश्च दूषिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥ (वा सू १३)

५. वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनः।
वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत्॥
विचरेद् युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम्।
स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि॥

वात		पित्त		कफ	
साम	निराम	साम	निराम	साम	निराम
विबन्ध	निर्विबन्ध	दुर्गन्ध	विगन्ध	आविल	फेनिल
अग्निमाद्य		हरितश्याव	आताम्र, पीत	तन्तुल	पिण्डित
तन्द्रा		अम्ल	कटु	स्त्यान	पाण्डु
अन्त्रकूजन		स्थिर	अत्युष्ण	कण्ठदेशलग्न	निःसार, छेदवान्
वेदना	अल्पवेदन	गुरु	अस्थिर	दुर्गन्ध	निर्गन्ध
शोथ	विशद	अम्लिका	रोचन	क्षुद्विघात	मुखशोधक
निस्तोद	रूक्ष	कण्ठहृद्दाह	पाचन	उद्गारविघात	
स्नेह से तथा	स्नेह से		बल्य		
प्रातःकाल, एव मेघ	शान्ति				
काल रात्रि मे वृद्धि					

सामान्यत सामदोषों के कारण स्रोतोरोध, दुर्बलता, गौरव, उदावर्त्त, आलस्य, अपचन, लासाप्रसेक, मलभेद, अरुचि, क्लम ये लक्षण होते है। इसके विपरीत, निराम दोषों मे मलोत्सर्ग, वल, लघुता, अनुलोमन, स्फूर्ति, दीपन, मुखशुद्धि, पुरीपबन्ध, रुचिवृद्धि, उत्साह ये लक्षण होते है।[1]

चिकित्सा में इसका महत्व यह है कि साम दोपो मे प्रथम आमदोष के पाचन

निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः।
विपरीतगुणैः शान्ति स्निग्धैर्याति विशेषतः॥
दुर्गन्धं हरित श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु।
अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकर साम विनिर्दिशेत्॥
आताम्र पीतमत्युष्णं रसे कटुकमास्थिरम्।
पक्व विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम्॥
आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते।
सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविघातकृत्॥
फेनवान् पीण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च।
पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत्॥' (मधु)

१. 'स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः। आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलभेदारुचिक्लमाः॥
लिंगं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः।' (वा. सू. १३)

की व्यवस्था करते है तदनन्तर दोष के शमन का उपाय करते है और दोष निराम रहने पर केवल शमन देते है ।[1]

५ **गति**—दोषो की गति का विचार तीन दृष्टियो से किया जाता है ।[2]

(क) **परिमाण के अनुसार**—परिमाण के अनुसार दोषों की गति तीन प्रकार की होती है—१. क्षय २. स्थान और ३. वृद्धि। यद्यपि शरीर मे दोषों का निश्चित प्रमाण नही है तथापि यहाँ पर 'परिमाण' शब्द से 'प्राकृत स्थिति' का तात्पर्य है ।

१ **क्षय**—निम्नांकित लक्षणो से दोषों के क्षय का परिज्ञान होता है[3]—

दोषक्षय लक्षण

वातक्षय	पित्तक्षय	कफक्षय
१ मन्दचेष्टता	१ मन्दोष्मता	१. रूक्षता
२. अल्पवाक्त्व	२. मन्दाग्नित्व	२. अन्तर्दाह
३ अप्रहर्ष	३ निष्प्रभत्व	३ आमाशयेतराशयशिरसा शून्यता ।
४ मूढसज्ञता		४ सन्धिशैथिल्य
		५ तृष्णा
		६ दौर्बल्य
		७. प्रजागर

सिद्धान्त यह है कि जब दोषो के प्राकृत गुणों और कर्मो मे कमी दिखलाई पडे तब उनका क्षय समझना चाहिये ।[4]

२ **स्थान**—दोष समस्थिति रहने पर शरीर मे अपने प्राकृत गुणो और कर्मों को व्यक्त करते हुए शरीर की क्रियाओ का संचालन प्राकृत रूप से करते है । अत जब दोषों के प्राकृत गुणकर्म शरीर मे दृष्टिगोचर हों तब उनकी साम्यावस्था

१ 'अस्य प्रयोजन सामे पाचनं, निरामे शमनम् ।' (मधु)

२. 'क्षय' स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ।
ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च विज्ञेया त्रिविधा परा ॥
त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु ।' (च. सू. १७)

३ 'तत्र वातक्षये मन्दचेष्टता अल्पवाक्त्व अप्रहर्षो मूढसंज्ञता च । पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभत्वञ्च । श्लेष्मक्षये रूक्षता अन्तर्दाह आमाशयेतराशयशिरसां शून्यता सधिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणम् च ।' (सु. सू. १५)

४. 'क्षीणा जहति स्वं लिगम् ।' (च सू १७)

समझनी चाहिये। निम्नांकित तालिका में दोषों के प्राकृत गुणकर्म दिये गये हैं—

वात		पित्त		कफ	
प्राकृत गुण	प्राकृत कर्म	प्राकृत गुण	प्राकृत कर्म	प्राकृत गुण	प्राकृत कर्म
१ रुक्ष	१ उत्साह	१. स्निग्ध	१ दर्शन	१ गुरु	१. स्नेहन
२. शीत	२. श्वास-प्रश्वास	२. उष्ण	२. पाचन	२. मन्द	२. बन्धन
३ लघु	३. चेष्टा	३ तीक्ष्ण	३. ऊष्मा	३ शीत	३. स्थिरता
४ सूक्ष्म	४. धातुगति	४ द्रव	४ क्षुत्	४. स्निग्ध	४. गौरव
५ चल	५. मलोत्सर्ग	५ कटु (अविदग्ध) अम्ल (विदग्ध)	५. तृष्णा	५. मधुर (अविदग्ध) लवण (विदग्ध)	५ वृषता
६ विशद	६. वुद्धि कर्म	६. सर	६ देहमार्दव	६ स्थिर	६. बल
७ खर		७ पूति	७. प्रभा	७ पिच्छिल	७. क्षमा
		८ नील-पीत	८ प्रसाद	८ श्वेत	८ धृति
			९ मेधा	९ मृदु	९. अलोभ

२. **वृद्धि**—दोषों की वृद्धि होने पर उनके प्राकृत गुणकर्मों की अधिकता हो जाती है यथा वायु की वृद्धि होने पर उसके रुक्ष-शीत आदि गुण और चेष्टा आदि कर्म बढ जाते हैं।[1] विशेषत निम्नाकित लक्षण प्रकट होते है—

दोष-वृद्धि-लक्षण

वातवृद्धि	पित्तवृद्धि	कफवृद्धि
१ त्वक्पारुष्य	१ पीतावभासता	१. शुक्लता
२ कृशता	२ सन्ताप	२. शैत्य
३ कृष्णता	३ शीतकामित्व	३. स्थैर्य
४ गात्रस्फुरण	४. अल्पनिद्रता	४. गौरव
५ उष्णकामिता	५ मूर्च्छा	५ अवसाद
६ निद्रानाश	६ बलहानि	६ तन्द्रा
७ अल्पबलत्व	७ इन्द्रियदौर्बल्य	७ निद्रा
८ गाढवर्चस्त्व	८ पीतविण्मूत्रनेत्रता	८ सन्धि-अस्थि-विश्लेष

१ 'दोषाः प्रवृद्धाः स्व लिंग दर्शयन्ति यथाबलम् ।' (च. सू १७)

दोषो की परिमाणात्मक गति के ज्ञान का प्रयोजन यह है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा का लक्ष्य दोष-साम्यस्थापन है, अत क्षीण दोषों को वढ़ाना और वृद्ध दोषों को घटाना यह कार्य तव तक नहीं होगा जवतक कि उनके क्षय-वृद्धि के लक्षणों का ज्ञान न होगा।

(ख) **दिशा के अनुसार**—दोषों की प्रसर की दिशा के अनुसार उनकी गति तीन प्रकार की वतलाई गई है—१. ऊर्ध्व २ अध और ३. तिर्यक्। ऊर्ध्वगति कफानुवन्ध, अधोगति वातानुवन्ध तथा तिर्यक् गति पित्तानुवन्ध के कारण होती है। दिशात्मक गति का ज्ञान चिकित्सा में उपयोगी है यथा रक्तपित्त मे यह निर्दिष्ट है कि प्रतिकूल मार्ग से दोषों का निर्हरण करना चाहिये[1] अर्थात् यदि ऊर्ध्वग रक्तपित्त हो तो विरेचन द्वारा और यदि अधोग हो तो वमन द्वारा दोपो को वाहर निकालना चाहिए। यदि गति का विचार न किया जाय तो सामान्य नियम के अनुसार अधोग रक्तपित्त में पित्तहरण के लिए विरेचन की व्यवस्था होगी और उससे अधिक विकार वढेगा। अत इन गतियों का विचार परमावश्यक है।

(ग) **अधिष्ठान के अनुसार**—दोषों की गति किस अधिष्ठान में होती है इस दृष्टि से गति के तीन प्रकार है—१ कोष्ठ २ शाखा और ३ मर्मास्थि-सन्धि।[2] अधिष्ठान का विचार चिकित्सा में उपयोगी है अत इन गतियो का ज्ञान आवश्यक है यथा आमाशयगत वात मे रुक्ष स्वेदन और पक्वाशयगत कफ में स्निग्ध स्वेदन का आदेश किया गया है।[3] यहाँ पर यद्यपि रुक्ष वातवर्धक है तथापि आमाशय में कफ और आम की वहुलता से अधिष्ठानगत विशेषता के कारण रुक्ष स्वेदन का विधान लाभकर होता है।

रोगों की उत्पत्ति एव निदान में भी अधिष्ठान की विशेषता सहायक होती है यथा दोष रसस्थ होने पर सन्तत, रक्तस्थ होने पर सतत ज्वर होता है।[4] इसी

१. 'प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते।' (च वि ८)

२ 'त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु।' (च सू १७)

३ 'आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते। रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च॥' (च सू १४)

४ 'सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः।' (सु उ ३९)

प्रकार शल्यतन्त्र में यह बतलाया गया है कि स्नायु और मर्म में स्थित व्रणों में अग्निकर्म नही करना चाहिये।[1]

६. **दोषविकृति की अवस्थायें**—विकृत दोष की छ अवस्थायें होती हैं। दोष सम्प्रति किस अवस्था मे है इसका विचार कर ही के चिकित्सा की जाती है। अत इन छः अवस्थाओं का ज्ञान वैद्य के लिए परमावश्यक है—ये छ अवस्थाये हैं—(१) संचय (२) प्रकोप (३) प्रसर (४) स्थानसंश्रय (५) व्यक्ति और (६) भेद।[2]

१. **संचय**—अपने स्थान मे दोषों की वृद्धि को 'संचय' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जब दोषों की इतनी अल्प और प्रारम्भिक वृद्धि हो कि वह अपनी मर्यादा के भीतर ही रहे, उसका अतिक्रमण न कर सकें, तब उसे संचय कहते है। यथा कफ बढ़ कर यदि हृदय के ऊर्ध्वभाग मे रहे, पित्त बढ कर हृदय और नाभि के बीच मे रहे तथा वात बढकर नाभि के अधोभाग[3] में रहे तब उसे संचय कहते है। निम्नांकित लक्षणों से दोषो के संचय का ज्ञान होता है—

दोषसंचय-लक्षण[4]

वातसंचय	पित्तसंचय	कफसंचय
१ स्तब्धपूर्णकोष्ठता	१ पीतावभासता	१. मन्दोष्मता
२. चयकारणविद्वेष	२. चयकारणविद्वेष	२. अंगगौरव
		३. आलस्य
		४. चयकारणविद्वेष

२. **प्रकोप**—प्रकोप दो प्रकार का होता है—(१) संचय प्रकोप और (२) अचय प्रकोप। संचय के बाद क्रमश जो प्रकोप होता है वह संचय प्रकोप और बिना संचय के सहसा जो प्रकोप होता है वह अचय प्रकोप होता है। स्पष्ट

१. 'नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च।'

२. 'संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्॥ (सु.)

३. 'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभेरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।' (वा सू १)

४. 'तत्र सञ्चितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता च अंगानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिंगानि भवन्ति।' (सु सू. २१)

है कि सचय प्रकोप दुर्वल कारणों से क्रमश तथा अचय प्रकोप तीव्र कारणो से आकस्मिक होता है।

संचित दोष अधिक उग्रता के कारण जब अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करने लगते हैं और अपने स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान को जाने लगते है तब यह उनका प्रकोप कहलाता है। दोषों के प्रकोप के निम्नांकित लक्षण है—

दोष-प्रकोप-लक्षण[1]

वातप्रकोप	पित्तप्रकोप	कफप्रकोप
१. कोष्ठतोद	१. अम्लिका	१. अन्नद्वेष
२. कोष्ठसंचरण	२. पिपासा	२. हृदयोत्क्लेद
	३. परिदाह	

३. **प्रसर**—प्रकुपित दोष वायु की प्रेरणा से समस्त शरीर में सिराओं के द्वारा ऊर्ध्व, अध' और तिर्यक् दिशाओं में फैलने लगते है। यही 'प्रसर' कहलाता है।

दोष-प्रसर-लक्षण[2]

वात-प्रसर	पित्त-प्रसर	कफ-प्रसर
१. विमार्गगमन	१ ओष	१. अरोचक
२. आटोप	२. चोष	२. अविपाक
	३ परिदाह	३. अगसाद
	४. धूमायन	४. छर्दि

४. **स्थानसंश्रय**—प्रसृत दोष स्रोतों में अवरोध के कारण किसी अग-विशेष में स्थिर हो जाते है। इसे 'स्थान-सश्रय' कहते है। जहाँ दोषों का स्थान-संश्रय होता है वही विकार उत्पन्न होता है[3] यथा वात दोष यदि शिर मे स्थित

---

१. 'तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लिकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते।' (सु सू. २१)

२ एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकांगसादच्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिंगानि भवन्ति।' (सु सू २१)

३ 'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते॥'

हुआ तो शिरःशूल और यदि उदर में स्थित हुआ तो उदरशूल होगा। स्थान-संश्रय की अवस्था में दोष के अल्प होने के कारण उसके लक्षण पूर्णतः व्यक्त नहीं होते, किञ्चित् व्यक्त होते हैं जिन्हें पूर्वरूप कहते हैं।[1]

५. **व्यक्ति**—इस अवस्था में दोष प्रबल हो जाने के कारण विकार के लक्षण पूर्णतः व्यक्त हो जाते हैं। अतः यह अवस्था 'व्यक्ति' कहलाती है। इसमें रोगों के रूप उत्पन्न होते हैं।[2]

६. **भेद**—उस स्थान में जब दोष अधिक दिनों तक स्थायी हो जाता है तब उसे 'भेद' कहते हैं।[3] इस अवस्था में रोग जीर्ण हो जाता है। विद्रधि इस अवस्था में भिन्न (विदीर्ण) हो जाती है।

७. **दोषभेद-विकल्प**—त्रिदोष समस्त शरीर में भ्रमणशील होने के कारण जब कोई दोष प्रकुपित होता है तो वह अन्य दोषों को भी प्रभावित करता है। विशेषतः जब इस प्रकार का बाह्य कारण भी उपस्थित हो तब इसमें और सहायता मिलती है। यथा वात प्रकोप होने पर वायु की वृद्धि तो होती ही है। साथ ही कफ का भी आपेक्षिक ह्रास होता है, पित्त पर भी कुछ प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, जब दो दोषों के प्रकोपक कारण उपस्थित हों तब दोनों दोष प्रकुपित होकर परस्पर संयुक्त होकर तद्रूप विकार उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार दो प्रकुपित दोषों के संयोग को 'संसर्ग' कहते हैं और उससे उत्पन्न विकार 'संसर्गज' या 'द्वन्द्वज' कहलाता है। इसी प्रकार जब तीनों दोषों के प्रकोपक कारण वर्तमान हों तब संयोग 'सन्निपात' कहलाता है और उनसे उत्पन्न विकार 'सान्निपातिक' या 'त्रिदोषज' कहलाते हैं।

दोषों का पारस्परिक संयोग दो प्रकार का होता है—(१) प्रकृति-सम-समवाय और (२) विकृति-विषम-समवाय। प्रथम संयोग में कारण के अनुकूल कार्य होता है और संयुक्त दोषों के अनुकूल मिश्रित लक्षण विकार में उत्पन्न होते हैं। दूसरे प्रकार का संयोग वह है जिसमें संयुक्त दोषों के कारण कुछ नितान्त नवीन

---

१. 'स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिंगं पूर्वरूपं तदुच्यते॥'

२. 'व्यक्तिः ''व्याधिदर्शन''प्रव्यक्तलक्षणता।' (सु. सू. २१)

३. 'भेदः ज्वरातीसारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः।' (सु. सू. २१)

लक्षण विकार में प्रकट होते है। यथा वातपैत्तिकज्वर में अरुचि और रोमहर्ष, वातश्लैष्मिक ज्वर में स्वेद और संताप, कफपित्तज्वर में अनवस्थित शीतदाह इत्यादि। इनमे वातपित्तज्वर मे अरुचि और रोमहर्ष न वात के लक्षण है और न पित्त के किन्तु इनके संयोगवैचित्र्य से ये विभिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं यथा हल्दी और चूने के सयोग से लाली उत्पन्न होती है।[1]

इस सबध में एक शका चिरकाल से चली आती है कि जब ये तीनों दोष परस्पर विरुद्धगुण हैं तब तीनों का एककालिक प्रकोप कैसे सभव है और फिर इस प्रकार तीनों प्रकुपित दोषों के मिलने से त्रिदोषज विकार की उत्पत्ति कैसे होती है? इसका समाधान यह है कि सहजसात्म्य होने के कारण ये परस्पर मिलकर कार्य करते हैं इसमें कोई विरोध नही होता। तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक नियम के अनुसार जिस प्रकार प्राकृतिक क्रियाओं के संचालन में ये तीनों दोष सत्व-रज-तम इस त्रिगुण के समान परस्पर-विरोधी होते हुये भी सहयोग से कार्य करते हैं उसी प्रकार विकारोत्पत्ति में भी कभी कभी इनका सहयोगात्मक साहचर्य देखा जाता है और तभी सान्निपातिक रोग उत्पन्न होते है।[2]

धातुमलों के सयोग की विशेषता से असंख्य होते हुए भी संक्षेपत अशाश कल्पना से दोष के ६३ विकल्प होते हैं।[3] इस विकल्प का ज्ञान चिकित्सा की सफलता के लिए आवश्यक है। दोषविकल्प के अनुसार ही रसविकल्प भी ६३

---

१. 'प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवाययोश्चायमर्थः-प्रकृत्या हेतुभूतया समः-कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसबन्धः प्रकृतिसमसमवायः; कारणानुरूप कार्यमित्यर्थः, यथा शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य पटस्य शुक्लत्वम्। विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः; यथा हरिद्राचूर्णसंयोगे लौहित्यमिति।' (मधुकोष)

२ 'विरुद्धैरपि न त्वेतैः गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहजसात्म्यत्वात् विषं घोरमहीनिव॥' (च. चि. २६)
'दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके।
विरुद्धैश्च गुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम्॥' (गयदास)

३. दोषभेद-विकल्प के लिए सुश्रुतसहिता उत्तरतन्त्र ६६ अध्याय तथा चरक-संहिता सूत्रस्थान १७ अध्याय का अवलोकन करना चाहिए।

होते हैं और विकृत दोष जिस प्रकार का होता है उसी प्रकार के रस का (रस-युक्त द्रव्य का) प्रयोग औषध में किया जाता है।[1]

दोषों का आवरण

तीनों दोषों में वातदोष का स्वभाव ऐसा है कि वह शरीर में निरन्तर अव्याहत रूप से गमन करता रहता है और कफपित्त दोष, धातु, मल एवं विषयों को अपने स्थान पर ले जाता है। इसकी यह स्वाभाविक गति जब तक होती रहती है तब तक इसका कार्य भी ठीक होता रहता है किन्तु इसमें तनिक भी व्याघात होने से उसका प्रकोप हो जाता है। वायु के प्राकृत संचरण में व्याघात की स्थिति को आवरण कहते हैं और इस स्थिति में वायु को 'आवृत' कहते हैं। आवरण वायु के प्रकोप का एक विशिष्ट कारण माना गया है।[2] यह आवरण वायु के अतिरिक्त अन्य दोषों, धातुओं और मलों के कारण होता है या वायु के पाँच प्रकारों (प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान) की ही परस्पर प्रतिरोधात्मक स्थिति के कारण होता है। प्रथम प्रकार का आवरण 'अन्यावरण' तथा दूसरे प्रकार का आवरण 'अन्योन्यावरण' कहलाता है।

अन्यावरण

वात का अन्य द्रव्यों से आवरण २२ प्रकार का होता है—

१ पित्तावृत वात	८ शुक्रावृत वात	१५ पित्तावृत समान
२ कफावृत वात	९ अन्नावृत वात	१६ " व्यान
३ रक्तावृत वात	१० मूत्रावृत वात	१७ " अपान
४ मांसावृत वात	११ पुरीषावृत वात	१८ कफावृत प्राण
५ मेदसावृत वात	१२ सर्वधात्वावृत वात	१९ " उदान
६ अस्थ्यावृत वात	१३ पित्तावृत प्राण	२० " समान
७ मज्जावृत वात	१४ पित्तावृत उदान	२१ " व्यान
		२२ " अपान

---

१. 'मिश्रा धातुमलैर्दोषा यान्त्यसंख्येयतां पुनः।
तस्मात् प्रसंग संयम्य दोषभेदविकल्पनैः॥
रोगं विदित्वोपचरेद्रसभेदैः यथेरितैः ।' (सु. उ ६६)

२. 'वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च।' (च. चि. २८)

अन्योन्यावरण

वात के पाँच प्रकारों का परस्पर आवरण बीस प्रकार का होता है, यथा —

१ प्राणावृत उदान	८ उदानावृत अपान	१५ व्यानावृत समान
२ " समान	९ समानावृत प्राण	१६ " अपान
३ " व्यान	१० " उदान	१७ अपानावृत प्राण
४ " अपान	११ " व्यान	१८ " उदान
५ उदानावृत प्राण	१२ " अपान	१९ " समान
६ " समान	१३ व्यानावृत प्राण	२० " व्यान
७ " व्यान	१४ " उदान	

इस प्रकार दोनों मिलाकर कुल आवरण ४२ प्रकार का होता है।[1] इनके लक्षण आकर ग्रन्थों में देखने चाहिए।

दोषों के आवरण का ज्ञान भी चिकित्सा की दृष्टिसे परमावश्यक है। आवरण के कारण जो वातप्रकोप होता है वह आवरण के दूर होने पर ही शान्त होता है अन्यथा नहीं, अत ऐसी स्थिति मे आवरण-दोष की ही शान्ति का उपाय किया जाता है।

दोषों से उत्पन्न होने वाले विकार

विकार दो प्रकार के होते है—(१) सामान्यज और (२) नानात्मज।[2] सामान्यज विकार तो किसी दोष से उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु नानात्मज (न + अनात्मज = दूसरे से नहीं उत्पन्न होने वाले) विकार में किसी एक दोष की कारणता नियत रूप से होती है, अन्य दोष भले ही बाद मे अनुबन्ध रूप मे हो जॉय। अत इस प्रकरण मे नानात्मज विकारों का ही उल्लेख किया जायगा जिसमे उन-उन विकारों मे दोषविकृति का ठीक ठीक पता चले।

वातजन्य विकार

स्रस, भ्रस, व्यास, भेद, साद, हर्ष, वर्त, कम्प, अवमर्द, चाल, तोद, व्यथा,

---

१. 'इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं विदुः।
प्राणादयस्तथाऽन्योन्यमावृण्वन्ति यथाक्रमम्॥
सर्वेऽपि विंशतिविधं विद्यादावरणं च तत्।' (आ० द०)

२. 'तत्र विकाराः सामान्यजा नानात्मजाश्च।' (च. सू. २०)

चेष्टा, खर, परुष, विशद, सुषिर, अरुण, कषाय, विरसमुखत्व, शोष, शूल, सुप्ति, संकोचन, स्तंभन, खञ्जता आदि लक्षण मुख्यत' वातजन्य हैं और वात-विकारों में मिलते हैं।[1] इन लक्षणों की उपस्थिति में वातप्रकोप का अनुमान करना चाहिये। इनमें भी शूल अत्यन्त प्रधान लक्षण है। शूल विना वायु के नही हो सकता।[2] अत' कहीं भी शूल होने पर वायु की उपस्थिति का अनुमान किया जाता है।

सुदान्तसेन ने निम्नांकित लक्षणों को वातजन्य कहा—

आध्मान, स्तम्भ, रौक्ष्य, स्फुटन, विमथन, क्षोभ, कम्प, प्रतोद, कण्ठध्वस, अवसाद, श्रमक, विलपन, स्रस, विविधशूल, पारुष्य, कर्णनाद, पाचनवैषम्य, भ्रंश, दृष्टिप्रमोह, विस्पन्द, उद्वट्टन, ग्लपन, अनिद्रा, ताडन, पीड़न, नाम, उन्नाम, विषाद, भ्रम, परिपतन, जृंभा, रोमहर्ष, विक्षेप, आक्षेप, शोष, ग्रहण, सुषिरता, छेदन, वेष्टन, श्याम या अरुण वर्ण, तृष्णा, स्वाप, विश्लेप, सग और कषाय रस।[3]

चरक ने निम्नाङ्कित ८० विकारों को वातका मुख्य नानात्मज विकार[4] कहा है'—

---

१. 'स्रंसभ्रंशव्यासभेदसादहर्षतर्षवर्त्तकम्पावमर्दचालतोदव्यथाचेष्टादीनि, तथा खरपरुषविशदसुषिरारुणकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिसंकोचनस्तम्भनखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि, तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत्।' (च. सू. २०)

२. 'नर्तेऽनिलाद्रुक्' (सु.)

३. 'आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः,
कण्ठध्वसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः।
पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहा',
विस्पन्दोद्वट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च॥
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भण रोमहर्षौ,
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणसुषिरताच्छेदन वेष्टनं च।
'वर्णःश्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेपसंगा,
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्चः॥' (मधुकोष)

४. 'तद्यथा नखभेदश्च'.....'अनवस्थितत्वं च इत्यशीतिर्वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति।' (च. सू. २०)

१ नखभेद	२१ विड्भेद	४१ दन्तशैथिल्य	६१ शिरोरुक्
२ विपादिका	२२ उदावर्त्त	४२ मूकत्व	६२ केशभूमिस्फुटन
३ पादशूल	२३ खञ्जत्व	४३ गद्गदत्व	६३ अर्दित
४ पादभ्रंश	२४ कुब्जत्व-वामनत्व	४४ वाक्सग	६४ एकांगरोग
५ पादसुप्तता	२५ त्रिक-पृष्ठग्रह	४५ कषायास्यता	६५ सर्वांगरोग
६ वातखुड्डता	२६ पार्श्वविमर्द	४६ मुखशोष	६६ पक्षवध-आक्षेपक
७ गुल्फग्रह	२७ उदरावेष्ट	४७ अरसज्ञता	६७ दण्डक
८ पिण्डिकोद्वेष्टन	२८ हृन्मोह	४८ घ्राणनाश	६८ श्रम
९ गृध्रसी	२९ हृद्द्रव	४९ कर्णशूल	६९ भ्रम
१० जानुभेद	३० वक्ष-उद्धर्ष	५० अशब्दश्रवण	७० वेपथु
११ जानुविश्लेप	३१ वक्ष-उपरोध	५१ उच्चै· श्रुति	७१ जृम्भा
१२ ऊरुस्तम्भ	३२ वक्षतोद	५२ बाधिर्य	७२ विषाद
१३ ऊरुसाद	३३ बाहुशोष	५३ वर्त्मस्तम्भ	७३ हिक्का
१४ पांगुल्य	३४ ग्रीवास्तम्भ	५४ वर्त्मसंकोच	७४ अतिप्रलाप
१५ गुदभ्रंश	३५ मन्यास्तम्भ	५५ तिमिर	७५ ग्लानि
१६ गुदार्त्ति	३६ कण्ठोद्ध्वस	५६ अक्षिशूल	७६ रौक्ष्य
१७ वृषणोत्क्षेप	३७ हनुस्तम्भ	५७ अक्षिव्युदास	७७ पारुष्य
१८ शेफस्तम्भ	३८ ओष्ठभेद	५८ भ्रूव्युदास	७८ श्यावारुणावभासता
१९ वंक्षणानाह	३९ अक्षिभेद	५९ शंखभेद	७९ अस्वप्न
२० श्रोणिभेद	४० दन्तभेद	६० ललाटभेद	८० अनवस्थितत्व

पित्त-विकार

दाह, उष्णता, पाक, स्वेद, क्लेद, कोथ, स्राव, राग तथा पूतिगन्ध, हरितहारिद्रवर्ण और कट्वम्ल तिक्तरस ये लक्षण सामान्यत पित्तविकारों में मिलते है।[1]

१· 'दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथस्रावरागा यथास्व गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्तनं च पित्तस्य कर्माणि, तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत्।' (च. सू २०)

सुदान्तसेन ने निम्नाकित लक्षण पित्तविकार के दिये हैं:—

विस्फोट, अम्लक, धूपक, प्रलपन, स्वेदस्रुति, मूर्च्छा, दौर्गन्ध्य, दरण, मद, विसरण, पाक, अरति, तृट्, भ्रम, ऊष्मा, अतृप्ति, तमःप्रवेश, दाह, कट्वम्लतिक्तरस, पाण्डु को छोड़कर अन्य वर्ण तथा कथितता।[1]

चरक ने निम्नाकित ४० मुख्य नानात्मज विकारों[2] की गणना की है:—

१ ओष	१५ मांसक्लेद	२८ तिक्तास्यता
२ प्लोष	१६ त्वग्दाह	२९ लोहितगंधास्यता
३ दाह	१७ { मांसदाह	३० पूतिमुखता
४ दवथु	त्वगवदरण	३१ तृष्णाधिक्य
५ धूमक	१८ चर्मावदरण	३२ अतृप्ति
६ अम्लक	१९ रक्तकोठ	३३ आस्यपाक
७ विदाह	२० रक्तविस्फोट	३४ गलपाक
८ अन्तर्दाह	२१ रक्तपित्त	३५ अक्षिपाक
९ असदाह	२२ रक्तमंडल	३६ गुदपाक
१० ऊष्माधिक्य	२३ हरितत्व	३७ मेढ्रपाक
११ अतिस्वेद	२४ हारिद्रत्व	३८ जीवादान
१२ अंगस्वेद-अंगगंध	२५ नीलिका	३९ तम प्रवेश
१३ अंगावदरण	२६ कक्षा	४० हरितहारिद्रमूत्रनेत्र-
१४ शोणितक्लेद	२७ कामला	वर्चस्त्व

कफ-विकार

श्वेतता, शैत्य, कण्डु, स्थैर्य, गौरव, स्नेह, स्तम्भ, सुप्ति, क्लेद, उपदेह,

---

१. 'विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपन स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनम्।
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरण पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ॥
ऊष्माऽतृप्तितमःप्रवेशदहन कट्वम्लतिक्ता रसाः।
वर्णः पाण्डुविवर्जितः कथितता कर्माणि पित्तस्य वै॥' (मधुकोष)

२. 'तद्यथा—ओषश्च ·····हरितहारिद्रमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च इति चत्वारिंशत् पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति।
(च. सू. २०)

वन्ध, माधुर्य, चिरकारित्व ये लक्षण कफज विकारों में सामान्यतः होते है।[1] इन लक्षणों के होने पर कफ-विकृति का अनुमान किया जाता है।

सुदान्तसेन ने निम्नांकित लक्षण कफविकार के वतलाये है :—

तृप्ति, तन्द्रा, गुरुता, स्तैमित्य, कठिनता, मलाधिक्य, स्नेह, अपचन, उपलेप, शैत्य, कफप्रसेक, कण्डू, चिरकर्तृत्व, शोथ, निद्राधिक्य, आलस्य, श्वेतवर्ण तथा मधुर-लवणरस।[2]

चरक ने कफ के निम्नांकित २० नानात्मज विकारों[3] का उल्लेख किया है :—

१ तृप्ति	८ मुखस्राव	१५ गलगण्ड
२ तन्द्रा	९ श्लेष्मोद्गिरण	१६ अतिस्थौल्य
३ निद्राधिक्य	१० मलाधिक्य	१७ शीताग्निता
४ स्तैमित्य	११ कण्ठोपलेप	१८ उदर्द
५ गुरुगात्रता	१२ वलासक	१९ श्वेतावभासता
६ आलस्य	१३ हृदयोपलेप	२० श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्व
७ मुखमाधुर्य	१४ धमनी-प्रतिचय	

धातु

दोष प्रकुपित होकर धातुओं को दूषित करते हैं और वहाँ अधिष्ठित होकर अनेक विकार उत्पन्न करते हैं, अतः धातुओं को 'दूष्य' कहते हैं। दोष के समान धातुओं की भी तीन प्रकार की गति होती है —स्थान, क्षय और वृद्धि। प्राकृत अवस्था में धातु शरीर के प्राकृत धारण-पोषणात्मक कर्म करते हैं, यह 'स्थान' (समस्थिति) कहलाता है। क्षय और वृद्धि ये दो वैकृत अवस्थायें हैं। क्षय में धातुओं का परिमाण न्यून तथा वृद्धि में उनका परिमाण अधिक हो जाता है।

---

१. 'श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहस्तम्भसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि, तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत्।' (च सू २०)

२. 'तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्।
स्नेहापक्त्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च॥
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू।
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात्॥' (मधुकोष)

३ 'तद्यथा— "तृप्तिश्च" "श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति।' (च. सू २०)

क्षय

रस से लेकर शुक्र तक सातों धातुओं का जो निर्माण-क्रम चलता है उसमें दो बातें अपेक्षित होती हैं:—एक तो धात्वग्नियों की स्थिति और दूसरे स्रोतों का अवकाश। धात्वग्नि प्राकृत होने पर धातुओं का निर्माण ठीक होता है किन्तु धात्वग्नियों की मन्दता से धातुओं का परिपाक सम्यक् नहीं होता, फलत मलभाग अधिक और प्रसादभाग कम बनता है जिससे उत्तरोत्तर धातुओं का निर्माण कम होने लगता है और धातुओं का क्षय होने लगता है। यक्ष्मा में इसी प्रकार धातुओं का क्षय होता है। इसके अतिरिक्त स्रोतों में अवरोध होने से भी उत्तरोत्तर धातुओं का निर्माण कम होता है।[1] यक्ष्मा में रसवह स्रोतों में कफजन्य अवरोध होने से आगे की धातुओं का निर्माण नहीं होता और प्रसादभाग कम और मल भाग अधिक बनने से वह रस संचित होकर मलरूप में कफ के साथ अनेक वर्णों में बाहर निकलता है।[2]

धातुओं का क्षय दो प्रकार का होता है:—१. अनुलोम क्षय और २. प्रतिलोम क्षय। अनुलोम क्षय धात्वग्नि की मन्दता तथा स्रोतों के अवरोध से उत्पन्न होता है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। इसमें धात्वग्नि मन्द होने से रसधातु का परिपाक ठीक नहीं होता और स्रोतों में अवरोध होने से अग्रिम धातुओं का निर्माण भी उचित नहीं हो पाता। इस प्रकार रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इनका क्रमशः क्षय हो जाता है।

धातुओं का निर्माणक्रम प्राकृत होने पर भी यदि शुक्रक्षय अधिक हो तो क्षयजन्य वायु का प्रकोप हो जाता है और उससे पूर्वस्थ धातु का शोषण होने लगता है। इस प्रकार आनुपूर्वीक्रम से यथापूर्व धातुओं का क्षय हो जाता है और अन्त में रस भी क्षीण हो जाता है। इसे प्रतिलोम क्षय कहते हैं।[3]

---

१. 'यथास्वेनाग्निना पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना॥
स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्।
धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्त्तते॥' (च. चि ८)

२ 'रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्धते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्त्तते॥' (च. चि. ८)

३. 'कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु।

क्षयहेतु

धातुओं के क्षय के सामान्य हेतु ये बतलाये गये हैं—व्यायाम, अनशन, चिन्ता, रूक्षाशन, अल्पाशन, प्रमिताशन, वातसेवन, आतपसेवन, भय, शोक, रूक्ष मद्यपान, जागरण, कफ, रक्त, शुक्र तथा मूत्र-पुरीष आदि मलों की अतिप्रवृत्ति, काल (आदान), भूतोपघात (जीवाणुओं का उपसर्ग)।[1]

वृद्धि

धातुवह स्रोतों में विशिष्ट अवरोध होने के कारण किसी एक धातु का पोषण विशेष होने लगता है और उसकी वैकृत वृद्धि हो जाती है तथा अन्य धातुओं को समुचित पोषण न मिलने से उनका क्षय होने लगता है। यथा रक्तपित्त में रक्तवृद्धि, अर्बुद में मांसवृद्धि, मेदोरोग में मेदोवृद्धि आदि।

धातुओं की क्षय-वृद्धि का ज्ञान चिकित्सा के लिए आवश्यक है। क्षय में बृंहण तथा वृद्धि में लंघन चिकित्सा की जाती है। आगे पृथक्-पृथक् धातुओं के क्षय-वृद्धि का लक्षण बतलाया जायगा।

१ रस

क्षय—रसक्षय में हृदयशूल, कम्प, शून्यता और तृष्णा ये लक्षण होते है।[2]

वृद्धि—रसवृद्धि में हृदयोत्क्लेद तथा लालाप्रसेक होते हैं।[3]

स्थान—प्राकृत स्थिति में रस शरीर का तर्पण, वर्धन, धारण, यापन और जीवन कर्म करता है।[4]

रसज विकार—अश्रद्धा, अरुचि, मुखवैरस्य, अरसज्ञता, हृल्लास, गौरव,

---

अतिव्यवायिनो वापि क्षीणे रेतस्यनन्तराः ॥
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः।' (मा नि)

१. 'व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः ॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्त्तनम्।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः ॥' (च सू १७)

२. 'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च' (सु सू १५)

३ 'रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति' (सु सू १५)

४. 'रसः प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति' (सु सू १५)

तन्द्रा, अंगमर्द, ज्वर, तम, पाण्डु, स्रोतोरोध, क्लैब्य, साद, कार्श्य, अग्निमांद्य, वलीपलित, ये रसदोष से उत्पन्न होने वाले विकार हैं।[1]

२. रक्त

क्षय—रक्तक्षय में त्वक्पारुष्य, अम्ल-शीतप्रार्थना, सिराशैथिल्य, पाण्डुत्व और मन्दाग्नि ये लक्षण होते हैं।[2] रक्तक्षय से अन्य धातुओं का भी क्रमिक क्षय होता है।

वृद्धि—रक्तवृद्धि में अंगों में विशेषतः नेत्रों मे लालिमा, सिराओं की पूर्णता विशेषतः होती है।[3]

स्थान—प्राकृत रक्त वर्णप्रसाद, मांसपोषण, जीवन और स्पर्शज्ञान में साहाय्य के कर्म करता है।[4]

रक्तज विकार—कुष्ठ, विसर्प, पिड़का, रक्तपित्त, प्रदर, गुदपाक, मेढ़्पाक, मुखपाक, प्लीहा, गुल्म, विद्रधि, नीलिका, कामला, व्यंग, पिप्लु, तिलकालक, दद्रु, चर्मदल, श्वित्र, पामा, कोठ, रक्तमंडल, ये विकार रक्तदोष से होते हैं।[5]

---

१. 'अश्रद्धा चारुचिश्चास्य वैरस्यमरसज्ञता।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा सांगमर्दो ज्वरस्तमः॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशांगता।
नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च॥
रसप्रदोषजा रोगाः ……………………' (च. सू. २८)

२. 'शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं च।' (सु. सू. १५)

३. 'रक्तं रक्तांगाक्षितां सिरापूर्णत्वं च' (सु. सू. १५)

४. 'रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च' (सु. सू. १५)
'धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि॥ (सु. शा. ७)

५. 'कुष्ठवीसर्पपिडकारक्तपित्तमसृग्दरः।
गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधिः॥
नीलिका कामला व्यंगः पिप्लवस्तिलकालकाः।
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्रमंडलम्॥
रक्तप्रदोषाज्जायन्ते………… …………।' (च. सू. २८)

३. मांस

क्षय—नितम्ब, गण्ड, ओष्ठ, उपस्थ, ऊरु, वक्ष, कक्षा, पिण्डिका, उदर तथा ग्रीवा आदि मांसल प्रदेशों की शुष्कता, रूक्षता, तोद, गात्रों की शिथिलता तथा धमनीशैथिल्य ये लक्षण होते हैं।[1]

वृद्धि—नितम्ब आदि उपर्युक्त अंगों मे वृद्धि, अंगों में भारीपन, ये लक्षण मांसवृद्धि मे होते हैं।[2]

स्थान—मांश शरीर का पोषण विशेषत मेद का पोषण करता है।[3]

मांसज विकार—अधिमांस, अर्बुद, कील, गलशालूक, शुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गण्ड, गण्डमाला, उपजिह्विका, ये विकार मांसाश्रित होते हैं।[4]

४. मेद

क्षय—मेदःक्षय मे प्लीहावृद्धि, सन्धिशून्यता, रूक्षता तथा मेदुरमांस की प्रार्थना ये लक्षण होते है। इनके अतिरिक्त, सन्धिस्फुटन, आँखों की ग्लानि, आयास, कार्श्य विशेषत उदर का होता है।[5]

वृद्धि—मेदोवृद्धि में अंगों की स्निग्धता, उदर-पार्श्व की वृद्धि, कासश्वास आदि रोग तथा दौर्गन्ध्य ये विकार होते है।[6]

---

१. 'मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदन धमनीशैथिल्यं च'। (सु. सू १५)

२. 'मांसं स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजंघासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च आपादयति।' (सु. सू. १५)

३ 'मांस शरीरपुष्टिं मेदसश्च' (सु. सू. १५)

४. 'अधिमांसार्बुद कील गलशालूकशुण्डिके।
पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिह्विका ॥
विद्यान्मांसाश्रयान् ....।' (च. सू २८)

५. मेद.क्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्य मेदुरमांसप्रार्थना च'। (सु सू १५)

'सन्धीनां स्फुटन ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च।
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वमुदरस्य ॥' (च. सू १७)

६. 'मेदः स्निग्धांगतामुदरपार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यं च।' (सु.सू. १५)

स्थान—प्राकृत मेद स्नेह, स्वेद, दृढता तथा अस्थियों का पोषण करता है।[१]

मेदोज विकार—ग्रन्थि, वृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद, मेदोज ओष्ठप्रकोप, मधुमेह, अतिस्थूलता, अतिस्वेद आदि विकार मेदोदोषज होते हैं।[२]

५. अस्थि

क्षय—अस्थिक्षय में अस्थितोद, दन्तनखभग, रूक्षता, केशलोमश्मश्रु का पतन तथा सन्धिशैथिल्य ये लक्षण होते हैं।[३]

वृद्धि—अस्थिवृद्धि में अध्यस्थि और अधिदन्त होते हैं।[४]

स्थान—अस्थि प्राकृत अवस्था में देह का धारण और मज्जा का पोषण करती है।[५]

अस्थिज विकार—अध्यस्थि, अधिदन्त, दन्तभेद, दन्तशूल, अस्थिभेद, अस्थिशूल, वैवर्ण्य, केश-लोम-नख-श्मश्रु-दोष ये अस्थिज विकार हैं।[६]

६. मज्जा

क्षय—मज्जा के क्षय में शुक्राल्पता, पर्वभेद, अस्थिशूल, अस्थिशून्यता ये लक्षण होते हैं।[७]

वृद्धि—मज्जावृद्धि में सर्वांग में भारीपन तथा नेत्र मे भारीपन होता है।[८]

---

१. 'मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च करोति' (सु सू १५)

२. 'ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः।' (सु. सू २४)

३. 'अस्थिक्षये अस्थितोदो दन्तनखभंगो रौक्ष्यं च' (सु सू १५)
'केशलोमनखश्मश्रुद्विजप्रपतन श्रमः ।
ज्ञेयमस्थिक्षये लिग सधिशैथिल्यमेव च॥' (च सू १७)

४. 'अस्थि अध्यस्थीनि अधिदन्ताश्च ।' (सु सू १५)

५ 'अस्थि देहधारणं मज्जपुष्टिं च करोति' (सु. सू १५)

६. 'अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रकोपजाः ॥' (च. सू. २८)

७. 'मज्जक्षये अल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च' (सु. सू १५)

८. 'मज्जा सर्वांगनेत्रगौरवञ्च ।' (सु सू १५)

स्थान—मज्जा प्रसन्नता, स्नेहन, बल, शुक्रपुष्टि तथा अस्थिपूरण ये कर्म प्राकृत स्थिति में करता है।[1]

मज्जा-गत विकार—पर्वशूल, मूर्च्छा, भ्रम, तम, पर्वज स्थूल विस्फोटों की उत्पत्ति ये मज्जा के दोष से होते हैं।[2]

७. शुक्र

क्षय—शुक्रक्षय में मेढ्रवृषणवेदना, मैथुनाशक्ति, शुक्रपतन देर से होना तथा शुक्र में रक्त मिला आना ये लक्षण होते हैं। इनके अतिरिक्त दौर्बल्य, मुखशोष, पाण्डुता, शैथिल्य, श्रम तथा क्लैब्य होते हैं।[3] शुक्रक्षय वार्धक्य, चिन्ता, व्याधि, अतिसंशोधन, अनशन तथा अतिमैथुन इन कारणों से होता है।

वृद्धि—शुक्रवृद्धि से शुक्राश्मरी और अतिप्रादुर्भाव होता है।[4]

स्थान—शुक्र प्राकृत रूप में धैर्य, प्रीति, शरीरबल, मनोबल तथा सन्तानोत्पत्ति ये कर्म करता है।[5]

शुक्रज विकार—क्लैब्य, अप्रहर्ष, शुक्राश्मरी, शुक्रमेह तथा अन्य शुक्रविकार ये शुक्रदोषज विकार हैं।[6]

---

१ 'मज्जा प्रीतिं स्नेह बल शुक्रपुष्टि पूरणमस्थ्नां च करोति' (सु. सू १५)

२. 'रुक्पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शन तमसस्तथा।
अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्॥
मज्जप्रदोषात्.............................।' (च. सू २८)

३ 'शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम्।' (सु. सू १५)

४. 'शुक्र शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भाव च।' (सु. सू. १५)

५. 'शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं बीजार्थञ्च।' (सु. सू १५)

६. 'क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रमेहशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः।' (सु. सू. २४)
'शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणम्।
रोगी वा क्लीवमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते॥
न वा संजायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि।
शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्॥ (च. सू. २८)

८. ओज

क्षय—भय, दौर्वल्य, चिन्ता, इन्द्रियदौर्वल्य, कान्तिहीनता, ग्लानि, रूक्षता, क्षीणता ये ओजःक्षय के सामान्य लक्षण हैं।[1] ओजःक्षय तीन प्रकार का है—१. विस्रंस, २. व्यापत् और ३. क्षय। वस्तुतः ये क्षय की तीन अवस्थायें हैं—

१. **विस्रंस**—अंगविश्लेषण, अंगशैथिल्य, दोपनिःसरण, श्रम, क्रिया का क्षय ये ओजोविस्रंस के लक्षण हैं।

२. **व्यापत्**—गौरव, स्तब्धता, ग्लानि, भेदन, तन्द्रा, निद्रा, वातशोफ ये ओजोव्यापत् के लक्षण हैं।

३. **क्षय**—ओजःक्षय में मूर्च्छा, मांसक्षय, मोह, प्रलाप, अज्ञान तथा अन्त में मृत्यु होती है।

ओजःक्षय की उपर्युक्त दो अवस्थायें साध्य तथा अन्तिम अवस्था विशेषतः संज्ञानाश होने पर असाध्य होती है।[2]

स्थान—प्राकृत अवस्था में ओज के ये कर्म होते हैं—स्थिरोपचितमांसता, सब चेष्टाओं में अप्रतिघात, स्वरवर्णप्रसाद, बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों की कार्यक्षमता।[3]

---

१. 'बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये॥' (च. सू. १७)

२. 'त्रयो दोपा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः।
विश्लेपसादौ गात्राणां दोपविस्रंसनं श्रमः॥
अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम्।
गुरुत्वं स्तब्धतांगेपु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम्॥
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम्।
मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च॥
पूर्वोक्तानि च लिंगानि मरणं च बलक्षये।' (सु. सू. १५)

३. 'तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टासु अप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामान्तराणाञ्च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति।' (सु. सू. १५)

९. आर्तव

क्षय—आर्त्तवक्षय में आर्त्तव का उचित समय में न होना या बिलकुल लोप, अल्पता, योनिवेदना ये लक्षण होते हैं।[1]

वृद्धि—आर्त्तववृद्धि होने पर अंगमर्द, आर्त्तव की अतिप्रवृत्ति और दौर्गन्ध्य ये लक्षण होते हैं।[2]

स्थान—सन्तानोत्पत्ति में सहायता प्रदान करना यह आर्त्तव का प्राकृत कर्म है।[3]

१०. स्तन्य

क्षय—स्तन्यक्षय में स्तनों की म्लानता, स्तन्य का लोप या अल्पता हो जाती है।[4]

वृद्धि—स्तनों की स्थूलता, स्तन्य की बार बार अधिक प्रवृत्ति तथा तोद ये स्तन्यवृद्धि के लक्षण है।[5]

स्थान—स्तनों की स्थूलता और शिशु का जीवन ये स्तन्य के प्राकृत कर्म हैं।[6]

३. मल

मूत्र, पुरीष और स्वेद ये प्रधान मल है। इन तीनों की स्थिति का अध्ययन आवश्यक है। मलों की गति (क्षय, स्थान और वृद्धि) तथा प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

---

१. 'आर्त्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च' (सु. सू. १५)
२. 'आर्त्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्गन्ध्यं च।' (सु. सू. १५)
३. 'रक्तलक्षणमार्त्तवं गर्भकृच्च।' (सु. सू. १५)
४. 'स्तन्यक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासंभवोऽल्पता वा।' (सु. सू. १५)
५. 'स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च।' (सु. सू. १५)
६. 'स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनञ्चेति।' (सु. सू. १५)

मूत्र

(क) गतिः—क्षय—मूत्रक्षय में वस्तितोद, मूत्राल्पता, मूत्रविवर्णता, मुखशोष तथा तृष्णा ये लक्षण होते हैं।[1]

वृद्धि—मूत्रवृद्धि होने पर मूत्रवृद्धि, मूत्र की बार बार प्रवृत्ति, वस्तितोद एवं वस्त्याध्मान होते हैं। प्रायः मूत्रवेग को धारण करनेवाले पुरुषों में मूत्रवृद्धि की अवस्था होती है।[2]

स्थान—प्राकृत स्थिति में वस्तिपूरण, क्लेदन ये कर्म मूत्र के होते हैं।[3]

मूत्रगत विकार—प्रमेह और मूत्रकृच्छ्र ये दो प्रमुख विकार मूत्र के हैं। सामान्यतः भेद, शोष, प्रदूषण, संग, उत्सर्ग ये मलों के विकार होते हैं।[4]

(ख)-प्रवृत्ति—मूत्र की प्रवृत्ति कितनी बार, निरवरोध या सावरोध, सवेदन या निर्वेदन होती है इसकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। मूत्रत्याग के समय अन्य कोई विशिष्ट लक्षण हो उसका भी पता लगाना चाहिए। प्रमेह में मूत्र प्रभूत और आविल; मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी एवं पौरुषग्रंथिवृद्धि में मूत्र सावरोध और सवेदन आता है।

पुरीष

(क) गति :–क्षय—पुरीषक्षय में हृदय एवं पार्श्व में शूल, शब्दयुक्त वायु का ऊर्ध्वगमन और उसका कुक्षि में सचरण ये लक्षण होते हैं।[5]

---

१. 'मूत्रक्षये वस्तितोदोऽल्पमूत्रता च।' (सु सू. १५)

'मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च।
विपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति॥' (च सू. १७)

२. 'मूत्रं मूत्रवृद्धि मुहुर्मुहुः प्रवृत्ति वस्तितोदमाध्मानं च' (सु. सू. १५)

३. 'वस्तिपूरणविक्लेदकृन्मूत्रम्।' (सु. सू १५)

४ 'मलानाश्रित्य कुपिता भेदशोषप्रदूषणम्।
दोषाः मलानां कुर्वन्ति सगोत्सर्गावतीव च॥' (च. सू. २८)

५. 'पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीडा सशब्दस्य वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ संचरणं च।' (सु. सू. १५)

वृद्धि—पुरीषवृद्धि होने पर आटोप तथा उदरशूल होता है।[१]

स्थान—प्राकृत स्थिति में पुरीष शरीर एवं वायु तथा अग्नि का धारण करता है।[२]

पुरीषज विकार—पुरीष-विबन्ध, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी ये मुख्य पुरीषज विकार हैं।

(ख) **प्रवृत्ति**—पुरीष की प्रवृत्ति कितनी वार, सवेदन या निर्वेदन, साम या निराम होती है इसका ज्ञान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, पुरीषोत्सर्ग के समय या पुरीष में अन्य लक्षण हों उन्हें देखना चाहिए। विबन्ध में पुरीष अल्प, अतिसार में द्रव, प्रवाहिका में सशूल तथा ग्रहणी में कभी बंधा और कभी पतला आता है।

स्वेद

(क) **गति-क्षय**—स्वेदक्षय में स्तब्धरोमकूपता, त्वचाशोष, स्पर्शविकृति, तथा स्वेदनाश ये लक्षण होते हैं।[३]

वृद्धि—स्वेदवृद्धि होने पर त्वचा में कण्डू और दौर्गन्ध्य होता है।[४]

स्थान—प्राकृत स्वेद क्लेदन एवं त्वचा का सौकुमार्य उत्पन्न करता है।[५]

स्वेदज विकार—अस्वेदन, अतिस्वेदन, पारुष्य, अतिश्लक्ष्णता, अंगपरिदाह तथा लोमहर्ष ये स्वेदज विकार हैं।

(ख) **प्रवृत्ति**—स्वेद की गंध की परीक्षा भी करनी चाहिए। इससे अनेक बातों का पता चलता है। मूत्रविषमयता में स्वेद की गंध मूत्रवत् तथा प्रमेह में फलवत् होती है। अनेक औषध द्रव्यों का उत्सर्ग स्वेद के द्वारा होने पर उनकी गंध स्वेद में आ जाती है यथा गंधक आदि। इसके अतिरिक्त अन्य लक्षणों का

---

१ 'पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च।' (सु सू १५)

२. 'पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणञ्च।' (सु सू १५)

'शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं तु जीवितम्।' (च चि ८)

३. 'स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता, त्वक्शोषः, स्पर्शवैगुण्यं, स्वेदनाशश्च।' (सु सू १५)

४. 'स्वेदस्त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूञ्च।' (सु सू १५)

५. 'स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत्।' (सु सू. १५)

भी पता लगाना चाहिए। अवसाद में स्वेदाधिक्य के साथ-साथ शैत्य और ग्लानि होती है।

४. अधिष्ठान

प्रकुपित दोषों का जब किसी अधिष्ठान (धातु, मल, स्रोत या अंगविशेष) में स्थानसंश्रय होता है तब रोग का आविर्भाव होता है। चिकित्सा में दोषद्रव्य के अतिरिक्त अधिष्ठान का भी विचार करना पड़ता है, यथा आमाशयगत वात में रूक्षपूर्व स्वेदन तथा पक्वाशयगत वात मे स्निग्धपूर्व स्वेदन किया जाता है। अतएव विकारों के निर्णय में अधिष्ठान का विचार भी महत्त्वपूर्ण है।

धातुओं और मलों के साथ दोषों का सक्षात् संपर्क होता है, अतएव वे 'दूष्य' कहलाते हैं तथा स्रोत और अंगप्रत्यंग उनका आश्रय होने से परम्परया दूषित होते हैं। अधिष्ठान-प्रकरण में इन सबका विचार होना चाहिए।

धातु

धातुओं के आश्रित जो विकार होते है उनका पीछे दूष्य-प्रकरण मे उल्लेख किया गया है। कुछ विकार विशेष कर दूष्यप्रधान होते हैं, यथा विषमज्वर, कुष्ठ आदि। जैसे जैसे उत्तरोत्तर धातुओं में दोषों का अधिष्ठान होता है वैसे वैसे विकार की गंभीरता और चिरकारित्व बढ़ता जाता है। दोषों की प्रधानता मे उग्रता और आशुकारिता होती है।

दोषों में प्रसर की दृष्टि से वायु सर्वप्रधान है और वही सबका नेता माना गया है। अत' अधिष्ठान के प्रकरण में धातुगत वात का ही विशेषरूप से वर्णन किया गया है'-यथा—

१. **रस**—रसस्थ वात के कारण त्वचा रूक्ष, स्फुटित, सुप्त, कृश, शिथिल, कृष्ण, तोद-रागयुक्त एवं पर्वशूल होता है। त्वचा में स्फुरण और चुनचुनी होती है।[१]

---

१. त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वग्गतेऽनिले॥' (च. चि. २८)

२. **रक्त**—रक्तगत वात के कारण शरीर में फोड़े-फुन्सियाँ, व्रण उत्पन्न होते हैं तथा अन्त्र का स्तम्भ होता है।[1]

३. **मांस**—मांसस्थ वात के कारण शूलयुक्त ग्रंथियाँ शरीर में उत्पन्न होती हैं तथा अंगों में गौरव, स्तम्भ, तोद और श्रम होता है।[2]

४. **मेद**—मेदोगत वात से शरीर में मन्द शूल, व्रणरहित ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं तथा अंगों मे भारीपन, स्तब्धता, शूल और श्रम का अनुभव होता है।

५. **अस्थि**—अस्थि में स्थित वात के कारण अस्थिशोष, अस्थिभेद तथा अस्थिशूल होते हैं। इनके अतिरिक्त पर्वभेद एवं सन्धिशूल होता है।

६. **मज्जा**—मज्जागत वात में अधिक मांसबलक्षय, अनिद्रा तथा निरन्तर तीव्र पीड़ा होती है।[3]

७. **शुक्र**—शुक्रगत वात के कारण शुक्र की अप्रवृत्ति, शीघ्र पतन, अन्य शुक्रविकार होते हैं इसके अतिरिक्त शुक्र विकृत होने से गर्भपात, प्रसव में विलम्ब और कष्ट तथा अन्य गर्भविकार उत्पन्न होते हैं।[4]

मल

प्रकुपित दोष जब मलों में आश्रित होते हैं तब मलों का भेद, शोष और अन्य विकार उत्पन्न करते हैं। विशेषत' उनका अतिसग (विबन्ध) और अति-उत्सर्ग होने लगता है।[5] इनका विशेष वर्णन मलों के प्रकरण में किया गया है।

---

१. 'रुजस्तीव्राः ससन्तापाः वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥' (च. चि २८)

२ 'गुर्वंगं तुद्यते स्तब्धं दण्डमुष्टिहत यथा।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥' (च. चि २८)
'ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।
तथा मेदःश्रितः कुर्याद् ग्रन्थीन् मन्दरुजोऽव्रणान् ॥' (सु नि १)

३ भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूल मांसबलक्षयः।
अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥' (च. चि २८)
'अस्थिशोप च भेद च कुर्याच्छूल च तत्स्थितः।
तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति ॥' (सु नि १)

४. क्षिप्र मुञ्चति बध्नाति शुक्र गर्भमथापि वा।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्यः कुपितोऽनिलः ॥' (च चि २८)

५ मलानाश्रित्य कुपिता भेदशोषप्रदूषणम्।
दोषा मलानां कुर्वन्ति संगोत्सर्गावतीव च ॥' (च. सू २८)

विकृति	रस	रक्त
वात	कृष्णारुण वर्ण या विवर्णतायुक्त रूक्ष, स्फुटित, सुप्त, कृश, शीर्ण, स्फुरण, तोद तथा चुमचुमायन-युक्त त्वचा।	संतापयुक्त तीव्र वेदना, विवर्णता, व्रण, सुप्ति एवं रक्तवर्णता, अरुचि, भुक्तान्न का स्तंभ, श्रम, कृशता।
पित्त	विस्फोटक, मसूरिका।	विसर्प, दाह।
कफ	स्तब्धता, श्वेतागता।	पाण्डुरोग।
क्षय	रसक्षय होने पर हृदय-प्रदेश में पीडा, कम्प, शून्यता, तीव्र तृष्णा, ऊँचे शब्द न सहन होना, हृदय के स्पन्दनो का बढना तथा हृदय में शूल, शरीर में रूक्षता तथा ग्लानि और अल्प श्रम से ही अधिक थकावट का अनुभव।	त्वचा की परुषता, कर्कशता, रूक्षता एवं विदार, अम्ल-शीत पदार्थों की अभिलाषा, सिराओं की शिथिलता।
वृद्धि	लालाप्रसेक, हृदयोत्क्लेद तथा श्लेष्मवृद्धि के लक्षण।	सिराओं की पूर्णता तथा नेत्रों एव शरीर की आरक्तता, विसर्प, कुष्ठ, विद्रधि, वातरक्त, रक्तपित्त, रक्तगुल्म, प्लीहा की व्याधियाँ, कामला, व्यंग, अग्निमांद्य, मूर्च्छा त्वचा, नेत्र तथा मूत्र में ललाई आदि विकार।

विकृति	मांस	मेद	अस्थि
वात	अंगगौरव, स्तब्धता, तीव्र पीडा, क्लान्ति, शूल एव वेदनायुक्त कर्कश ग्रंथियॉ, श्रम।	अगगौरव, तीव्र तोद, भेदनवत् पीडा, श्रम एव भ्रम, मन्द, वेदना-युक्त व्रणहीन ग्रंथियॉ तथा तोदयुक्त कर्कश ग्रथियॉ।	अस्थिपर्व, भेदनवत् पीडा, अस्थिशूल, शोप एवं भेद, बल-मासक्षय, सधि-सक्थिशूल, अनि-द्रा एव सतत वेदना।
पित्त	मासगत पाक, मास कोथ।	दाहयुक्त ग्रंथि, तृपा एवं स्वेद की अधिक प्रवृत्ति।	अत्यधिक दाह।
कफ	अर्बुद, अपची, गुरुता एव आर्द्रचर्मावनद्धता का अनुभव।	प्रमेह, मेदोरोग।	अस्थि-स्तब्धता।
क्षय	मासल स्थलों की शुष्कता, रूक्षता, तोद, अंगमर्द, धमनी-शिथि-लता, सधियों में वेदना।	प्लीहाभिवृद्धि, संधि-शून्यता, रूक्षता, स्निग्ध मासाहार की आकाक्षा। नेत्रों में थकावट, उदर का अपचय, शरीर की कृशता, सधियों में फूटन, कटि में स्पर्श-शून्यता।	रूक्षता, श्मश्रु-केश-रोम-दन्त-नख-अस्थि का भग्न, सधियों तथा अस्थियों में शूल, शिथिलता तथा रूक्षता का अनुभव।
वृद्धि	मांसल स्थलों—नितम्ब-कपोल-वक्ष-जघा आदि में मासोपचय, गुरु-गात्रता तथा गलगण्ड, अर्बुद, ग्रथि, कण्ठ-जिह्वा-तालु में मास की वृद्धि आदि विकारो की उत्पत्ति।	अतिस्निग्धता, उदर-पार्श्व की वृद्धि, कास-छिन्नश्वासोत्पत्ति, शरीर में दुर्गन्धि, स्थूलता, थोड़ा चलने से थका-वट, स्तन एव नितम्बो का लटकना (चल-स्फिगुदरस्तन.)।	अध्यस्थि तथा अधि-दन्तों की उत्पत्ति, दॉतों तथा अस्थियो की वृद्धि।

विकृति	मज्जा	शुक्र
वात	अस्थि-सुषिरता तथा स्तब्धता। शेष लक्षण अस्थिगत वातवत्।	शीघ्र स्खलन, वासनाधिक्य, गर्भपात तथा शीघ्र गर्भधारणा, शुक्र-क्षीणता-तारल्य-अप्रवृत्ति-फेनिल-रूक्ष और अवसादि दोषयुक्त तथा श्याव-अरुण वर्ण का।
पित्त	नख और नेत्र हारिद्र वर्ण के।	विवर्ण या पीत वर्ण का पूतियुक्त, रक्तमिश्रित, उष्ण तथा निकलते समय शिश्न में दाह पैदा करनेवाला, दुर्गन्धि-पिच्छिलतारहित, निकलते समय मूत्र-मार्ग में रुकनेवाला, क्वचित अतिपिच्छिल।
कफ	शुक्लनेत्रता	शुक्र का शुक्राशय में अतिसंचय तथा जल में डालने पर कुछ नीचे डूबने की प्रवृत्ति।
क्षय	अल्पशुक्रता, पर्वभेद, अस्थियों मे निस्तोद-क्षीणता-शून्यता-दुर्बलता-लघुता का अनुभव, शुक्र की अल्पता, वात रोग का बार-बार आक्रमण, चक्कर आना तथा आँखों के सामने अँधेरा होना।	शिश्न एवं वृषण में वेदना, मैथुन में अशक्ति, शुक्र का अल्पप्रसेक अथवा शुक्र रक्तयुक्त, दुर्बलता, मुख का सूखना, पाण्डुता, थकावट काम करने में अशक्ति, नपुंसकता, प्रजनन-अशक्ति।
वृद्धि	नेत्रगौरव, सर्वांगगौरव तथा अस्थि-संन्धियों में स्थूल मूलवाली कष्टसाध्य पिडिकाओं की उत्पत्ति।	शुक्रातिवृद्धि, अतिमात्र प्रसेक, शुक्राश्मरी, मैथुन की अधिक इच्छा।

विकृति	मूत्र	पुरीष
वात	मटमैला या धुएँ का रंग, बार-बार अल्पमात्रा में मूत्रप्रवृत्ति, मूत्र स्पर्श में शीत एवं रूक्ष, मूत्रत्याग के समय रोमाञ्च का अनुभव।	मल श्याव-अरुण वर्ण का रूक्ष-शुष्क, गाठदार, अल्प मात्रा में।
पित्त	मूत्र लाल, गहरा पीला या हारिद्र वर्ण का, दुर्गन्धयुक्त, स्पर्श में उष्ण और मात्रा में अल्प।	हरे-पीले रंग का पतला, अधिक मात्रा में मल, प्रायः उष्ण एवं दुर्गन्धित।
कफ	जल के समान निर्मल एवं पतला मूत्र, चावल के धोवन के समान तथा फेनयुक्त, मात्रा में अधिक, स्पर्श में शीत-पिच्छिल और मधुर-अम्ल गन्धवाला।	मल सफेद रंग का, गीला, चिकना और मात्रा में अधिक।
क्षय	मूत्र अल्प, मूत्रत्याग के समय कष्ट, मूत्र की विवर्णता, वस्तिस्थान में पीडा, मूत्र के साथ रक्तस्राव, मुख सूखना तथा तृष्णा।	पेट में रूक्षता तथा वायु के प्रकोप से आँतों में ऐंठन, हृदय और पार्श्व मे पीडा, गुड़गुड़ाहट के साथ वायु का ऊपर कुक्षि मे संचार, हृदयावरोध।
वृद्धि	मूत्रराशि का बढना, मूत्रत्याग की बारम्बार इच्छा, वस्तिदेश (पेड़ू) पर भारीपन या वेदना, मूत्राशय में सूची चुभने की सी पीडा, 'मूत्रत्याग के बाद भी मूत्र नही हुआ है, इस प्रकार की भावना बनी रहना।	आटोप, कुक्षिशूल, गुड़गुड़ाहट, उदर मे भारीपन।

स्रोत

शरीर के जिन मार्गों में धातु-मल आदि संचरण करते हैं वे 'स्रोत' कहलाते हैं। वायु, जल और भोजन को शरीर के भीतर ले जानेवाले ३ स्रोत; रसादि धातुओं के लिए ७ स्रोत तथा मूत्र-पुरीष स्वेद इन तीन मुख्य मलों के लिए ३ स्रोत-इस प्रकार कुल १३ प्रकार के स्रोत द्रव्यभेद से शरीर में हैं। वात-पित्त-कफ ये सर्वशरीरचर होने से समस्त स्रोतों में गति करते हैं। उनके लिए पृथक् स्रोत नहीं हैं।

जो आहार-विहार दोषों के समानगुण तथा धातुओं के विपरीत गुण होते हैं वे स्रोतों को सामान्य रूप से दूषित करते हैं।[1] यथा—

आश्रित द्रव्य की अतिप्रवृत्ति, अवरोध या विमार्गगमन तथा तत्रस्थ सिराओं मे ग्रंथियों की उत्पत्ति में स्रोतों की दुष्टि के सामान्य लक्षण हैं।[2] विशिष्ट स्रोतों के विकार का परिचय[3] नीचे दिया जा रहा है—

---

१ 'आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः॥' (च. वि. ५)

२. 'अतिप्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्॥' (च. वि ५)

३. स्रोतों का विस्तृत विवरण सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान नवम अध्याय तथा चरकसंहिता विमानस्थान पञ्चम अध्याय में देखें।

	निदान	लक्षण	शल्यज लक्षण
१. प्राणवह स्रोत	क्षय, वेगावरोध, रौक्ष्य, व्यायाम (क्षुधित अवस्था में) अन्य दारुण कर्म।	अतिसृष्ट, अतिबद्ध, कुपित, अल्पाल्प, अभीक्ष्ण, सशब्द-शूल श्वसन।	क्रोशन, विनमन, मोहन, भ्रमण, वेपन या मरण।
२ उदकवह स्रोत	उष्णता, आमदोष, भय, मद्यपान, अति शुष्कान्नसेवन, तृष्णावेगरोध।	जिह्वा-तालु-ओष्ठ-कण्ठ क्लोम-शोष, अतिप्रवृद्ध तृष्णा।	तृष्णा, सद्योमरण।
३. अन्नवह स्रोत	अकाल में अतिमात्र अहित आहार का सेवन, अग्निवैषम्य।	अनन्नाभिलाष, अरुचि, अविपाक, छर्दि।	आध्मान, शूल, अन्न-द्वेष, छर्दि, तृष्णा, आन्ध्य या मरण।
४. रसवह स्रोत	गुरु, शीत तथा अतिस्निग्ध आहार का अतिमात्रा में सेवन, अतिचिन्ता, अधिक मानसिक परिश्रम।	अश्रद्धा, अरुचि, मुखवैरस्य, अरसज्ञता, हृल्लास, गौरव, तन्द्रा, अगमर्द, ज्वर, तम, पाण्डु, स्रोतोरोध, क्लैब्य, अवसाद, कार्श्य, अग्निमाद्य, वलीपलित।	शोष, प्राणवह विद्धवत् लक्षण तथा मृत्यु।
५. रक्तवह स्रोत	विदाही, स्निग्ध, उष्ण और द्रव अन्नपान, आतप तथा अग्नि का सेवन।	कुष्ठ, वीसर्प, पिड़का, रक्तपित्त, प्रदर, गुद-मेढ्र-मुखपाक, प्लीहा, गुल्म, विद्रधि, नीलिका, कामला, व्यग, पिप्लु, तिलकालक, दद्रु, चर्मदल, श्वित्र, पामा, कोठ, रक्तमडल।	श्यावांगता, ज्वर, दाह, पाण्डुता, रक्तस्राव, रक्तनेत्रता।

	निदान	लक्षण	शल्यज लक्षण
६ मांसवह स्रोत	अभिष्यन्दी, स्थूल और गुरु भोज्य पदार्थों का सेवन, भोजन के बाद शीघ्र दिन में अधिक सोना।	अधिमांस, अर्बुद, चर्मकील, गलशालूक, शुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गण्ड, गण्डमाला, उपजिह्विका।	शोथ, मांसशोष, सिरा, ग्रन्थि, मरण।
७ मेदोवह स्रोत	अव्यायाम, दिवास्वप्न, मेदस पदार्थ तथा वारुणी का अतिसेवन।	प्रमेह के पूर्वरूप।	स्वेदागमन, स्निग्धांगता, तालुशोष, स्थूल शोफता, तृष्णा।
८ अस्थिवह स्रोत	व्यायाम, अतिसंक्षोभ, अतिविघट्टन, वातिक पदार्थों का सेवन।	अध्यस्थि, अधिदन्त, दन्तशूल, अस्थिशूल, वैवर्ण्य, केश-लोम-नख-श्मश्रु-विकार।	× ×
९ मज्जवह स्रोत	उत्पेष, अत्यभिष्यन्द, अभिघात, प्रपीडन, विरुद्ध भोजन।	पर्वशूल, भ्रम, मूर्च्छा, तम, पर्वज पिडकायें।	× ×
१०. शुक्रवह स्रोत	अकाल में तथा अयोनिगमन, शुक्र निग्रह, अतिमैथुन, शस्त्रक्षाराग्निविभ्रम।	क्लैब्य, अहर्षण, गर्भपात, गर्भस्राव, रोगी, क्लीव, अल्पायु या विरूप सन्तान।	क्लैब्य, चिरप्रसेक, रक्तशुक्रता।
११ आर्त्तववह स्रोत			वन्ध्यात्व, मैथुनासहिष्णुता, आर्त्तवनाश।

	निदान	लक्षण	शल्यज लक्षण
१२. मूत्रवह स्रोत	मूत्रवेग उपस्थित होने पर जल, भक्ष्य तथा स्त्री का सेवन, मूत्रवेगरोध, विशेषतः क्षीण-कृश व्यक्तियों में।	अतिसृष्ट, अतिवद्ध, प्रकुपित, अल्पाल्प, अभीक्ष्ण, बहल, सशूल मूत्र आना।	आनद्धवस्तिता, मूत्रनिरोध, स्तब्धमेढ्रता।
१३ पुरीषवह स्रोत	वेगरोध, अत्यशन, अजीर्ण, अध्यशन विशेषतः दुर्बलाग्नि और कृश पुरुषों में।	कष्ट से अल्पाल्प, सशूल, अतिद्रव, अतिग्रथित, अतिवद्ध पुरीष आना।	आनाह, दुर्गन्धता, ग्रथितान्त्रता।
१४. स्वेदवह स्रोत	व्यायाम, अतिसन्ताप शीतोष्ण का क्रमरहित सेवन तथा क्रोध-शोक-भय का आधिक्य।	अस्वेदन, अतिस्वेदन, पारुष्य, अतिश्लक्ष्णता, अंगपरिदाह, लोमहर्ष।	× ×

धमनी

स्रोतःस्थ द्रव्यों को वायु के ध्मान द्वारा प्रेरित करने वाली शरीररचनायें 'धमनी' कहलाती है। इन्द्रियों के कार्य में भी ये प्रेरक होती है। देशभेद से ये तीन प्रकार की होती हैं—१ ऊर्ध्वग २ अधोग ३ तिर्यग्ग।

१ **ऊर्ध्वग**—ये धमनियाँ नाभि के ऊपर उदर, पार्श्व, पृष्ठ, वक्ष, स्कन्ध, ग्रीवा तथा बाहुओं में फैली रहती हैं। इनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियों का कार्य, श्वास-प्रश्वास, वाक्, क्षुधा तथा हसित-रुदित आदि चेष्टायें होती हैं। इन कार्यों की विकृति से धमनियों की विकृति का अनुमान करना चाहिए।

२ **अधोग**—ये नाभि के नीचे पक्वाशय, कटी, मूत्राशय, पुरीषाधान, मेढ्र तथा अध शाखाओं में फैली होती है और इनके द्वारा वात, मूत्र, पुरीष, शुक्र,

आर्त्तव आदि का वहन अनुलोमरीति से होता है। इन धमनियों के विकार में प्रतिलोम वायु होने के कारण इनका वहन सम्यक् नही होने पाता।

३ **तिर्यग्ग**—ये असख्य सूक्ष्म शाखाओ में विभक्त होकर त्वचा मे फैली रहती है। इनसे स्वेदवहन, रससतर्पण, अभ्यङ्ग-आलेप आदि का शोषण तथा स्पर्शजन्य सुख-दु ख का ग्रहण होता है। इनकी विकृति से स्वेद की विकृति, त्वचा में विकृत रससवहन, अभ्यङ्ग-आलेप आदि का अशोषण तथा स्पर्शज्ञान का अभाव होता है।

अङ्ग-प्रत्यङ्ग

शरीर के जिस अग-प्रत्यग मे दोष अधिष्ठित होते हैं उनमें विशिष्ट विकार उत्पन्न होते हैं। अधिष्ठान की विशेषता से ही एक ही दोष अनेक विशिष्ट रोगो को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। अत शरीर के अग-प्रत्यगों की विशेषता का ध्यान विकृति-विवेचन में अवश्य रखना चाहिए। यथा वायु शिर में स्थित हो कर शिरोरोग हृदय में स्थित होकर हृद्रोग और गुदवलियों मे आश्रित होकर अर्श उत्पन्न करता है।

स्वभावत॰ हृदय के ऊपरी प्रदेश में स्थित अगों में कफ, हृदय और नाभि के मध्यस्थ अगों मे पित्त और नाभि के नीचेवाले अङ्गों मे वात की प्रधानता होती है और उनकी क्रिया उन अगों में विशेषरूप से देखने में आती है। अपने स्थान में दोष जब संचित होता है अथवा दूसरे स्थान से प्रकुपित दोष आने पर विकार उत्पन्न होता है, यथा शिर स्वभावत॰ कफ का स्थान है, वहाँ कफ का सचय होने पर कफज रोग-प्रतिश्याय, गौरव आदि होगे। किन्तु यदि नीचे से प्रकुपित वायु शिर में अधिष्ठित हो जायगी तब शिर शूल होगा। इसी प्रकार फुफ्फुस में कफसचय से श्लैष्मिक शोथ होगा जब आर्द्र ध्वनि मिलेगी किन्तु प्रकुपित वायु के सपर्क से यह शोथ शुष्क हो जाता है जब शुष्क ध्वनि मिलने लगती है। रोगों के विमर्श मे इन बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। विशिष्ट रोगों के कारण विशिष्ट अङ्गों मे क्या विकृति होती है इसका विस्तृत अध्ययन सप्राप्ति-प्रकरण मे करना चाहिए। इसके लिए अर्वाचीन ग्रन्थों का भी अवलोकन करें।

सव दोषों के प्रसर में वायु नेता होने के कारण विशिष्ट अंगों मे वात के कारण जो विकृति होती है उसका वर्णन सविस्तर किया गया जो नीचे दिया जाता है। इसी प्रकार वात तथा अन्य दोषों के लक्षणों का अधिष्ठानभेद से अनुमान कर लेना चाहिए।

दोषों मे वात की प्रधानता होने से विभिन्न अधिष्ठानों में आश्रित वात का लक्षण सविस्तर वर्णित है यथा—

१. **कोष्ठ**—गत वात मूत्रपुरीष का अवरोध, ब्रध्न, हृद्रोग, गुल्म, अर्श तथा पार्श्वशूल उत्पन्न करता है।[1]

२. **आशय**—गत वात कास, कण्ठशोष, मुखशोष, श्वास, छर्दि, मूर्च्छा, तृष्णा, हृद्ग्रह तथा पार्श्वशूल उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त हृदय-नाभि-पार्श्व-उदरशूल, उद्गार एवं विसूचिका होती है।[2]

३. **पक्वाशय**—स्थित वात से अन्त्रकूज, शूल, आटोप, मूत्रपुरीष में कृष्ट, आनाह एव त्रिकशूल होते हैं।[3]

४. **गुद**—स्थ वात से पुरीषमूत्रवात का अवरोध, शूल, आध्मान, अश्मरी, शर्करा, जंघा-ऊरू-त्रिक पाद-पृष्ठ-विकार तथा शोप होते हैं।[4]

---

१ 'तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते॥'
(च. चि २८)

२ 'हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिका.।
कासः कण्ठास्यशोपश्च श्वासश्चामाशयस्थिते॥'
(च. चि २८)

३ 'पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्॥'
(सु. नि. १)

४ 'ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः।
जंघोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषा गुदे स्थिते॥'
(च. चि २८)

५. **श्रोत्र**—आदि इन्द्रियों में स्थित वात से इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है।[1]

६ **सर्वांग**—गत वात अंगस्फुरण, चेष्टाराहित्य तथा सन्धिशूल उत्पन्न करता है।[2]

७. **सन्धि**—गत वात से सन्धियों में शूल, शोथ, चेष्टा में पीड़ा तथा क्रियाराहित्य उत्पन्न होता है।[3]

८. **स्नायु**—गत वात वाह्यायाम, आभ्यन्तरायाम, खल्ली, कुब्जता, स्तम्भ, कम्प, शूल, आक्षेप आदि सर्वांगगत या एकांगगत रोग उत्पन्न करता है।[4]

९. **सिरा**—स्थित वात शूल, शोथ, शोष, स्पन्दन तथा सिरासुप्ति उत्पन्न करता।[5]

१०. **मर्म**—मर्मस्थानों में प्रधान मर्म तीन हैं—शिर, हृदय और वस्ति। इनके विकार प्रायः वातजन्य होते हैं।[6] इनके अतिरिक्त अन्य मर्मों मे आघात लगने से वायु का प्रकोप होता है और उससे वेदना, वैकल्य आदि लक्षण होते हैं।

वृद्ध वाग्भट्ट ने इसी प्रकार अधिष्ठान भेद से कफ और पित्त दोषों का भी वर्णन किया है।

---

१. 'श्रोत्रादिष्विन्द्रियवध कुर्याद् दुष्टः समीरणः।' (च चि २८)

२ 'सर्वांगकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः॥' (च. चि २८)

३. 'हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च।' (सु. नि १)

४ 'स वाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्जयमथापि वा।
सर्वांगैकांगरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः॥' (मा. नि)

५. 'कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्।' (सु नि १)

६ 'किं त्वेतानि विशेषतोऽनिलाद्रक्ष्याणि।' (च सि ९)

	पित्त	कफ
१. रसगत	विस्फोटक, मसूरिका	स्तम्भ, श्वेतावभासता
२. रक्तगत	विसर्प, दाह	पाण्डुरोग
३. मांसगत	मांसक्रोथ	अर्बुद, अपची, स्तैमित्य, गौरव
४. मेदोगत	सदाह ग्रन्थि, स्वेद, तृषा, छर्दि	मेदोरोग, प्रमेह
५. अस्थिगत	अस्थिदाह	अस्थिस्तब्धता
६. मज्जगत	हारिद्रनखनेत्रता	शुक्लनेत्रता
७. शुक्रगत	शुक्र की पूतिता, पीताव-भासता	शुक्रसंचय
८. सिरागत	क्रोधनता, प्रलाप	विबन्ध, गौरव, स्तब्ध-गात्रता
९. स्नायुगत	तृषा	सन्धिशोथ
१०. कोष्ठगत	मद, तृषा, दाह	उदररोग, अरुचि, अग्नि-मांद्य
११ सर्वांगगत	अन्य पैत्तिक, विकार	अन्य श्लैष्मिक विकार
१२. इन्द्रिय	पैत्तिक विकार	कफज विकार

वातप्रकोप से अंगप्रत्यंगों में शूल, स्पन्दन, कर्मराहित्य, शोष, संकोच, आक्षेप आदि लक्षण होते हैं। पित्तप्रकोप से दाह, राग, सन्ताप आदि लक्षण होते हैं। कफप्रकोप से शैत्य, शोथ और गुरुत्व ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[1]

१ 'दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते।
शैत्यशोथगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते॥' (सु नि. १)

षष्ठ अध्याय

रोग-परीक्षा

(Case-study)

रोगि परीक्षा के बाद रोग-परीक्षा का प्रसंग आता है। चिकित्सा के पूर्व सर्वप्रथम रोग की परीक्षा करे तदनन्तर औषध की परीक्षा करे। रोगों के संबन्ध मे उनकी विशेषताओ का अध्ययन करने पर जब चिकित्सा की जाती है तब लाभ निश्चित होता है। रोगि-परीक्षा के द्वारा संग्रहीत सकेतों को निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति इन पॉच भागों मे क्रम से व्यवस्थित करना चाहिए और तदनुसार रोग का निर्णय करना चाहिए।

निदान-पंचक

रोग-परीक्षा को 'निदान' भी कहते हैं। जिस प्रकार 'परीक्षा' शब्द भाववाचक और करणवाचक दोनों है उसी प्रकार 'निदान' शब्द भी है। इस प्रकार 'निदान' शब्द 'रोगनिणय' तथा रोगनिर्णय के साधन इन दोनों अर्थों का बोधक होता है। इसके अतिरिक्त, 'निदान' शब्द 'कारण' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

रोगविनिश्चय के साधन पॉच हैं, इन्हे 'निदानपंचक' कहते हैं। ये हैं—निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति।[1] इन पॉचों से रोगज्ञान में सहायता मिलती है। यद्यपि ये पृथक् पृथक् भी व्याधि का सकेत करने में पर्याप्त होते हैं तथापि रोग के पूर्ण ज्ञान के लिएइन पॉचों समस्त ज्ञान आवश्यक होता है। इसका कारण यह है कि पॉचों साधन व्याधि के विभिन्न काल तथा विविध पक्षों का उद्घाटन पृथक् पृथक् विशिष्ट रूप से करते हैं। अत एव व्याधि के पूर्ण ज्ञान के लिए सबका एकत्रीकरण आवश्यक है।

आयुर्वेदीय विद्वानों ने निदानपचक का महत्त्व विस्तार से बतलाया है। सबका प्रयोजन पृथक् पृथक् भी लिखा है। यथा—

---

१. 'निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञान रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥' (मा. नि)

निदान—१. निदान उत्पन्न और अनुत्पन्न व्याधि का बोधक है अर्थात् यह वर्त्तमान और भविष्यत् कालों में व्याधि के स्वरूप का संकेत करता है। यथा मृद्भक्षण से वर्त्तमान पाण्डु का तो बोध होता ही है, साथ ही उत्पन्न होनेवाले विकार का भी पता चलता है।

२. रोग की साध्यासाध्यता के ज्ञान मे निदान सहायक होता है। अल्प हेतु होने से रोग साध्य तथा अधिक हेतु होने से कष्टसाध्य और असाध्य होता है।

३ निदान का ज्ञान चिकित्सा में भी उपयोगी है। रोगनिवारण के लिए औषध के साथ साथ निदान-परिवर्जन भी आवश्यक है।

पूर्वरूप—१ रोगविनिश्चय में यह सहायक होता है, यथा हारिद्रवर्ण या रक्तवर्ण मूत्र आने पर पैत्तिक प्रमेह तथा रक्तपित्त दोनों का सन्देह होता है। ऐसी स्थिति में पूर्वरूप निर्णायक होता है। यदि प्रमेह का पूर्वरूप मिलता हो तो प्रमेह, अन्यथा रक्तपित्त का निश्चय करना चाहिये।

२. रोग की साध्यासाध्यता के ज्ञान के लिए भी पूर्वरूप का ज्ञान अपेक्षित है। जिस रोग में पूर्वरूप अल्प हों वह साध्य तथा जिसमें समस्त हों वह असाध्य माना जाता है।

३. चिकित्सा में भी पूर्वरूप का विचार करना पड़ता है। यथा ज्वर के पूर्व-रूप में लघुभोजन देना चाहिये या अपतर्पण कराना चाहिए, ऐसी स्थिति में पूर्वरूप का ज्ञान न होने से व्यवस्था कैसे होगी?

रूप—१. बिना रूप के रोग का स्वरूप ही पूरा परिज्ञात नही हो सकता अत: रूपज्ञान परमावश्यक है। यथा बिना सन्ताप के ज्वर की प्रतीति सभव नही।

२. रोग की साध्यासाध्यता के लिए भी रूप का ज्ञान होना चाहिये। जिसमें रूप अल्प मिलता हो वह साध्य तथा जिसमें अधिक हो वह असाध्य होता है।

३. चिकित्सा के लिए तो यह परमावश्यक है ही। जब तक रोग का स्वरूप ही ज्ञात न होगा तो चिकित्सा किसकी होगी?

उपशय—१. संकीर्णलक्षण (जिसके लक्षण परस्पर मिलते जुलते हों) और अनभिव्यक्त-लक्षण रोगों के विशेष ज्ञान (सापेक्षनिश्चिति) के लिए उपशय

का ज्ञान सहायक होता है।[1] यथा आमवात और सन्धिवात में, यदि स्नेहन से कष्ट बढ़े तो आमवात अन्यथा सन्धिवात का निर्णय करना चाहिए। इसी प्रकार उष्णता से यदि रोग की शांति हो तो वातिक और यदि वृद्धि हो तो पैत्तिक समझना चाहिए।

२ उपशय से चिकित्सा के मार्ग का भी निर्देश मिलता है।

संप्राप्ति—१. सप्राप्ति से रोग की विकृति का पता चलता है तथा उसके दोष-दूष्य, अंशांशकल्पना, प्राधान्य, वल, काल आदि का ज्ञान होता है। यह विकृतिविज्ञान रोग की साध्यासाध्यता के लिये आवश्यक है।

२. सफल चिकित्सा के लिए भी रोग की संप्राप्ति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

इस प्रकार निदान-पंचक का ज्ञान रोगनिर्णय तथा चिकित्सा के लिए अतीव सप्रयोजन है।

वस्तुत 'निदान' शब्द का अर्थ 'कारण' है। यह कारण दो प्रकार का होता है—(१) उत्पादक कारण (२) ज्ञापक कारण। उत्पादक कारण के अर्थ मे केवल 'निदान' तथा ज्ञापक कारण में समस्त निदान-पचक लिया जाता है।[2]

निदानपञ्चक की ज्ञानसाधनता

'निदानपञ्चक के सामान्य लक्षण का निरूपण करते हुये विजयरक्षित ने लिखा है :—

'निदानमिति करणे ल्युट् तेन व्याधिनिश्चयकरणं निदानमिति निदानपञ्चक-सामान्यलक्षणम्।'

स्व० महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन ने सिद्धान्तनिदान की विवृति में इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने यह कहा है कि 'निदान' शब्द में भाव में ल्युट् हुआ है, न कि करण में। अत निदान आदि ज्ञान के विषय हैं, न कि ज्ञान के साधन, जैसा कि मधुकोपकार ने लिखा है—'व्याधेर्ज्ञातव्यस्य पञ्च ज्ञानोपाया भवन्ति।' इस पक्ष में उन्होंने दो हेतु दिये हैं—आर्षमतविरोध तथा युक्तिविरोध।

---

१ 'गूढलिंगं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' (च वि. ४.)

२ 'व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्।' (मधुकोष)

इस सम्बन्ध में उन्होंने सुश्रुत एवं चरक के निम्नलिखित वाक्यों का उद्धरण दिया है।

'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा पंचभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन च' (सुश्रुत)
'त्रिविध खलु रोगविशेषविज्ञान'·· ··········'परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात्' (चरक)

उपर्युक्त वाक्यों के आधार पर कविराज जी ने यह दिखलाया है कि पंचेन्द्रिय तथा प्रश्न एव त्रिविध प्रमाण ही रोगज्ञान के उपाय है, न कि निदानादिपंचक। किन्तु मेरी नम्र सम्मति मे ये वस्तुत' रोगिपरीक्षा के साधन हैं, न कि रोगपरीक्षा के, जैसा कि वह प्रसङ्ग देखने से स्पष्ट होता है।

सुश्रुत के उपर्युक्त अंश का प्रारम्भ इस प्रकार होता है —

'ततो दूतनिमित्तशकुनमंगलयानुलोम्येन आतुरगृहमभिगम्य उपविश्य आतुर·मभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च ।'

इससे स्पष्ट है कि ये रोगिपरीक्षा के ही उपाय है और परम्परा-सम्बन्ध से ही रोगज्ञान के साधन हो सकते है। इसी प्रकार चरक ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है —

'प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्समानः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थानातुर शरीरगतान् परीक्षेतान्यत्र रसज्ञानात् ।'

इसमें भी रोगी के शरीरगत इन्द्रियार्थों की परीक्षाओं का ही निर्देश किया गया है, न कि रोगिपरीक्षा का। इसी आशय को वाग्भट्ट ने पूर्णत अभिव्यक्त कर दिया है और रोगिपरीक्षा तथा रोगिपरीक्षा के साधनों का पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है।

'दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् ।
रोग निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः ॥'

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त साधन रोगिपरीक्षा के ही बतलाये गये हैं, न कि रोगपरीक्षा के। वस्तुत सुश्रुत और चरक में वर्णित उपर्युक्त षड्विध और त्रिविध रोगज्ञान के साधनों तथा निदानपचकरूप रोगज्ञान के साधन मे कोई विरोध नही है, प्रत्युत ये दोनों प्रकार के साधन रोगज्ञान के लिये आवश्यक है। यथा सर्वप्रथम धूम का प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होता है। तदनुसार तद्रूप लिंग से वह्निरूप लिंगी का बोध होता है। उसी प्रकार रोग-

ज्ञान में भी इन षड्विध और त्रिविध साधनों के द्वारा निदानपंचकरूप लिंग का ग्रहण होता है और उसके बाद उस लिंग से व्याधिरूप लिंगी का बोध होता है।

इस प्रकार निदानपंचक की व्याप्ति-ज्ञान-साधनता स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। साथ ही इसे आर्षमत की अनुकूलता भी प्राप्त है। महर्षि चरक ने स्पष्ट शब्दों में निदानपंचक की ज्ञानसाधनता का निर्देश किया है :—

'तस्योपलब्धिः निदान-पूर्वरूप-लिंगोपशय-सम्प्राप्तितश्च' (नि० स्था० ७ अ०) अर्थात् 'उस व्याधि का ज्ञान निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति के द्वारा होता है।' इसमें स्पष्टतः व्याधि बोध्य तथा निदानपचक बोधक स्वीकार किये गये हैं। चक्रपाणि ने भी लिखा है :—

'अविज्ञाते हि व्याधौ चिकित्सा न प्रवर्तते। अतः सामान्येन व्याधिज्ञानोपाय-निदानपंचकाभिधानम्' ॥

यहाँ पर भी निदानपचक व्याधिज्ञान के उपाय ही बतलाये गये हैं। इस दृष्टिकोण से ही उसे 'आर्षमतविरोध' कहा जा सकता है।

दूसरा हेतु उन्होंने युक्तिविरोध दिया है। इस प्रसंग में उन्होंने यह दिखलाया है कि 'व्यापारवान् कारण को करण कहते हैं' और 'निदान आदि में कोई व्यापार नही है।' मेरे मत से निदान में रोगोत्पादकत्वरूप, पूर्वरूप मे भाविव्याधिबोधकत्व-रूप, रूप में उत्पन्न व्याधिबोधकत्वरूप तथा उपशय और सम्प्राप्ति में उत्पन्ना-नुत्पन्न व्याधिबोधकत्वरूप व्यापार अवश्य प्रतीत होते हैं।

वैयाकरणों ने करण की निम्नलिखित परिभाषा की है :—

क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम्॥

(सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनी)

अर्थात् 'जिसके व्यापार के अनन्तर क्रिया की फलनिष्पत्ति हो उसे करण कहते हैं।' इसके अनुसार पंचनिदान के बोधकत्वरूप व्यापार के अनन्तर ही रोग-ज्ञानरूप क्रियाकी फलनिष्पत्ति होती है अतः वस्तुतः पञ्चनिदान ही व्याधि-ज्ञान के करण हैं।

इसके अनन्तर वे लिखते है—'यदि यह कहा जाय कि लिंगज्ञान से लिंगी का ज्ञान होता है तो वह भी ठीक नही है। जैसे वह्नि का लिंग धूम वह्निज्ञान के प्रति करण नही है प्रत्युत व्याप्तिज्ञान ही करण है, जैसा कि तार्किकों ने लिखा है :—

'व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत्।
अनुमायां ज्ञायमानं लिंगं तु करणं न हि॥'

विवेचना के लिये इस विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। 'वह्निमान् पर्वतो धूमवत्त्वात्' इस अनुमान मे सर्वप्रथम पक्ष (पर्वत) धूम का प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होता है और पूर्वानुभवजन्य व्याप्ति का स्मरण होता है। उसके बाद 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत' यह परामर्श होता है और उससे अनुमिति होती है। इसी प्रकार 'ज्वरवान् पुरुष एवंनिदानवत्त्वात्' इस अनुमानज्ञान में ज्वर के निदानपंचक का त्रिविध या षड्विध साधनों से प्रत्यक्ष होने पर उससे 'यत्र यत्र एवंनिदानं तत्र तत्र ज्वर'' इस व्याप्ति का स्मरण होता है और इस प्रकार 'एवनिदानव्याप्यज्वरवानयं पुरुष' यह परामर्श होता है और अन्त में अनुमान-ज्ञान होता है। इस प्रक्रिया में धूमरूप लिग से सर्वप्रथम वह्निरूप लिंगी का बोध होता है। और इसलिये 'वह्निव्याप्यो धूम'' इस व्याप्ति का स्मरण होता है। इस व्याप्ति के द्वारा प्रकृत उदाहरण मे परामर्श होता है और फलस्वरूप अनुमिति होती है। 'व्यापारस्तु परामर्श·'—इस श्लोक का अर्थ यह है कि गृह्यमाण लिंग अनुमान-ज्ञान में करण नही है, किन्तु इसका अभिप्राय यह भी नही है कि लिंग से लिंगी का ज्ञान नही होता। वस्तुत गृह्यमाण लिग से लिगी का ही ग्रहण होता है और पश्चात् दोनों के नियत साहचर्यभाव (Invariable Concomittance) के ज्ञान से ही पक्ष मे साध्य की सत्ता का परिज्ञान होता है। लिग और लिंगी के साहचर्यभाव को ही व्याप्ति कहते है। इसलिये यद्यपि अनुमान-ज्ञान में व्याप्ति करण है, तथापि लिंगी के ग्रहण में लिग ही साधन होता है। इसीलिये प्राचीन नैयायिकों ने लिंग को ही अनुमिति का करण माना है:—'व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिगमनुमितिकरणम्।' उनका मत है कि अनुमिति में परामर्श-मात्र कारण नही है, वलिक लिंग का परामर्श भी कारण है अतएव लिग ही करण हो सकता है। मीमांसकों की भी इसमें सहमति है।

नवीन तार्किको ने इसका प्रतिवाद इस आधार पर किया है कि यदि अनुमिति का करण लिग माना जायगा तो अनागत या विनष्ट लिंग से करण के अभाव में अनुमिति नही हो सकेगी। अत उन लोगों ने व्याप्ति-विशिष्ट लिंग के पक्षवृत्तित्व ज्ञान को ही अनुमिति का करण माना है। नवीन मत से भी व्याप्ति को यद्यपि अनुमिति का करण माना गया है, तथापि लिगी के ग्रहण के लिये लिग की साधनता

है। लिंगज्ञान के बिना व्याप्तिज्ञान असम्भव है। अतः व्याप्तिज्ञान का आधार भी लिंगज्ञान ही है और इस दृष्टि से परम्परा-सम्बन्ध से लिंग ही अनुमिति का मूल है। व्यक्तिविवेक के रचयिता तार्किकशिरोमणि महिम भट्ट ने भी इसी प्रकार लिंग को प्रधानता देते हुये अनुमान का लक्षण किया है·— 'पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाल्लिंगाल्लिंगिनो ज्ञानम्' अर्थात् 'विशिष्ट लिंग से लिंगी का ज्ञान ही अनुमान कहलाता है।' इससे भी लिंग की करणता स्पष्ट है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में भी लिंग (Middle term) की स्वाधीनता एवं उसका महत्त्व स्वीकृत किया जाता है, जो निम्न वाक्यों से स्पष्ट है·—

'It is of great importance to note the function of the middle term The relation between the two extremes can not be established independently and immediatly without the medium or help of the middle term

—Logic, K. Sen.

अर्थात् 'लिंग के कार्य का अवलोकन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पक्ष का पारस्परिक सम्बन्ध लिंग की सहायता से ही सकता है, न कि स्वतन्त्र और सन्निकृष्ट रूप में।' इस प्रकार पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों ने भी लिंग की करणता का ही समर्थन किया है। स्वयं कविराजजी की भी इस युक्ति में अरुचि प्रतीत होती है जो कि उनके निम्न वाक्य से स्पष्ट है—

'न च निदानादीनां सर्वेषां लिंगत्वमपि, निदानादिपंचकान्तर्भूतायाः सम्प्राप्तेर्व्याधिलिंगत्वाभावात्।'

कविराजजी का दूसरा आक्षेप यह है कि निदानपंचक में सभी व्याधि के लिंग भी नहीं है, क्योंकि सम्प्राप्ति व्याधि का लिंग नहीं अपितु स्वरूप ही है, अतः बोधक न होकर वह बोध्य ही हो सकती है। प्रमाणस्वरूप इन्होंने चरक का निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है।

'सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः।'

और उसका अर्थ किया है कि 'सम्प्राप्ति, जाति और आगति, ये व्याधि के ही पर्यायवाचक शब्द है।' इसकी जो व्याख्या चक्रपाणि ने की है वह इस प्रकार है·—

'सम्प्राप्त्यागतिजातिशब्दैर्योऽभिधीयते व्याधेः सा सम्प्राप्तिः।'

अर्थात् व्याधि के सम्बन्ध में सम्प्राप्ति, आगति, जाति, इन शब्दो से जिसका

कथन किया जाय वह सम्प्राप्ति है। यदि ये केवल पर्याय होते तो इसके पूर्व व्याधि के पर्यायवाचक शब्दो की जो गणना की गई है (तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकार इत्यनर्थान्तरम्) उससे इसका पृथक् निर्देश नही किया जाता। वास्तव में निदान आदि की तरह सम्प्राप्ति भी व्याधि का लिंग है। इसीलिये विजयरक्षित ने केवल 'व्याधिजन्म सम्प्राप्ति' यह लक्षण न कर 'दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षित व्याधिजन्म सम्प्राप्ति' इस लक्षण में अपनी सहमति प्रकट की है। इसका व्याधिबोधकत्व चरक की टीका में चक्रपाणि ने भी माना है।

'इह पञ्चसम्प्राप्तिः व्याधिविशेषं बोधयत्येव'।

अत सम्प्राप्ति व्याधिका लिग है इसमें कोई आपत्ति प्रतीत नही होती।

अन्त में विजयरक्षित का यह मत कि 'पचनिदान व्यस्त तथा समस्त दोनों रूपों से व्याधि का बोध कराते हैं', कविराजजी की आलोचना का विषय बना है। साथ ही एक दृष्टान्त के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जिस प्रकार हाथी के शुण्ड, कान, पैर आदि अवयवों के व्यस्त तथा समस्त रूप से परिज्ञात होने से उनका सम्यक् ज्ञान नही होता, बल्कि समस्त रूप से ही उनका ज्ञान होने से हाथी का सम्यक् परिज्ञान हो सकता है। उनके कथन का साराश यह है कि व्यस्त रूप से अवयवों का ज्ञान होने से अवयवी का परिज्ञान नही होता। वस्तुत अवयवी के परिज्ञान के लिये समस्त अवयवों का ज्ञान होना आवश्यक है किन्तु अवयवावयविभाव-सम्बन्ध के अतिरिक्त सम्बन्ध जहाँ पर हो वहाँ यह आवश्यक नही। यह सत्य है कि व्याधि के सम्यक् ज्ञान के लिये समस्त निदानपचक की आवश्यकता है, किन्तु व्यस्त रूप से भी उनका स्वतन्त्र महत्त्व प्रतिपादित करने के लिये पृथक् निर्देश किया गया है। साथ ही लेखक का यह अभिप्राय है कि सभी का प्रयोजन भी भिन्न भिन्न है। इसलिये व्याधिज्ञान के लिये सभी की आवश्यकता है। समस्त निदानपचक से व्याधि के सम्यक् ज्ञान का महत्त्व विजयरक्षित का अभीष्ट ही है, जैसा कि उनके निम्न प्रवचन से स्पष्ट है —

'एकेन प्रतिपादितेऽपि व्याधावपरेऽवश्यमभिधातव्याः भिन्नप्रयोजनत्वात्'।

विद्वान् लेखक ने जो उद्धरण दिया है—

'तस्माद् व्याधीन् भिषगनुपहतसत्त्वबुद्धिहेत्वादिभिर्भावैर्यथावदनुबुद्ध्येत'।

उन पदों में भी 'भाव' शब्द साधनवाचक ही है। गगाधरराय ने इसकी टीका करते हुये लिखा है—

'यस्मात् तत्र निदानं कारणमित्यादिग्रन्थेन विपरीतनिदानपूर्वरूपलिंगोपशयसम्प्राप्तिस्तस्योपलब्धिस्तस्माद् व्याधीननुपहतसत्त्वबुद्धिर्भिषक्हेत्वादिभिर्निदानादिभिरुक्तलक्षणलक्षितैर्भावैः''''बुद्ध्येत।'

चक्रपाणि ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है :—

'यतः यावन्तो ज्ञानोपाया व्याधीनां ते सर्व एवोपदर्शनीयाः।'

निदान

लक्षण—रोग को उत्पन्न करने वाले कारण को 'निदान' कहते हैं।[१] जब किसी प्रतिकूल आहार विहार का सेवन किया जाता है तब दोष प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न होता है। ऐसा रोगजनक आहार और विहार 'निदान' कहलाता है।

भेद—निदान का वर्गीकरण अनेक दृष्टियों से किया गया है यथा—

(क) सर्वप्रथम निदान चार प्रकार का बतलाया गया है—

१. सन्निकृष्ट—यथा ज्वर में मिथ्या आहार-विहार।

२. विप्रकृष्ट—यथा ज्वर में ऋतुजन्य दोष-प्रकोप।

३. व्यभिचारी—जो कारण दुर्बल होने से व्याधि उत्पन्न करने में असमर्थ हों।

४. प्राधानिक—आत्ययिक और तीव्र कारण यथा विष आदि।

(ख) पुनः निदान तीन प्रकार का कहा गया है—

१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग—रूप-रसादि इन्द्रियार्थों का अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग।

२. प्रज्ञापराध—बुद्धिभ्रंश और मिथ्याज्ञान के कारण अपथ्य में प्रवृत्ति।

३. परिणाम—ऋतुकालज दोषसंचय या कर्मफल।

(ग) निदान पुनः तीन प्रकार का होता है—

१. दोषहेतु—दोषों को प्रकुपित करने वाले मधुर आदि रस तथा अन्य कारण।

२. व्याधिहेतु—जो दोषों को प्रकुपित करने पर भी उनके द्वारा विशिष्टव्याधि उत्पन्न करे यथा मृद्भक्षण दोषों को प्रकुपित करके भी पाण्डुरोग की ही उत्पत्ति करता है।

---

१. 'सेतिकर्त्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्।' (मधुकोष)
'तत्र निदानं कारणम्।' (च. नि. १)

३. उभयहेतु—जो विशिष्ट प्रकार से दोषों को भी उत्पन्न करे और उनके द्वारा विशिष्ट रोग की उत्पत्ति करे वह उभयहेतु कहलाता है। यथा हाथी, अश्व आदि सवारी करने तथा वातरक्तवर्धक आहार करने से दोष एक विशेष प्रकार से शरीर के अधोभाग मे सचित होकर पादमूल या हस्तमूल से वातरक्त का प्रारम्भ करता है।

(घ) पुन' निदान दो प्रकार का होता है।

१. उत्पादक—यथा हेमन्त ऋतु में उत्पन्न मधुर रस कफ का उत्पादक कारण है।

२. व्यञ्जक—वसन्त ऋतु में तीव्र सूर्यसन्ताप से हेमन्त का संचित कफ प्रकुपित होता है। अतः सूर्यसन्ताप कफ का व्यञ्जक कारण है।

(च) निदान पुन दो प्रकार का होता है—

१. वाह्य—मानव शरीर के वाहर की परिस्थितियाँ (आहार, विहार, काल आदि) जो शरीर को प्रभावित कर रुग्ण बनाती है।

२. आभ्यन्तर—शरीर के भीतर रहने वाले पदार्थ (दोष, धातु, मल) जो दूषित होकर रोग उत्पन्न करते हैं।[1]

पूर्वरूप

रोग के पूर्वकालिक लक्षणों को पूर्वरूप कहते है।[2] इससे भावी व्याधि का बोध होता है। अवस्थाभेद से यह दो प्रकार का होता है—(१) सामान्य (२) विशिष्ट।[3] सामान्य पूर्वरूप वह है जिससे व्याधि का केवल सामान्य सकेत होता

---

१. 'चत्वारो व्यभिचारिदूरनिकटप्राधानिकत्वात् पुन-
स्तेऽसात्म्येन्द्रियकार्थयुक्परिणतिप्रज्ञापराधात् त्रिधा।
रुग्दोषोभयकारणादपि तथा द्वौ व्यञ्जकोत्पादकौ
वाह्याभ्यन्तरभेदतोऽपि कथिता हेतोः प्रभेदा अमी॥' (मधुकोष)

२. 'प्राग्रूपं येन लक्ष्यते। उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः।
लिंगमव्यक्तमल्पत्वात् व्याधीना तद्यथायथम्॥' (मा नि)
'भाविव्याधिवोधकमेव लिंग पूर्वरूपम्।' (मधुकोष)
'पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः।' (च नि)

३. 'द्विविध हि पूर्वरूपं भवति, सामान्य विशिष्ट च। तत्र सामान्यं येन दोषदूष्यसमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः। (मधुकोष)

है, दोषदूष्य-विशेषता का ज्ञान नहीं होता यथा श्रम, ग्लानि, विवर्णता आदि पूर्वरूप से केवल यही पता चलता है कि ज्वर होने वाला है किन्तु यह ज्ञान नहीं होता कि यह ज्वर वातज होगा या पित्तज या कफज। विशिष्ट पूर्वरूप वह है जिससे रोग के विकृत दोष दूष्य का भी किंचित संकेत मिलता है—यथा जृम्भा से वातज्वर, नेत्रदाह से पित्तज्वर तथा अरुचि से कफज्वर का परिज्ञान होता है। दोष के अल्प होने से पूर्वरूप की अवस्था में लक्षण अव्यक्त रहते हैं। वही दोष के बढ़ने पर रूपावस्था में परिणत हो जाते हैं। पूर्वरूप में अव्यक्त लक्षण होने के कारण केवल भावी व्याधि का संकेतमात्र होता है जब कि रूप में लक्षण पूर्णतः व्यक्त हो जाने के कारण उसकी विकृति का पूर्ण परिज्ञान होता है। दोष के स्थानसंश्रय की अवस्था में पूर्वरूप उत्पन्न होता है।[1]

रूप

उत्पन्न (वर्तमान) व्याधि का बोध करानेवाला लक्षण-समूह रूप कहलाता है। इस अवस्था में लक्षणों के पूर्ण व्यक्त हो जाने से व्याधि का स्वरूप पूर्णतः उद्घाटित हो जाता है।[2] यथा ज्वर में सन्ताप आदि लक्षण जब पूर्णतः व्यक्त हो जाते हैं तब उसे ज्वर का रूप कहते हैं। रूप भी वस्तुतः दो प्रकार का होता है— (१) विशिष्ट (२) सामान्य। विशिष्ट रूप को 'आत्मरूप' या 'प्रत्यात्मलक्षण' भी कहते हैं। यह ऐसा लक्षण है जिसके आधार पर रोग का स्वरूप खड़ा होता है, इसलिए यह लक्षण नियत और अव्यभिचारी होता है, यथा ज्वर का आत्मरूप सन्ताप, अतिसार का आत्मरूप गुद से अतिद्रवसरण आदि। बिना सन्ताप के ज्वर नहीं हो सकता, बिना अतिद्रव-पुरीषसरण के अतिसार नहीं हो सकता, अतः नियत रूप से उपस्थित होने के कारण ये लक्षण आत्मरूप कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त व्याधि के समस्त रूप को बनाने वाले लक्षणों को सामान्य रूप कहते हैं, यथा ज्वर में स्वेदावरोध, अङ्गमर्द आदि। दोष की व्यक्त अवस्था में रूप उत्पन्न होता है।

---

१ 'स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिंगं पूर्वरूपं तदुच्यते ॥'

२. 'उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिंगं रूपम्।' (मधुकोष)
'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते।' (मा. नि.)
'प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिंगम्।' (च. नि. १)

लक्षण और रोग में केवल प्राधान्याप्राधान्य का अन्तर है। कोई विकार जब प्रधान होता है तब रोग और अप्रधान होकर अन्यमुख विकार का अनुगामी और व्यञ्जक होता है तब लक्षण कहलाता है। यथा सन्ताप जब प्रधान विकार होता है जब ज्वर रोग और जब यक्ष्मा आदि अनुगामी और व्यञ्जक होता है तब लक्षण कहलाता है।[1]

उपद्रव

व्याधि के मूलभूत दोष की अत्यधिक वृद्धि और उग्रता के कारण जब विकार प्रबल होता है तब उससे अन्यान्य उग्र लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन नवागत लक्षणों को 'उपद्रव' कहते हैं।[2] यथा ज्वर में वातदोष के उग्र होने से प्रलाप, पित्तदोष के उग्र होने से मूर्छा तथा कफदोष के उग्र होने से तन्द्रा होती है।

उदाहरणार्थ कुछ प्रमुख रोगों के मुख्य उपद्रवों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है :—

१. विसूचिका

१. निद्रानाश
२. अरति
३. कम्प
४. मूत्राघात
५. संज्ञानाश[3]
६ फुफ्फुसशोथ
७ पार्श्वशूल
८ कर्णमूलशोथ
९ गलवृषणवृक्कवस्तिशोथ
१०. सव्रणशुक्र
११ विद्रधि और कोथ
१२. गर्भपात

२ रक्तपित्त

१. दौर्बल्य
२ अरुचि
३. अजीर्ण
४ श्वास
५. कास
६. ज्वर
७ अतिसार
८. शोफ
९. शोष

---

१. 'व्याधयस्ते तदात्वे तु लिंगानीष्टानि नामयाः।' (च नि ८)
'अरुच्यादयस्तु स्वरूपेण विकारा एव,
यदाऽन्यप्रतिपादकास्तदा लिंगान्युच्यन्ते।' (म को)

२ 'रोगारम्भदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकार उपद्रवः'
'स तन्मूलमूल एवोपद्रवसंज्ञकः' (सु सू. ३५)

३ 'निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता।
अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः॥' (मा नि)

१०. पाण्डु
११. स्वरभेद[1]
१२. छर्दि
१३. मद
१४. दाह
१५. मूर्च्छा
१६. अम्लपित्त
१७. [illegible]
१८. तृष्णा
१९. शिरःशूल
२०. पूतिनिष्ठीवन[2]

३. छर्दि

१. कास
२. श्वास
३. ज्वर
४. हिक्का
५. तृष्णा
६. अरति
७. हृद्रोग
८. मूर्च्छा[3]

४ हृद्रोग

१ क्लम
२. अवसाद
३. श्रम
४. शोष[4]
५. श्वास
६. शोथ
९ उदर रोग

५ प्रमेह

१. तृष्णा
२. ज्वर
३. अतीसार
४. दाह
५. दौर्बल्य
६ अरुचि
७. अजीर्ण
८. पूतिमांस
९. पिडका
१०. अलजी
११. विद्रधि[5]

---

१. उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोषपाण्डु-रोगाः स्वरभेदश्च ।'

२. दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा:,
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा ।
तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनत्वं,
भक्तद्वेषाविपाकौ विकृतिरपि भवेद् रक्तपित्तोपसर्गाः ॥' (मा. नि)

३. 'कासश्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवा. ॥' (मा नि)

४ 'क्लमः सादो श्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः । (मा० नि०)

५. 'उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां—
तृष्णाज्वरातीसारदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयश्च तत्प्रसंगाद् भवन्ति ।' (च० नि०)

दोषानुसार प्रमेह के निम्नाकित उपद्रव होते हैं—

श्लैष्मिक प्रमेह

१. अरुचि
२. अग्निमांद्य
३. छर्दि
४. निद्रा
५. कास
६. पीनस[1]

पैत्तिक प्रमेह

१. वस्तिशूल
२. जननेन्द्रियशूल
३. वृषणपाक
४. ज्वर
५. दाह
६. तृष्णा
७. अम्लिका
८. मूर्च्छा
९. अतिसार[2]

वातिक प्रमेह

१. उदावर्त्त
२. कम्प
३. हृच्छूल
४. अधैर्य
५. शूल
६. निद्रानाश
७. शोष
८. कास
९. श्वास[3]

६. शोथ

१. छर्दि
२. तृष्णा
३. अरुचि
४. श्वास
५. ज्वर
६. अतिसार
७. दौर्बल्य[4]

७. व्रण

१. विसर्प
२. पक्षाघात
३. सिरास्तम्भ
४. अपतानक
५. मोह
६. उन्माद
७. व्रणशूल
८. ज्वर
९. तृष्णा
१०. हनुस्तम्भ
११. कास
१२. छर्दि
१३. अतीसार
१४. हिक्का
१५. श्वास
१६. कम्प[5]

---

१. 'अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कास. सपीनसः ।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ।' (मा० नि०)

२. 'वस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरण ज्वरः ।
दाहस्तृष्णाम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥' (मा० नि०)

३. 'वातजानामुदावर्त्तः कफहृद्ग्रहलोलताः ।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ॥' (मा. नि.)

४ 'छर्दिस्तृष्णाऽरुचिः श्वासो ज्वरोऽतीसार एव च ।
सप्तकोऽयं सदौर्बल्य' शोथोपद्रवसंग्रहः ॥' (च. चि. १८)

५. 'विसर्पः पक्षवातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥

८. कुष्ठ

१. प्रस्राव	४. तृष्णा	७. दाह
२. अंगभेद	५. ज्वर	८. दौर्बल्य
३. अङ्गावयवपतन	६. अतीसार	९. अरुचि
		१०. अग्निमांद्य[1]

९. उदर रोग

१. छर्दि	५. श्वास	९. पार्श्वशूल
२. अतीसार	६. कास	१०. अरुचि
३. तमप्रवेश	७. हिक्का	११. स्वरभेद
४. तृष्णा	८. दौर्बल्य	१२. मूत्राघात
		१३. शोथ[2]

१०. अश्मरी

१. दौर्बल्य	४. शूल	७. उष्णवात
२. अवसाद	५. अरुचि	८. हृदयशूल
३. कृशता	६. पाण्डु	९. छर्दि[3]

कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः।
षोडशोपद्रवा प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः॥' (मा. नि.)

१ 'अस्यां चैवावस्थायामुपद्रवाः कुष्ठिनं स्पृशन्ति-तद्यथा—प्रस्रवणमंगभेदः पतनान्यङ्गावयवानां तृष्णाज्वरातीसारदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाश्च ।' (च. नि ५)

२. 'तदातुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति—छर्द्यतीसारतमकतृष्णाश्वासकासहिक्कादौर्बल्यपार्श्वशूलारुचिस्वरभेदमूत्रसङ्गादयः'—

'श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्काऽरुचिः सतृट्।
मूर्च्छाछर्द्यतिसारौ च निघ्नन्त्युदरिणं नरम्॥' (च चि. १३)

३ 'मूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान्।
दौर्बल्य सदन कार्श्यं कुक्षिशूलमरोचकम्॥
पाण्डुत्वमुष्णवात च तृष्णां हृत्पीडन वमिम्।' (सु नि ३)

११. ज्वर

१. कास
२. मूर्च्छा
३. अरुचि
४. छर्दि
५. तृष्णा
६. अतीसार
७. विबन्ध
८. हिक्का
९ श्वास
१०. अंगभेद[1]

१२. विषमज्वर (मलेरिया)

१. प्लीहाविकृति-शोथ, विदार, रक्तस्राव आदि।
२ कामला
३ वातिक विकार
४. मानसिक विकृति
५. गर्भिणी स्त्रियों में गर्भपात
६ कृष्णजलज्वर
७. क्षय
८. नेत्रविकार
९. वृक्कशोथ

१३. कालज्वर

१. चर्मरोग, व्रण, विस्फोट और शोथ
२. अतिसार, प्रवाहिका, कामला, यकृत् शोथ, यकृद्दाल्युदर
३. कास, फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल, पूयोरस, यक्ष्मा
४. रक्तपित्त
५. प्लीहाविदार
६ हृदयविस्तृति, हृद्द्रव, मूर्च्छा, पाण्डु
७. शोथ, उदररोग

१४ विसर्प

१. स्वरयन्त्रशोथ
२. पूतिरक्तता
३. फुफ्फुसशोथ
४. ओजोमेह
५. मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर
६. अपची

१५. सन्निपातज्वर (आन्त्रिकज्वर)

१ कर्णमूलशोथ, कण्ठशोथ, अतिसार, आध्मान, रक्तस्राव, अन्त्रविदार, कभी-कभी यकृच्छोथ, अन्त्रपुच्छशोथ, पित्तनलिकाशोथ।
२. नासारक्तस्राव, फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल, स्वरयन्त्रशोथ, वातोरस।
३ हृत्पेशीशोथ, हृदय की अनियमितगति, रक्तभाराल्पता, अवसाद, हृत्कार्यावरोध।
४. प्रलाप, सन्यास, मस्तिष्कावरणशोथ, कम्प, मानसिक दौर्बल्य।

---

१. 'कासो मूर्च्छाऽरुचिच्छर्दिस्तृष्णातीसारविड्ग्रहाः।
हिक्काश्वासाङ्गमर्दाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश॥'

५. बाधिर्य, कर्णशोथ, नेत्रशोथ, सव्रणशुक्र ।
६. ओजोमेह, वस्तिशोथ, वृक्कशोथ, मूत्राघात ।
७ जननेन्द्रियशोथ, वृषणशोथ ।
८. अस्थि-सन्धिविकार विशेषत श्रोणि, ऊर्वस्थि, अन्तर्जंघास्थि, पर्शुका और कशेरुदण्ड में ।
९ विस्फोट, विद्रधि, शय्याव्रण, खालित्य ।

१६. मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर

१. शिरस्तोय, मन्यास
२. बाधिर्य, अन्धता और अन्य इन्द्रियविकार
३ पक्षाघात
४. मानसिक रोग
५. सन्धिशोथ
६. चर्मरोग
७ फुफ्फुसशोथ, हृत्पेशीशोथ
८ कभी-कभी बहुमूत्र, रक्तमूत्रता, वृषणशोथ

१७ आमवात

१. हृदयविकार विशेषत द्विपत्रकपाटविकृति
२ फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल
३. प्रलाप, कम्प
४. मण्डलोत्पत्ति
५. ग्रन्थिरोग

१८. श्लैष्मिकज्वर

१. शूल
२ पाचनविकार
३. हृद्दौर्बल्य, हृदयशूल
४. श्वास

१९ रोमान्तिका

१. गलशोथ, कास, फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल, फुफ्फुसावरणशोथ, पूयोरस, श्वासकष्ट, स्वरयन्त्रशोथ, यक्ष्मा[1]
२. मुखपाक, अतीसार
३. हृत्पेशीशोथ
४. सविविकार
५. चर्मरोग
६. ओजोमेह, जननेन्द्रियशोथ
७. वर्त्मशोथ, अभिष्यन्द, सव्रणशुक्र
८ मध्यकर्णशोथ
९ शिर शूल, छर्दि, आक्षेप, पक्षाघात, स्वरभंग

---

१ 'प्रतिश्यायादथोकासः कासात् संजायते क्षयः ।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥' (मा. नि)

२०. मसूरिका

१ विद्रधि, व्रण आदि
२ कास, फुफ्फुसशोथ
३. हृत्पेशीशोथ
४. अभिष्यन्द, दृष्टिनाश
५. अतीसार, जिह्वाशोथ
६. वृक्कशोथ, वृषणशोथ, जननेन्द्रियकोथ
७. वातरक्त
८ वैवर्ण्य, बाधिर्य, खालित्य

२१ हृच्छूल

१ हृत्पेशीविकार
२. रक्तभाराधिक्य
३. श्वासकष्ट
४. हृदयावसाद

२२. रोहिणी

१. हृत्पेशीक्षय, रक्तभारात्पता, मूर्च्छा, छर्दि
२. पक्षाघात
३. कास, फुफ्फुसशोथ, वायुकोष-विस्तृति
४. कर्णान्तःशोथ, उपजिह्विकाशोथ

२३. पैत्तिक कास

१. रक्तपित्त (नेत्र, कर्ण, त्वचा एवं मस्तिष्क में रक्तस्राव), मस्तिष्क में रक्तस्राव होने पर—आक्षेप, पक्षाघात।
२. वायुकोषविस्तृति, श्वासनलिकाविस्तृति, वातोरस, आक्षेप, श्वासावरोध
३. हृदय के दक्षिण भाग का प्रसार
४. छर्दि, दौर्बल्य, गुदभ्रंश
५. कास, फुफ्फुसशोथ, यक्ष्मा
६. ओजोमेह
७. कर्णान्त शोथ

२४. कास

१ फुफ्फुसशोथ
२. श्वासनलिकाविस्तृति
३. वातोरस
४. यक्ष्मा

२५. फुफ्फुसशोथ

१. फुफ्फुस-विद्रधि-कोथ, पार्श्वशूल, आर्द्र फुफ्फुसावरणशोथ, पूयोरस
२. हृत्पेशीशोथ
३. अतीसार, आध्मान, कामला, उदरावरणशोथ, वातविकार
४. कर्णमूलशोथ, कर्णान्तःशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, वृक्कशोथ, संधिशोथ।

२६. यक्ष्मा

१. स्वरयंत्रशोथ, कास, पार्श्वशूल, वातोरस, वायुकोषविस्तृति, फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसकोथ, अतीसार, उदरावरणशोथ, भगन्दर, हृत्पेशीक्षय, हृदन्तःशोथ, वृक्कविकार, वस्तिशोथ, मेरुदण्डक्षय।

२७. पार्श्वशूल

१. फुफ्फुसावरण की स्थूलता और संसक्ति, फुफ्फुसशोथ, पूयोरस, यक्ष्मा।

२८. प्रवाहिका

१. गुदभ्रंश, अन्त्रावरोध
२. रसक्षय, विषमयता, हृदयावसाद
३. हृत्पेशीशोथ
४. संधिशोथ
५. अभिष्यन्द तथा अन्य नेत्रविकार
६. कर्णमूलशोथ, उदरावरणशोथ, जलोदर, वातिक विकार।

उपशय

किसी रोग में औषध, अन्न और विहार के लाभकर उपयोग को 'उपशय' तथा हानिकर उपयोग को 'अनुपशय' कहते हैं। उपशय को 'सात्म्य' और अनुपशय को असात्म्य भी कहते हैं।[1] रोग और उसके कारणभूत दोष के विपरीत द्रव्यों के प्रयोग से लाभ होता है। कभी-कभी उपचार देखने में रोग और उसके कारणभूत दोष के सदृश मालूम होता है किन्तु आभ्यन्तर प्रभाव के कारण वह रोगशामक होता है। ऐसे उपायों को 'विपरीतार्थकारी' कहते हैं।[2]

इस प्रकार उपशय कुल मिलाकर १८ प्रकार का होता है:—

(क) हेतुविपरीत

१. औषध—रोग के कारणभूत दोष का विचार कर जो लाभकर ओषधि दी

---

१. 'हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः।
विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसञ्ज्ञितः॥' (मा नि.)

'उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः।' (च नि १)

'औषधादिजनितः सुखानुबन्ध उपशयः।' (म को.)

२. 'वैधर्म्यं च हेतुसमानधर्मकत्वेऽपि रोगप्रशमकत्वम्' (म को)

जाती है वह हेतुविपरीत है, यथा शीत से उत्पन्न कफज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण द्रव्यों का प्रयोग।

२. **अन्न**—यथा श्रमजन्य वातज्वर में मांसरस और ओदन का प्रयोग। मांस तथा ओदन श्रमहर और वातहर हैं।

३. **विहार**—यथा दिवास्वप्न से उत्पन्न कफ में रात्रिजागरण या रात्रिजागरण से उत्पन्न वात में दिवास्वाप। आस्यासुख से उत्पन्न प्रमेह में चंक्रमण आदि।

(ख) व्याधिविपरीत

४. **औषध**—ये सामान्य रूप से दोषों को शान्त करते हुये भी विशिष्ट प्रभाव से रोग को शान्त करते है, यथा कुष्ठ में खदिर, विष में शिरीष, हृद्रोग में अर्जुन, अतिसार में पाठा प्रमेह में हरिद्रा आदि।

५. **अन्न**—यथा अतिसार में स्तम्भन मसूर की दाल का प्रयोग।

६. **विहार**—यथा उदावर्त में प्रवाहण।

(ग) हेतुव्याधिविपरीत

७. **औषध**—ये सामान्यतः हेतु और व्याधि दोनों को शान्त करते हैं, यथा वातिक शोथ में दशमूल का प्रयोग वातहर भी है और शोथहर भी।

८. **अन्न**—यथा वात-कफज ग्रहणी में तक्र वातकफशामक भी है और ग्राही भी।

९. **विहार**—स्निग्ध दिवास्वप्न से उत्पन्न तन्द्रा में रात्रिजागरण। यह रूक्ष है और तन्द्राविपरीत भी।

(घ) हेतुविपरीतार्थकारी

१०. **औषध**—यथा पैत्तिक व्रणशोथ में उष्ण उपनाह जो उष्णता से पित्त-वर्धक होते हुये भी प्रभाव से सञ्चित रक्त को हटाकर शोथ को दूर करता है।

११. **अन्न**—यथा पच्यमान व्रणशोथ में विदाही अन्न जो शोथ का शीघ्र पाक कर वेदना की शान्ति करता है।

१२. **विहार**—यथा वातिक उन्माद में त्रासन, विस्मापन, तर्जन आदि जो वातवर्धक होते हुये भी अपने विशिष्ट मानस प्रभाव से रोग को दूर करते हैं।

(च) व्याधिविपरीतार्थकारी

१३. **औषध**—यथा छर्दि में वामक मदनफल आदि द्रव्यों का प्रयोग। ये मूलभूत दोष को निकालकर व्याधि को शान्त करते हैं।

१४. **अन्न**—अतिसार में विरेचन क्षीर जो पित्तदोष तथा आमदोष को बाहर निकालकर रोग में लाभ करता है।

१५. **विहार**—यथा छर्दि में वमन के लिए प्रवाहण।

(छ) हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी

१६. **औषध**—यथा विष में विष का प्रयोग या अग्निदग्ध में उष्ण, अगुरु आदि द्रव्यों का लेप जो रक्त को स्थानान्तरित कर देता है और इस प्रकार पाक, दाह आदि को रोकता है।

१७ **अन्न**—यथा मद्यपानजन्य मदात्यय में मदकारक मद्य का प्रयोग।

१८. **विहार**—यथा ऊरुस्तम्भ में जलप्रतरण व्यायाम। इसमें जल की शीतलता से शरीर की ऊष्मा बाहर नहीं निकलने पाती और भीतर ही भीतर कुम्भकारपवनन्याय से सचित मेद और कफ को पिघला देती है फिर व्यायाम से प्रवृद्ध वायु उन्हें शोषित कर लेती है। इस प्रकार जलप्रतरण व्यायाम से इसमें लाभ होता है।

संप्राप्ति

व्याधि के आभ्यन्तर दोष-दूष्य-विकृतिक्रम को संप्राप्ति कहते हैं। किस प्रकार प्रकुपित दोषों का प्रसार और स्थानसंश्रय हुआ तथा दोषदूष्यसंसर्ग से किस प्रकार व्याधि का प्रादुर्भाव हुआ इसको 'संप्राप्ति' कहते हैं।[1] इस प्रकार यह रोग का विकृति-विज्ञान है। इससे रोग की उत्पत्ति कैसे हुई तथा रोग में शरीरस्थ दोष-धातु-मलों तथा अंग-प्रत्यंगों मे क्या-क्या विकृत्यात्मक परिवर्त्तन हुये इन दोनों का बोध होता है। अर्थात् इससे कारणभूत तथा कार्यभूत दोनों प्रकार की विकृतियों का पता चलता है।

---

१. यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः॥ (मा. नि)
'दोषेतिकर्त्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म संप्राप्तिः' (म को.)

संप्राप्ति में निम्नांकित बातों का विचार किया जाता है[१]:—

१. **संख्या**—दोषदूष्य के संसर्ग की विशेषता से कितने प्रकार का रोग होता है इसे संख्या कहते हैं, यथा आठ ज्वर, आठ उदर आदि।[२]

२. **विकल्प**—कारणभूत दोषों की अंशांशकल्पना (सूक्ष्म विचार) को विकल्प (विशिष्ट विचार) कहते हैं।[३] यह विचार दो प्रकार का होता है—१. द्रव्यात्मक २ गुणात्मक। द्रव्यात्मक विचार में यह देखा जाता है कि दोषों का पारस्परिक संबन्ध क्या है तथा उनके प्रकोप का तारतम्य की दृष्टि से विचार किया जाता है। गुणात्मक विचार में यह देखा जाता है कि दोषों के अनेक गुणों में किस गुण की वृद्धि हुई है,[४] यथा रूक्ष पदार्थों के सेवन से वायु का रूक्षांश बढ़ता है शीतांश नही तथा शीत के संपर्क से वायु का शीतांश बढ़ता है। कषाय रस और कलाय सर्वात्मना वायु को बढ़ाते हैं, तण्डुलीयक रूक्ष, शीत और लघु गुणों से वातवर्धक है तथा काण्डेक्षु रूक्षशीत गुणों को बढाता है। इसी प्रकार कटु रस और मद्य सर्वात्मना पित्तवर्धक है; हिंगु कटु-तीक्ष्ण-उष्ण होने से; यवानी तीक्ष्ण-उष्ण और तिल उष्ण होने से वायु के समान गुणों को बढाता है। मधुर-रस और माहिष दुग्ध सर्वात्मना कफवर्धक हैं; राजादन फल स्निग्ध-गुरु-मधुर होने से; कशेरु शीत-गुरु होने से तथा क्षीरी वृक्षों के फल शीत होने से कफ के उन गुणों को बढाते हैं।

३ **प्राधान्य**—व्याधि के कारणभूत दोषों तथा लक्षणों के स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य के आधार पर उनके प्राधान्य का निश्चय होता है।[५] अर्थात् यदि दोष या लक्षण-

---

१. 'संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः। सा भिद्यते...' (मा. नि)
'सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते' (च नि. १)

२. 'संख्या तावदष्टौ ज्वरा ......इत्येवमादिः' (च नि. १)

३ 'दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना' (मा. नि)
'पृथक् समवेतानां च पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पः विकल्पः' (च नि. १)

४ 'अंशा वातादिगतरौक्ष्यादयः तैरेकद्वित्र्यादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपावधारण विकल्पना। (म को.)

५ 'स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्।' (मा नि)
'प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यां योगेनोपलभ्यते।' (च. नि. १)

स्वतन्त्र हों तो वे प्रधान (अनुबन्ध्य) और यदि परतंत्र हों तो अप्रधान (अनुबन्ध) कहलाते हैं।

४ **बल**—व्याधि के बलाबल का विचार भी महत्त्वपूर्ण है। जब हेतु, पूर्वरूप, रूप आदि समस्त मिलते हों तो व्याधि प्रबल और जब वे अल्प मिलते हों तो व्याधि दुर्बल समझी जाती है।[1] रोग की साध्यासाध्यता का विचार बल विचार का ही अंग है क्योंकि प्रबल रोग कष्टसाध्य या असाध्य और दुर्बल रोग सुखसाध्य होते हैं।

५. **काल**—किस काल में व्याधि की वृद्धि या ह्रास होता है इससे कारण-भूत दोष का पता चलता है। इसमें ऋतु, दिन, रात तथा भोजनकाल का विचार किया जाता है।[2] सामान्यतः वर्षा में वात, शरद् में पित्त तथा वसन्त में कफ का प्रकोप होता है। दिन के प्रारम्भ (प्रातःकाल) में कफ, मध्याह्न में पित्त तथा सायंकाल वात की वृद्धि होती है। रात्रि के प्रथम प्रहर में कफ, मध्यरात्रि में पित्त तथा अन्तिम प्रहर में वात की वृद्धि होती है। इसी प्रकार भोजन के बाद शीघ्र (भुक्तावस्था में) कफ, पच्यमानावस्था में पित्त तथा पक्वावस्था में वात की वृद्धि होती है। इन कालों में यदि रोग की वृद्धि या ह्रास हो तो उस व्याधि का संबन्ध उस काल में होने वाले दोष से आसानी से जोड़ा जा सकता है। यथा वर्षाकाल में, सायंकाल, रात्रि के अन्तिम प्रहर तथा भोजन की पक्वावस्था में बढने वाले वातव्याधि, शूल आदि रोग वातप्रधान होंगे। इसी प्रकार शरद्, मध्याह्न, मध्यरात्रि तथा भोजन की पच्यमानावस्था में बढनेवाले रक्तपित्त, अम्लपित्त, पैत्तिक शूल आदि रोग पैत्तिक होंगे। वसन्त, प्रातःकाल, रात्रि के प्रथम प्रहर तथा भुक्तावस्था में बढने वाले रोग (कास-श्वास, श्लैष्मिक शूल आदि) कफ-प्रधान होंगे।

६. **विधि**—प्रकार को कहते हैं। यह सजातीय पदार्थों में आन्तरिक भेद करने के लिए प्रयुक्त होती है, यथा तीन प्रकार का रक्तपित्त, दो प्रकार का रोग इत्यादि। संख्या और विधि में यही अन्तर है कि संख्या विजातीय पदार्थों से

---

१ 'हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम्।' (मा. नि.)
२ 'नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम्।' (मा. नि.)

केवल भेदमात्र का निर्देश करती है जब कि विधि सजातीय पदार्थों में भी आभ्यन्तरिक वर्गीकरण की दिशा प्रस्तुत करती है।[1]

कभी कभी एक रोग से कालान्तर में दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में, कभी तो पूर्व रोग पश्चाद्रोग की उत्पत्ति होने पर स्वयं शान्त हो जाता है और कभी-कभी दोनों बने रहते हैं और 'व्याधिसंकर' की अवस्था उत्पन्न करते हैं जो कष्टसाध्य मानी जाती है।[2] यथा वातिक ग्रहणी से कालान्तर में अर्श हो जाता है। उसके बाद ग्रहणी शान्त हो जा सकती है या बनी भी रहती है। व्याधिसंकर की अवस्था में अनुबन्ध्यानुबन्ध का विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए।

---

१ 'विधिसंख्ययोश्चायं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद्धर्मान्तरस्यान्वयाद् भवति, यथा रक्तपित्तत्वाविशेषेऽपि ऊर्ध्वगामिप्रकारो भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि; यथा चत्वारो घटाः, अष्टौ ज्वरा इति।' (म. को.)

२ 'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च॥
एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः।' (मा. नि.)

सप्तम अध्याय

सापेक्ष निदान और रोगविनिश्चय

(Diagnosis)

रोग की मुख्य व्यथा से सापेक्ष निदान में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। वह व्यथा जिन-जिन रोगों में सामान्यतः मिलती है उनकी परस्पर तुलना और पृथक्करण करना पड़ता है। उनमें सर्वाधिक तथ्य जिसके पक्ष में मिलते हैं उसीका निर्णय किया जाता है। अतः यह जानना अत्यावश्यक है कि उस व्यथा का व्याप्य क्षेत्र कितना है और किन-किन रोगों में वह लक्षण मुख्यतया पाया जाता है। इस दृष्टि से यहाँ कुछ मुख्य लक्षणों का क्षेत्र-निर्देश किया जाता है.—

१. हृच्छूल

(क) हृद्गत विकार

१. हृदयशूल
२. तीव्र हृदयावरणशोथ
३. आमवातजन्य हृदयशोथ
४. महाधमनी-विकार

(ख) अहृद्गत विकार

१. यकृद्दाल्युदर
२. आध्मान, विष्टब्धाजीर्ण
३. अपतंत्रक
४. नाडीदौर्बल्य
५. जीर्ण गर्भाशय-विकार
६. अवटुग्रंथिवृद्धि
७. यक्ष्मा
८. पाण्डु
९. चाय, कॉफी एवं मादक द्रव्यों का सेवन
१०. तीव्र ज्वर

२. हृद्द्रव

१. हृदय-तीव्रता
२. अतिव्यायाम
३. विषाक्त द्रव्यों का सेवन
४. अन्य वातिक कारण

३. नीलिमा

१. सहज हृद्रोग
२. सिरागत रक्तावरोध
३. जीर्ण कास
४. फुफ्फुसशोथ
५. कुछ रक्तविकार

४. अंगुलि-मुद्गरता (Clubbing of fingers)

१. सहज हृद्रोग
२. श्वासनलिकाविस्तृति
३. द्विपत्रकपाट-विकार
४. हृदन्तःशोथ
५. हृदयावरणशोथ
६ मध्यान्तरालीय अर्बुद
७. वायुकोषविस्तृति
८. जीर्ण कास
९. यक्ष्मा
१०. श्वास
११. पूयोरस
१२. फुफ्फुसविद्रधि

५. नाडी-तीव्रता

१. ज्वर
२. स्थिति-परिवर्त्तन
३. हृद्विकार—अकार्यक्षमता, पाण्डु
४. यक्ष्मा, अवटुस्रावाधिक्य
५. चाय, कॉफी, तम्बाकू, मद्य, सूची, अवटुसत्त्व तथा हृत्पत्री
६. पूतिरक्तता—दन्तवेष्ट, कण्ठशालूक, पीनस आदि
७. वातिक विकार—अपतंत्रक आदि

६. नाडीमन्दता

१. ज्वरोत्तर दौर्बल्य
२. तीव्रहृद्रोग—अवसाद, मूर्च्छा, क्लम आदि
३. जीर्णहृद्रोग—हार्दिक धमनीविकार, हृत्पेशी का मेदस एवं सौत्रिक अपकर्ष, महाधमनीगत रक्तावरोध।
४. कुछ औषध द्रव्य—यथा हृत्पत्री, अहिफेन, कभी-कभी तम्बाकू और कॉफी।
५. शिरोगत दबाव की वृद्धि—मस्तिष्कावरणशोथ, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अर्बुद, विद्रधि, शिरस्तोय आदि।
६. वातिक विकार—पक्षाघात, अपतंत्रक, अपस्मार आदि।
७. कुछ विषाक्त अवस्थायें—कामला, वृक्कशोथ, मूत्रविषमयता, श्लेष्मशोथ, मधुमेह।

७. रक्तभाराधिक्य

१. हृदय तथा धमनियों की पेशीवृद्धि
२. जीर्ण वृक्कशोथ
३. धमनी-आक्षेप—तीव्रशूल, विषमयता।
४. महाधमनी की सहज संकीर्णता।
५. मस्तिष्कगत रक्तस्राव या अर्बुद के कारण तत्रस्थ धमनियों पर दबाव।
६. रक्त की सान्द्रता में वृद्धि।
७. रक्तवृद्धि—अतिभोजन और अतिपान।

८. रक्तभाराल्पता

(क) प्रान्तीय प्रतिरोध की कमी :—

१. कालज्वर
२. यक्ष्मा
३. कैन्सर
४. तीव्र ज्वर

(ख) रक्त की सान्द्रता या आयतन में कमी :—

१. पाण्डु
२. रसक्षय (छर्दि, अतीसार आदि)
३. उदररोग—यथा विसूचिका, प्रवाहिका आदि ।
४. मलेरिया
५. हृदयावसाद

९. उपामाशयिक स्पन्दन (Epigastric pulsation)

१. दक्षिण निलय का प्रसार
२. यकृद्गत रक्तसचय
३. औदर्य महाधमनी-ग्रन्थि
४. महाधमनी-रक्तप्रत्यावर्त्तन
५. वातिक प्रकृति एवं अन्य वातविकार

१०. ग्रीवागत स्पन्दन

१. महाधमनी-रक्तप्रत्यावर्त्तन
२. पाण्डु
३. वातविकार

११. शोथ

१. हृदयविकार
२. यकृतविकार
३. वृक्कविकार
४. पाण्डु, यक्ष्मा, दौर्बल्य

१२. संज्ञानाश

१. मूर्च्छा
२. संन्यास
३. अपस्मार
४. अपतन्त्रक

१३. (क) शुष्क कास

१. कण्ठशोथ
२. कण्ठशालूक
३. काकलक-वृद्धि
४. स्वरयंत्रशोथ
५. श्वासनलिका-ग्रंथि, अर्बुद
६. श्वासप्रणालिकाशोथ, श्लैष्मिक ज्वर, यक्ष्मा तथा फुफ्फुसशोथ की प्रारंभिक अवस्था, कुकुरखाँसी ।
७. फुफ्फुसावरणशोथ
८. विष्टब्धाजीर्ण, अतीसार, विबंध, कृमि, शूल ।
९. कर्ण में मलसंचय, विचर्चिका आदि ।

१३. (ख) श्लैष्मिक कास

१. फुफ्फुसशोथ
२. श्वासप्रणालिकाशोथ
३. श्वासनलिकाविस्तृति
४. यक्ष्मा
५. फुफ्फुसविद्रधि या कोथ

कास के संबध में निम्नांकित विचार महत्त्वपूर्ण हैं:—

१. प्रातःकालीन कास—प्राय: श्वासप्रणालिकाशोथ, श्वासनलिकाविस्तृति या यक्ष्मा में होता है।
२. रात्रि(निद्रा)कालीन कास—काकलक-वृद्धि तथा स्वरयंत्रविकार में।
३. स्थितिपरिवर्त्तनजन्य कास—यक्ष्मा, श्वासनलिकाविस्तृति, फुफ्फुसावरण-शोथ या फुफ्फुसशोथ में।
४. क्षणिक कास—वेगयुक्त क्षणिक कास कुकुरखाँसी, स्वरयंत्रशोथ, जीर्ण-श्वासप्रणालिकाशोथ, श्वासनलिका-विस्तृति या श्वासप्रणालिकार्बुद में मिलता है।
५. सशूल कास—फुफ्फुसावरणशोथ में।
६. सच्छर्दि कास—कुकुरखाँसी या कण्ठशालूक में।
७. आयासज कास—हृद्रोग में।
८. भोजनोत्तर कास—अजीर्ण में।

१४. पार्श्वशूल

१. फुफ्फुसावरणशोथ, फुफ्फुसशोथ, पूयोरस, वातोरस।
२. त्वचा, अधस्त्वक् धातु, पेशी और नाडी का शोथ।
३. हृच्छूल, हृदयावरणशोथ या कपाटविकृति।
४. अजीर्ण
४. यकृत्-प्लीहा के विकार—विद्रधि आदि।
६. अपतंत्रक आदि वातविकार।

१५. श्वासकृच्छ्र

(क) श्वसनकेन्द्रगत विकृति—

१. हृदयावसाद
२. पाण्डु
३. मूत्रविषमयता
४. मधुमेहज सन्यास
५. बहिर्नेत्रिक गलगण्ड
६. औपसर्गिक शोथ

(ख) फुफ्फुसगतविकार—

१. कण्ठशोथ, विद्रधि आदि कण्ठरोग।

२. स्वरयंत्रशोथ, विद्रधि, अर्बुद, स्तम्भ।

३. तीव्र श्वासप्रणालिकाशोथ, तमकश्वास, कुकुरखाँसी।

४. अर्बुद, ग्रंथिवृद्धि आदि से श्वासपथ पर दबाव।

५. फुफ्फुसशोथ, यक्ष्मा, शोथ, फुफ्फुसकैन्सर।

(ग) चलगति के विकार—

१. फुफ्फुसावरण या उदरावरण का शोथ
२. वायुकोपविस्तृति
३. पक्षाघात, अपतन्त्रक आदि वातविकार
४. उदरवृद्धि (जलोदर, गर्भ, अर्बुद आदि)
५. फुफ्फुस की अन्तःशल्यता

१६. रक्तष्ठीवन

१. स्वरयन्त्र—क्षत तथा व्रण

२. श्वासपथ—अर्बुद

३. श्वासप्रणालिका—विस्तृति, कुकुरखाँसी, शल्य

४. फुफ्फुस—यक्ष्मा, फुफ्फुसशोथ, हृदयावसादजन्य रक्तसंचय, विद्रधि, क्षत, फिरङ्ग आदि।

५. रक्तविकार—फिरङ्ग, कुलज, रक्तस्राव आदि

१७. मुखपाक

१. गलशोथ
२. उपजिह्विकाशोथ
३. फिरङ्ग
४. कैन्सर
५. यक्ष्मा
६. तीव्र ज्वर

१८. स्वरभेद

१. स्वरयन्त्र के विकार—शोथ, शल्य

२. स्वरयन्त्र में व्रण (फिरंग, यक्ष्मा, कैन्सरजन्य), अर्बुद ३. पक्षाघात

१९. नासागत रक्तस्राव (Epistaxis)

(क) स्थानिक कारण

१. श्लेष्मलकला में रक्तसंचय—ग्रंथि, नासार्श, पीनस, कृमि आदि

२. अभिघात, शल्य ३. अर्बुद (फिरंग, यक्ष्मा, कैन्सरजन्य) ४. व्रण

(ख) शारीर विकार

१. जीर्ण वृक्कशोथ
२. रक्तभाराधिक्य
३. हृत्कपाटविकृति
४ वायुकोषविस्तृति
५. जीर्ण कास
६. यकृद्दाल्युदर
७. वक्षोऽर्बुद
८. तीव्र ज्वर
९. अतिव्यायाम
१०. ऋतुकाल
११. पर्वतारोहण आदि
१२. रक्तविकार—पाण्डु, कुलज रक्तस्राव आदि

२०. मुखदौर्गन्ध्य (Halitosis)

१. स्वच्छता का अभाव—दन्तवेष्ट, मुखपाक, दन्तकृमि आदि
२. कण्ठशालूक तथा गले के रोग
३. यकृद्विकार, अग्निमांद्य, विष आदि उदरविकार, ज्वर
४. नासा तथा अस्थिकोटरों के विकार
५. फुफ्फुसगत कोटर (यक्ष्मा), श्वासप्रणालिकाविस्तृति
६. मूत्रविषमयता, मदात्यय आदि
७. अहिफेन आदि द्रव्य

२१. लालाप्रसेक (Ptyalism)

१. मुखपाक, दन्तोद्भेद
२. जीर्णआमाशयशोथ, आमदोष
३. गर्भावस्था
४. उन्माद, जलसंत्रास आदि वातिक और मानस रोग
५. पारद आदि तथा कटु द्रव्यों का सेवन
७. पक्षाघात

२२. मुखशोष (Xerostomia)

१ ज्वर
२. प्रमेह
३. अतिसार
४. जीर्ण वृक्कशोथ
५. सूची, धतूरा आदि विकासी द्रव्य
६ भय, शोक आदि मानस विकार

२३ तृष्णा (Polydipsia)

१. ज्वर, विशेषत वातपैत्तिक
२. आमाशय के पैत्तिक शोथ
३. प्रमेह
४. रक्तक्षय—अतिसार, अतिस्वेद, रक्तस्राव, छर्दि
५. जीर्ण वृक्कशोथ
६. अग्निमांद्य
७. अतिलवण आहार
८. शोथकी प्रारंभिक अवस्था

२४. अत्यग्नि (Bulimia)

१. मधुमेह
२. कृमि
३. अपतन्त्रक
४. अम्लाधिक्य
५. काला आजार
६. दीपन द्रव्यों का अतिप्रयोग

२५. मन्दाग्नि

१. आमाशयशोथ
२. आमाशयिक व्रण
३. अम्लाल्पता
४. पाण्डु
५. यक्ष्मा
६. वातिक विकार
७. अप्रिय भोजन
८. पाचनसंस्थान के तीव्र औपसर्गिक रोग

२६. विषमाग्नि

१. गर्भावस्था
२. उन्माद
३. गण्डूपद कृमि
४. वातिक विकार

२७. हृत्कण्ठदाह

१. अग्निमांद्य, अम्लपित्त, जीर्ण आमाशयशोथ, कैन्सर तथा आमाशयशैथिल्य के कारण आमाशयिक स्राव की कमी।

२ आमाशयिक अम्ल (Hcl) का आधिक्य यथा ग्रहणी एवं आमाशयिक व्रण, पैत्तिक शूल।

२८. हिक्का

१. आध्मान
२. कटु, उष्ण पदार्थों का सेवन
३. यकृत्विकार
४. उदरावरण-शोथ
५. सन्निपात-ज्वर
६. पार्श्वशूल
७. विषमयता तथा मूत्र-विषमयता
८ वातप्रकोप, अपतन्त्रक आदि।

२९. निगरणकष्ट

१. मुख, कण्ठ, जिह्वा, कर्णमूल तथा ग्रसनिकाशोथ या व्रण।
२. संकीर्णता, अर्बुद आदि से अन्ननलिका का अवरोध।
३. वातिक विकार—अपतन्त्रक, जिह्वास्तम्भ, हनुस्तम्भ।
४. जलसंत्रास।

३०. हृल्लास-छर्दि

१. ग्रसनिकावरोध-संकीर्णता, स्तम्भ, अर्बुद आदि।

२. कण्ठ—कण्ठशोथ, कण्ठशालूक काकलकवृद्धि, कुकुरखाँसी।

३. आमाशय—क्षोभक विष, वामक द्रव्य, प्रतिकूल, गुरु आहार, आमाशयशोथ, आमाशयिक व्रण, आमाशयप्रसार, मुद्रिकावरोध, हृदयावसाद, यकृद्दाल्युदर।

४. अन्त्र—जीर्ण विबंध, अन्त्रावरोध, अन्त्रशोथ, विसूचिका, अन्त्रपुच्छशोथ, कृमि।

५. आशय—तीव्र अग्न्याशयशोथ, तीव्र उदरावरणशोथ; गर्भाशय, बीजकोष, बीजनलिका का शोथ; पैत्तिक शूल, वृक्क शूल, चल वृक्क।

६. दुर्गन्ध—और दुस्वाद।

७. रक्तगत विष—तीव्र ज्वर, मलेरिया, मूत्र-विषमयता, बहिर्नैत्रिक गलगण्ड, गम्भीर पाण्डु, मस्तिष्कावरणशोथ, मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्कसपीडन, अर्धावभेदक, अपस्मार, अपतन्त्रक, मूर्च्छा।

८ भय, चिन्ता आदि मानस-विकार।

आयु के अनुसार छर्दि का विवेचन :—

१. बाल्यावस्था—अतिभोजन, अजीर्ण, कृमि, अन्त्रावरोध, तीव्र ज्वर।

२. युवा पुरुष—अजीर्ण, आमाशयिक व्रण, अन्त्रावरोध, अन्त्रपुच्छशोथ, उदरावरणशोथ, वृक्कशूल।

३ युवती स्त्री—गर्भावस्था की विषमयता, अपतंत्रक, बस्तिशोथ, पैत्तिक शूल, चल वृक्क।

४. वृद्धावस्था—मूत्र-विषमयता, ग्रसनिका का कैन्सर, पैत्तिक शूल।

वमन के स्वरूप से छर्दि का विचार :—

१. अन्न—अजीर्ण, विष।

२. पित्त—यकृच्छोथ, ग्रहणीशोथ, तीव्र ज्वर, विशेषत मलेरिया।

३ पुरीष—बद्धगुदोदर[1], उदावर्त्त[2]।

४ रक्त—आमाशयिक व्रण, कैन्सर आदि।

३१. रक्तवमन (Haemetemesis)

१. आमाशय—दाहक या क्षोभक विष, संखिया आदि, तीव्र आमाशय-शोथ, कैन्सर, क्षत।

२. ग्रहणीव्रण।

३. यकृद्दाल्युदर।

४. तीव्र ज्वर, रक्त-विकार, रक्तपित्त।

३२. आमाशयिक शूल (Epigastric pain)

१. तीव्र आमाशयशोथ

२. आमाशय-व्रण

३ आमाशय-कैन्सर

४. आमाशयगत अम्लाधिक्य

५ ग्रहणीव्रण

६. कृमि

७. अश्मरी, शोथ, रक्तसंचय आदि यकृद्विकार

८. अन्त्रपुच्छशोथ

९. अग्न्याशय में शोथ, अश्मरी, अर्बुद

१०. आनाह

११. फुफ्फुस एवं हृदय के विकार

३३. शूल (Colic)

१. तीव्र उदरावरणशोथ

२. अग्न्याशय का तीव्र शोथ

३. अन्त्रविकार—अजीर्ण, शोथ, विबन्ध, पित्ताश्मरी, कृमि, आन्त्रावरोध, नागविष, कैन्सर, रक्तपित्त।

४. अन्त्रपुच्छशोथ

५. पित्ताश्मरी

६. वृक्काश्मरी

---

१. 'विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचित तं दोष समुद्धूय नरस्य कोष्ठात्॥
विण्मूत्रयोस्तत् समगंधवर्णं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतः प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद्दुष्टमिहातियोगात्तयार्दितश्चाशु विनाशमेति॥'
(च. चि. २०)

२. 'आटोपशूलौ परिकर्त्तिका च संगः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
पुरीषमास्याद्‌थवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य॥'
(मा. नि.)

३४. प्रवाहण (Tenesmus)

१. प्रवाहिका ।

२. अन्त्रावरोध, भगन्दर, कैन्सर, गुदग्रंथि, अर्श, गुदशोथ, कृमि, विबंध ।

३. पार्श्ववर्त्ती अंगों में क्षोभ या शोथ—पौरुषग्रंथि-शोथ, गुद-कुकुन्दर, विद्रधि, अश्मरी, गर्भाशय और बीजकोष के विकार ।

४. अपतंत्रक आदि वातविकार ।

३५. अतीसार

(क) तीव्र अतीसार—

१. अजीर्ण	५. तीव्र प्रवाहिका
२. बालातीसार	६. आन्त्रिक ज्वर
३. विसूचिका	७. मलेरिया
४ अन्त्रविष	८. तीव्र अन्त्रपुच्छशोथ

(ख) जीर्ण अतीसार—

१. अग्निमाद्य	७. प्रसूति-रोग
२ प्रवाहिका	८. औपसर्गिक शोथ
३ ग्रहणी	९. जीर्ण अग्न्याशय-शोथ
४. कृमि	१० दुर्जर आहार
५ अन्त्रगत यक्ष्मा	११. संखिया, पारद आदि क्षोभक विष ।
६ दन्तवेष्ट	

१२. मूत्र विषमयता, मधुमेह, संधिवात, गलगंड आदि विकार ।

१३. कालज्वर, कैन्सर, वृक्कशोथ, हृदय-अकार्यक्षमता, यकृद्दाल्युदर, कृमि की अन्तिम अवस्थायें ।

१४ आमाशय, अग्न्याशय या अंत्र का कैन्सर ।

१५. भय, शोक आदि मानस विकार ।

३६. विबन्ध

१ बृहदन्त्र के विकार । २. उण्डुक के विकार ।

३. आन्त्रिक पेशियों का शैथिल्य—जीर्ण रोग, दौर्बल्य, पाण्डु, अव्यायाम, यक्ष्मा ।

४. सामान्य मांसक्षय
५. आनाह—जीर्ण अन्त्रपुच्छशोथ, भगन्दर, अर्श, पौरुषग्रन्थिशोथ, विष्टम्भ, नागविष, अत्यधिक धूम्रपान।
६. आहार में जल, शाक, आदि की कमी।
७ मधुमेह, आमाशय या ग्रहणी का व्रण, अपतंत्रक।
८ स्रोतोवरोध—कैन्सर, संकीर्णता, कठिन पुरीष, गर्भ, गुल्म, अर्बुद आदि।
९ व्यसन—अहिफेन, भंगा, चाय आदि।
१०. वातिक विकार—नाड़ीदौर्बल्य।
११ मानस रोग—उन्माद, शोक आदि।
१२. वेगधारण

२७. पुरीषरक्तता (रक्तातीसार)

(क) ताजा रक्त—

१ अर्श
२. भगन्दर
३ गुदव्रण
४. अन्त्रावरोध
५ गुदग्रन्थि
६. आन्त्रिक ज्वर
७. यक्ष्मा
८. गुदशोथ

(ख) कृष्णवर्ण रक्त (Melaena)—

१. आमाशय या ग्रहणी का व्रण।
२. यकृद्दाल्युदर
३. अन्त्र में कैन्सर, यक्ष्मा आदिजन्य व्रण
४. रक्तविकार
५. कृमि

२८. उदरवृद्धि (Abdominal distension)

(क) सर्वाङ्गीण—

१. मेदोरोग
२. आध्मान, विष्टम्भ, बद्धगुदोदर, आमाशयशैथिल्य, अपतंत्रक।
३. जलोदर—उदरावरणशोथ, वृक्कशोथ, पाण्डु।
४. गर्भ
५. अर्बुद, कैन्सर

(ख) **स्थानिक—**

उपामाशयिक प्रदेश में—यकृत, पित्ताशय, आमाशय, प्लीहा या अग्न्याशय के विकार।

दक्षिण कुक्षिप्रदेश में—यकृत, पित्ताशय और दक्षिण वृक्क के विकार।

वाम कुक्षिप्रदेश में—प्लीहा, वामवृक्क, वृहदन्त्र के विकार।

वस्तिप्रदेश (स्त्रियों में)—गर्भाशय या बीजकोष का अर्बुद, वस्ति-आध्मान।

पार्श्वभाग में—वृक्क, अन्त्रपुच्छ, वृहदन्त्र के विकार।

वंक्षण—आदि प्रदेशों में अन्त्रवृद्धि का विकार।

३९. अवसाद (Collapse)

(क) **दारुण** (Sudden)—

१. तीव्र रक्तस्राव या अतिसार।
२. अन्त्रावरोध
३. अन्त्रविदार
४. औदर्य अंग या ग्रन्थि का विकार।
५. शस्त्रकर्म या तीव्र अभिघात
६ अग्निदग्ध
७ रक्तवह चालक केन्द्र का सपीडन शिर पर आघात होने से।
८. निद्रल या संज्ञानाशक द्रव्यों का अतिसेवन।
९. भय, शोक आदि आकस्मिक मानस विकार।
१०. तीव्र आकस्मिक पीड़ा—वृक्काश्मरी, पित्ताशयशूल
११. मादक विष—सूची, हृत्पत्री, तम्बाकू आदि अन्त्रविष।
१२. फुफ्फुसगत या अन्य अन्तःशल्यता।
१३ अशुघात
१४. कार्बन एकौपिद् विष
१५ हार्दिक धमनीस्तम्भ
१६. मस्तिष्कगत रक्तस्राव।

(ख) अदारुण (Gradual)—

१. उपवास और शैत्य
२. तीव्र अतीसार
३. उदरावरण शोथ
४. आन्त्रिक ज्वर
५. समुद्र-रोग
६. दौर्बल्य
७. संज्ञानाश के बाद
८. नीलिमा

४०. यकृद्वृद्धि

(क) तरुण वृद्धि—

१. तीव्र ज्वर—विशेषत. मलेरिया, काल ज्वर, संनिपात ज्वर, ग्रन्थिक ज्वर, औपसर्गिक कामला, तीव्र यकृत्कोथ।

२. तीव्र उपसर्ग—तीव्र पित्तनलिकाशोथ, यकृत्शोथ विद्रधि, प्रतीहारिणी-पूयमयता।

३. विष—अन्नविष, मद्य, क्लोरोफार्म, शंखविष, सैन्टोनिन।

४. हृत्कार्यावरोध

(ख) जीर्ण—

१. फिरङ्ग
२. यक्ष्मा
३. कुष्ठ
४. जीर्ण उदावरणशोथ
५. यकृदाल्युदर
६. कैन्सर आदि अर्बुद
७. रक्तविकार—घातक पाण्डु, श्वेतकणमयता आदि।

४१. यकृत्क्षय

१. वायुकोप-विस्तृति
२. उदरवृद्धि
३. विदीर्ण उदरावरणशोथ
४. यकृत्कोथ, क्षयात्मक यकृदुदर

४२. कामला

अवरोधज—

१. शल्य—पित्ताश्मरी, कृमि तथा अन्य शल्य।

२. पित्तनलिका-शोथ

३. व्रण, शोथ आदि से नलिका का संकोच।

४. अर्बुद—कैन्सर, ग्रंथि, पुरीष, गर्भ, रक्तगुल्म आदि।

(ख) **विषज या उपसर्गज—**

१. जीवाणु-विष—फुफ्फुसशोथ, फिरंग, पूतिमयता, संनिपात ज्वर, पुनरावर्तक ज्वर, मलेरिया आदि।

२. रासायनिक विष—स्फुरक, ईथर, क्लोरोफार्म आदि।

३. गर्भावस्था की विषमयता।

४. रक्तसंचयजन्य जीर्ण हृद्रोग।

(ग) **रक्तक्षयज—**

१. रक्तकणों की भंगुरता

२. प्राणिज विष—अन्नविष, सर्पविष।

३. स्ट्रेप्टोकोकस का उपसर्ग।

४. घातक पाण्डु

५. विशिष्ट रक्तक्षय

४३ मूत्र-मात्राधिक्य (Polyuria)

१. मधुमेह

२ जीर्ण वृक्कशोथ

३. उदकमेह

४. रक्तभाराधिक्य

५. अपतंत्रक

६. चाय आदि मूत्रल द्रव्यों का सेवन

७. अत्यधिक जल-पान

४४. मूत्रवेगाधिक्य

१. वस्तिशोथ, अश्मरी, अर्बुद

२. वस्ति पर दवाव—गर्भ, गर्भाशयार्बुद

३. वृक्कशूल

४. वृक्कशोथ

५. चलवृक्क

६ श्रोणिगुहा-शोथ

७ पौरुषग्रन्थि-वृद्धि बालकों में

८ निरुद्धप्रकश, क्रिमि, अत्यल्पमूत्र, अश्मरी

४५. मूत्रपीड़ा

(क) **मूत्रकाल में—**

१. मूत्रप्रसेकशोथ, पूयमेह, व्रण या मार्ग में स्थित अश्मरी।

(ख) **मूत्रोत्सर्ग के बाद शीघ्र—**

१. अश्मरी

२. वस्तिशोथ

३. अर्बुद

४. पौरुषग्रन्थिशोथ

४६. मूत्रकृच्छ्र (Strangury)

१. मूत्रमार्ग—संकीर्णता, शोथ, अश्मरी, पौरुषग्रन्थि, शोथ या वृद्धि, परिवर्तित गर्भाशय, बीजकोप-वृद्धि।

२. वस्ति—अभिघात, शोथ, अर्बुद ।

३. क्षोभक आहार या औषध—कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, उष्णद्रव्य, तैलमक्षिका, तारपीन आदि ।

४. प्रत्यावर्तित—वृक्कशोथ, शोथयुक्त अर्श, मेरुदण्ड या वृक्क में अभिघात ।

५. वातिक विकार—अपतंत्रक, नाड़ीदौर्बल्य ।

४७. मूत्राघात (Retention)

(क) मूत्रमार्ग में अवरोध—

१. मूत्रप्रसेक-संकोच—पूयमेह, निरुद्धप्रकश

२. पौरुषग्रन्थिवृद्धि

३. मार्गस्थ अश्मरी

४. वस्ति—अर्बुद

५. परिवर्तित गर्भाशय

(ख) वातिक विकार—

१. पक्षाघात

२. अपतन्त्रक

३. पेशी-स्तम्भ

४८ मूत्रक्षय (Anuria)

१. वृक्क या गवीनी में अश्मरी, कैन्सर

२. तीव्र वृक्कशोथ, तारपीन, शङ्खविष, पारद, नाग, स्फुरक आदि से उत्पन्न वृक्कविकार ।

३. शस्त्रकर्म के बाद ।

४ विसूचिका, अन्त्रविष, अतिरक्तस्राव, अवसाद आदि के कारण मूत्रोत्सिका के दबाव में कमी ।

५. अपतन्त्रक ।

४९. वेपथु (Rigor)

१. वातिक ज्वर
२. विस्फोट ज्वर
३. फुफ्फुसशोथ, उदरावरणशोथ, पूयमयता
४. मलेरिया, श्लैष्मिक ज्वर
५. पूतिक उपसर्ग- पूयोरस, कर्णान्त शोथ, घातक हृदन्त शोथ, व्रण, पूयभवन।
६. यक्ष्मा आदि सान्तर ज्वर।
७. शल्यकर्म
८. पैत्तिक या वृक्कशूल
९. सूचीवेध
१०. वातिक विकार—अपतन्त्रक आदि।

५०. प्रलाप

(क) सज्वर—

१. मस्तिष्कगत विकार—क्षयज मस्तिष्कावरणशोथ।
२. तीव्र स्थानिक शोथ—फुफ्फुसशोथ
३. तीव्र विशिष्ट ज्वर—आमवात, रोमान्तिका, हृदयावरणशोथ, हृदन्त शोथ।
४. पैत्तिक उन्माद।

(ख) निर्ज्वर—

१. कम्परोग
२. जीर्ण वृक्करोग
३. ज्वरोत्तर
४. कृमि
५. प्रसवकाल
६. प्रलापजनक द्रव्य—सूची, पारसीक यवानी, धतूर, भाँग, कर्पूर, अहिफेन आदि
७. उन्माद

५१. सान्निपातिक अवस्था (Typhoid state)

१. तीव्र औपसर्गिक ज्वर—आन्त्रिक ज्वर
२. शोथयुक्त या औपसर्गिक विकार—तीव्र फुफ्फुसशोथ, तीव्र यक्ष्मा, व्रणयुक्त हृदन्त शोथ, तीव्र मस्तिष्कावरणशोथ।
३. तीव्र सन्धिवात, कम्पवात, आमवात।

५२. सन्ताप (Pyrexia)

१. आकस्मिक ज्वर—श्लैष्मिक ज्वर, मसूरिका, विसर्प, फुफ्फुसशोथ ।
२. क्रमिक ज्वर—आन्त्रिक ज्वर ।
३. ज्वर-पुनरावर्त्तन—विशिष्ट उपद्रव, पुनरावर्त्तक ज्वर ।
४ सहसा मोक्ष—आभ्यन्तर रक्तस्राव, आशय विदार, गम्भीर अतीसार ।
५. अप्रासङ्गिक—धनुःस्तम्भ, कम्पवात, विसूचिका, कैन्सर, अपस्मार, मूर्च्छा—इनमें ज्वर घातक स्थिति का द्योतक है ।

५३. अपताप (Snbnormal temperature)

१. दौर्बल्य, वार्धक्य, लघन ।
२. आभ्यन्तर रक्तस्राव, आशयविदार ।
३. उदरगतशोथ ।
४. आर्द्र चर्मरोग, विसूचिका, अतीसार ।
५. प्रमेह, कैन्सर, जीर्ण मानस रोग, ज्वरोत्तर दशा ।
६ सहज हृद्रोग, हृदयावरोध, मदात्यय, कामला, मूत्रविपमयता, श्लैष्मिक शोथ ।
७. क्षयज मस्तिष्कावरण शोथ, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, मस्तिष्कार्बुद ।
८ विप—स्फुरक, सूची, अहिफेन आदि ।
९ अवसाद ।

५४. विस्फोट-ज्वर (Eruptive fevers)

१. मसूरिका
२. रोमान्तिका
३. विसर्प
४. सन्निपात

५५. निरन्तर ज्वर (Continued pyrexia)

१. सान्निपातिक ज्वर
२. रोहिणी
३ श्लैष्मिक ज्वर
४. आमवात, फुफ्फुसशोथ, शोथयुक्त विकार
५. कुकुरखाँसी
६. कर्णमूलशोथ
७. प्लेग
८. मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर
९. अंशुघात
१०. कालज्वर
११. मूषकदंशज ज्वर

५६. सान्तर ज्वर (Intermittent pyrexia)

१. मलेरिया
२. यक्ष्मा
३ फिरङ्ग
४. पूतिमयता
५. सन्निपातज्वर
६. घातक पाण्डु
७. श्वेतकणमयता
८. अहिफेन-व्यसन

५७. स्वेदागम (Sweating)

१. मलेरिया
२. पूतिज्वर
३. आमवात
४. यक्ष्मा[१] (रात्रिस्वेद)
५. अस्थिक्षय (ललाटस्वेद)

५८ दारुण ज्वरमोक्ष (Crisis)

१ फुफ्फुसशोथ
२. रोमान्तिका (कभी-कभी)
३. श्लैष्मिक ज्वर
४. सन्निपात ज्वर में रक्तस्राव होने पर

५९. अदारुण ज्वरमोक्ष (Lysis)

१. उत्फुल्लिका
२. रोहिणी
३. आन्त्रिक ज्वर

६०. रक्ताल्पता (Anaemia)

१. घातक पाण्डु
२ सामान्य पाण्डु
३. फिरंग
४. नागविष
५. यक्ष्मा
६. कैन्सर
७ पाचनसम्बन्धी विकार, कृमि
८ हृदयरोग
९. जीर्ण वृक्करोग
१०. जीर्ण यकृद्रोग
११. रक्तस्राव, अतिस्तन्यस्राव, दौर्बल्य
१२ जीर्ण पूयभवन
१३. ज्वरोत्तर
१४. हलीमक
१५. श्वेतकणमयता
१६ सहज रक्तस्राव
१७ मलेरिया
१८ लंघन

---

१ 'गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् ।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ (च० इ० ९)

६१. कार्श्य (Emaciation)

१. घातक रोग—कैन्सर आदि ।

२. लघन तथा पाचनसम्बन्धी विकार ।

३. यक्ष्मा, मधुमेह, उदकमेह, जीर्ण वृक्करोग, फिरंग ।

४. अग्न्याशय, यकृत् के रोग ।

५. अन्य वातिक विकार ।

बच्चों में—

६. अतीसार

७. विबंध

८. छर्दि

९. सहज फिरंग

१०. अस्थिशोष

११. यक्ष्मा

६२ दौर्बल्य (Debility)

१. वार्धक्य

२ जीर्ण वृक्कशोथ

३. नाडीदौर्बल्य

४. जीर्ण अग्निमांद्य आदि पाचन विकार

५. हृदयरोग, यक्ष्मा

६. पूयभवन

७. मधुमेह, उदकमेह, ओजोमेह

८. अवटुवृद्धि

६३. अंगभेद (Pain in the limbs)

१. ज्वर

२. आमवात, सन्धिवात

३. गृध्रसी, वातरक्त, नाडीदौर्बल्य

४. मदात्यय, मस्तिष्कावरणशोथ

५. अन्त शल्यता, कोथ

६. चर्मरोग

७. अस्थिशोथ, फिरंग, अस्थिक्षय

८. पेशीशोथ, अर्बुद, ग्रंथि

९. अभिघात

१०. हृदय तथा फुफ्फुस के शूलप्रधान रोग ।

११. श्रोणिगुहा, नितंब एवं कशेरुका के रोग ।

६४. ग्रंथिवृद्धि (Enlargement of lymphatic glands)

(क) तीव्र वृद्धि :—

१. स्थानिक पूत्यात्मक विकृति ।

२. सर्वांगीण विकार—फिरंग, प्लेग, मूषकदंशज ज्वर, रोमान्तिका, रोहिणी, विस्फोट, तीव्र श्वेतकणमयता ।

(ख) जीर्ण वृद्धि :—

१. फिरंग
२. यक्ष्मा
३ श्लीपद
४. घातक रोग
५. श्वेतकणमयता

६५. प्लीहा-वृद्धि

(क) तीव्र वृद्धि :—

(१) ज्वर—

१ मलेरिया
२. कालज्वर
३. आन्त्रिक ज्वर
४. पूतिमयता, पूयमयता, जीवाणुज हृदन्तःशोथ
५. प्लेग
६. तीव्र यक्ष्मा, श्लैष्मिक ज्वर, फुफ्फुसशोथ, मसूरिका, रोहिणी, पुनरावर्त्तक ज्वर, मूषकदंशज ज्वर।

२. अभिघात
३. अन्तःशल्यता
४. प्लीहा का स्नायुकर्षण
५. विद्रधि

(ख) जीर्ण वृद्धि :—

१. जीर्ण मलेरिया
२. जीर्ण कालज्वर
३. श्वेतकणमयता
४ प्लैहिक पाण्डु
५. प्रतीहारिणी-सिरागत रक्तावरोध
६. शैशव यकृद्दाल्युदर
७. फिरंग
८. जीर्ण पूयभवन
९. अस्थिक्षय
१०. घातक पाण्डु
११ यक्ष्मा

६६. शिरःशूल

१. वायुकोटरशोथ, अभिघात।
२ नासा, दन्त, नेत्र एवं आमाशय, गर्भाशय के विकार।
३. वातिक रोग, अपतंत्रक, अर्धावभेदक।
४. मस्तिष्कावरणशोथ, फिरंग, अर्बुद, विद्रधि शिरस्तोय, मस्तिष्कावरणगत रक्तस्राव।
५. सामान्य विकार—जीर्ण वृक्करोग, मूत्रविषमयता, रक्तभारविकृति, पाण्डु, हृदयावसाद।

६ अपस्मारोत्तर मदात्यय ।

७ आमाशयशोथ, जीर्ण विबंध, जीर्ण यकृच्छोथ, मधुमेह, सन्धिवात, नागविष, अम्लाधिक्य या क्षारीयता ।

८ तीव्रज्वर—मलेरिया, आन्त्रिकज्वर, मसूरिका, श्लैष्मिकज्वर, अंशुघात ।

६७. आक्षेप (Convulsions)

१. अपस्मार ।

२. मस्तिष्क विकार—फिरंग, अर्बुद, शिरस्तोय, मस्तिष्कावरणशोथ, शिरोऽभिघात, मस्तिष्कावरणगत रक्तस्राव ।

३ विषमयता—मूत्रविषमयता, प्रसूतिसन्निपात, क्षारीयता, तीव्र यकृत्कोथ, जीर्ण मदात्यय, तीव्रज्वर तथा कोकेन, नाग, कर्पूर, कैफीन, अन्नामय आदि विष ।

४ रक्तवहसंस्थान के विकार—हृत्कार्याक्षमता, श्वासावरोध, अंशुघात, रक्त-शर्कराक्षय ।

५. अन्तःस्रावी ग्रंथियों के विकार—खल्ली, आर्त्तवस्राव, गर्भावस्था ।

६ अपतन्त्रक तथा अन्य वातिक विकार ।

शैशवाक्षेप (Infantile convulsions)

(क) प्रथम तीन मास में :—

१ जन्मकालीन अभिघात

२ धनुस्तम्भ

३. मस्तिष्कावरणशोथ

४. सहज फिरंग

५. शिरस्तोय

(ख) चार मास से दो वर्ष तक :—

१. अस्थिक्षय, खल्ली

२. मस्तिष्क के अपचयात्मक रोग, शिरस्तोय, अन्तःशल्यता, मस्तिष्कावरण-शोथ ।

३. तीव्र उपसर्ग—रोमान्तिका, उत्फुल्लिका, कुकुरखाँसी, मसूरिका, रोहिणी, श्लैष्मिक ज्वर, प्रवाहिणी, वृक्कशोथ, सहज हृद्रोग ।

४. अतिभोजन, विबन्ध, दन्तोद्भेद, कृमि ।

५. कुपीलु, सैन्टोमिन, मद्य आदि का अतियोग ।

(ग) दो वर्षों के बाद:—

१ अपस्मार २. अपतन्त्रक

सापेक्ष निदान में विवेचनीय विषय

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर रोगों का संकेत मिलने पर उनकी पूर्ण निश्चिति के लिए प्रत्येक संस्थान की परीक्षा के समय कुछ विशेष बातों पर ध्यान रखना आवश्यक होता है यथा—

रक्तवहसंस्थान

रक्तवहसंस्थान के लक्षणों में निम्नाङ्कित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

१. मुख्य व्यथा की उत्पत्ति का कारण और क्रम, व्यायाम, भावावेश आदि से संबंध।

२. वैयक्तिक इतिवृत्त—

(क) पूर्वकालिक स्वास्थ्य—विशेषतः आमवात, पीड़ा, कम्पवात, श्लैष्मिक ज्वर, रोहिणी, फिरङ्ग, उपजिह्विकाशोथ आदि।

(ख) जीवनचर्या—विशेषतः व्यायाम, मद्य और तम्बाकू।

३. पारिवारिक वृत्त—आमवात, धमनीकाठिन्य आदि।

४. लक्षण—श्वासकृच्छ्र, हृद्द्रव, शूल, भ्रम, मूर्छा, अवसाद।

५ रोगी की पञ्चेन्द्रियपरीक्षा—(क) सामान्य (ख) विशिष्ट हृच्छक्तिपरीक्षा (ग) विशिष्ट यान्त्रिक परीक्षायें।

श्वसनसंस्थान

१. मुख्य व्यथा

२. रोग का इतिहास—तीव्र या जीर्ण, शीत आदि का संपर्क।

३. पारिवारिक वृत्त—फुफ्फुसरोग का

४. फुफ्फुस की पंचेद्रियपरीक्षा

१. दर्शन—श्वसनक्रम में अन्तर, वक्ष की आकृति में अन्तर, नासाफलक, मुख और ओष्ठ का वर्ण, अंगुलिमुद्गरता।

२. हृत्प्रतीघात का स्थान।

३. स्पर्शन—शब्दतरंगस्पर्श।

४ आकोटन—मन्दध्वनि या अतिगुंजनध्वनि।

५. श्रवण—श्वसनध्वनि, वाक्ध्वनि और अन्य वैकृतध्वनियाँ।

६. निष्ठ्यूत-परीक्षा

७. क्षकिरण-परीक्षा

पाचनसंस्थान

उदरविकार

१. मुख्य व्यथा।

२. रोग का इतिवृत्त—सहसा या क्रमिक, तरुण या जीर्ण।

३. पञ्चेन्द्रिय परीक्षा—दर्शन, स्पर्शन, आकोठन, (विशेषतः प्लीहा, यकृत् आदि का क्षेत्रनिर्देश) मापन।

४. गुदा, योनि, अन्त्रवृद्धि की परीक्षा।

५. पुरीष एवं मूत्र की परीक्षा।

तीव्र उदरशूल

१ शूल की स्थिति, स्वरूप, अवधि, तीव्रता, प्रारम्भ का क्रम, पुनरावर्त्तन, प्रसार, उपशय-अनुपशय तथा अन्य आनुषंगिक लक्षणों का ज्ञान प्रश्न के द्वारा करना चाहिये।

२. रोगी का पूर्ववृत्त—पूर्वकालीन रोग-व्रण, विद्रधि, अग्निमांद्य एवं अन्य विकृतियों का इतिहास।

३. वैयक्तिक वृत्त—

आयु—बच्चों में विशेषतः आन्त्रिक विकार, युवकों में अन्त्रवृद्धि, आमाशय-व्रण, आन्त्रपुच्छशोथ तथा वृद्धों में कैन्सर का उद्भव ह ता है।

लिङ्ग—तरुणी स्त्रियों में आमाशयव्रण तथा प्रौढ़ा स्त्रियों में वहिर्गर्भाशयिक गर्भ का विदार तथा पित्ताश्मरी होती है।

व्यसन—सहसा बोझ उठाना, नाग के कारखाने में काम करना आदि।

४. परीक्षण—उदरकाठिन्य तथा स्पर्शासहत्व उदरस्थ अङ्गों गुदा, योनि आदि की परीक्षा, रोगी के अष्टस्थान की परीक्षा, विशेषतः नाड़ी और तापक्रम।

५. वक्ष की परीक्षा।

६ मूत्र की परीक्षा—विशेषतः शर्करा, स्फटिक एवं पूय के लिये।

जीर्ण उदरशूल

१. शूल की स्थिति, उत्कर्ष, स्वरूप, अवधि एव स्पर्शासहत्व।

२ उदर, गुदा, योनि की पूर्ण परीक्षा।

३. मूत्र की परीक्षा—रक्त, पूय एव स्फटिक के लिये।

पुरीष की परीक्षा—पित्ताश्मरी एव रक्त के लिये।

४. रोगी की आयु तथा रोग का इतिवृत्त।
५. अन्त्र की स्थिति—विबन्ध, अतीसार आदि।

उदरवृद्धि

१. दर्शन
२. स्पर्शन
३. आकोठन
४. श्रवण
५. मापन

गुल्म अर्बुद

१. गुल्म का स्थान।
२. किस अङ्ग के साथ सम्बद्ध है?
३. श्वसन के साथ इसमें गति होती है?
४. पूर्वकालिक स्वास्थ्य—मूत्रविकार, कामला आदि।
५. रोगी की आयु और लिङ्ग।
६. गुल्म का स्वरूप—सामान्य या घातक, ग्रन्थि या अर्बुद।

आमाशय के विकार

१. मुख्य व्यथा
२. इतिवृत्त—तीव्र या जीर्ण, सहसा या क्रमिक।
३. पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा

अन्त्र के विकार

१. **मुख्य व्यथा**—स्वरूप।
२. **रोग का इतिवृत्त**—इसमें विशेषत निम्नाङ्कित बातों पर ध्यान दिया जाय:—
१ वर्त्तमान कष्ट की अवधि, पूर्वकालिक रोग, शस्त्रकर्म।
२ क्षुधा (अग्नि)
३. शरीरभार में परिवर्त्तन।
४. ज्वर।
५. अन्त्र में पीड़ा।
६. अन्त्र के अधोभाग या गुद में दाह या पीड़ा।

७. पुरीषोत्सर्ग—पुरीष की परीक्षा

८. आमाशयिक लक्षण।

३ **पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा**—उदर की।

यकृत्

१. मुख्य व्यथा—पाचन विकार, शूल, कामला।

२. रोग का इतिवृत्त।

३. यकृत् की परीक्षा—वृद्धि, क्षय, पीड़ा आदि।

४ उदरावरण में जल की स्थिति।

५. कामला है?

६. मूत्र परीक्षा—पित्तरञ्जक द्रव, यूरेट आदि के लिये।

७. यकृत् कार्यक्षमता-परीक्षा।

८. क्षकिरण-परीक्षा।

प्लीहा

१. रोगी का इतिवृत्त—देश, काल आदि की परीक्षा।

२. रोग का इतिवृत्त—पूयभवन, ज्वर, वेपथु आदि।

३. तापक्रम

४. अन्य अङ्गों की परीक्षा—यकृत्।

५. रक्तपरीक्षा

मूत्रवह-संस्थान

१. मुख्य व्यथा

२. रोग का इतिवृत्त

३. मूत्र-परीक्षा।

४. वृक्क की परीक्षा

५. क्ष-किरण-परीक्षा

प्रजननसंस्थान

१ मुख्य व्यथा

२. रोग का इतिवृत्त—ज्वर उत्पन्न होने की तिथि, सहसा या क्रमिक, वेपथु आदि लक्षण।

३. पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा—इसमें निम्नांकित तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

१. प्रत्येक अंगप्रत्यंग की विधिवत् परीक्षा।
२. विस्फोट, पिड़का आदि की उपस्थिति।
३. तापक्रम और उसकी गति।

धातुक्षय

१. मुख्य व्यथा
२ रोग का इतिवृत्त
३ पञ्चेन्द्रिय परीक्षा—विकृत अग का परीक्षण, उसका वर्ण, आकार, संधि, पेशी, अस्थि, रक्तवह स्रोत, नाड़ी आदि की स्थिति।
४. आशयों की परीक्षा।
५. तापक्रम
६ संज्ञा, चेष्टा, प्रत्यावर्तित क्रियाओं की परीक्षा।
७. रक्त-परीक्षा
८. क्ष-किरण-परीक्षा

चर्मरोग

१. मुख्य व्यथा
२. रोग का इतिवृत्त
३. पूर्ववृत्त—फिरंग, आमवात, श्लैष्मिक ज्वर, यक्ष्मा, शस्त्रकर्म, अभिघात, विशेषतः शिर या मेरुदण्ड पर।
४ पारिवारिक वृत्त।
५ अभ्यास और व्यसन—तम्बाकू, मद्य आदि।

६. पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा—

१. अष्टस्थान-परीक्षा-विशेषतः संहनन, आकृति, तापक्रम, नाड़ीगति, शरीर-भार।

२. मानसिक क्रियायें—मेधा, अवधान, स्मृति, भावावेश, भ्रम, विपर्यय, निद्रा, प्रलाप, सन्यास।

३. स्वर और वाक्शक्ति

४. शीर्षण्य नाड़ियाँ।

५. चेष्टा-परीक्षा

६. संज्ञा-परीक्षा

७. प्रत्यावर्तित क्रिया-परीक्षा

८. शिर और मेरुदण्ड की परीक्षा—आकृति-वैषम्य, स्पर्शासहत्व, क्षय

९. त्वचा—शय्याव्रण तथा अन्य व्रण

१०. अस्थिसन्धि

११. अन्य संस्थानों की परीक्षा।

७. विशिष्ट परीक्षायें—

१. मस्तिष्क-सुषुम्ना-जल-परीक्षा

२. रक्त परीक्षा

३. क्षकिरण-परीक्षा

४. पेशी की वैद्युत परीक्षा

मुख्य लक्षणों के आधार पर सापेक्ष निदान की सुविधा के लिए यहाँ कुछ प्रमुख रोगों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

१. ज्वर

समज्वर	विषमज्वर
१. निरन्तर	१. सान्तर
२. सामान्य अभिप्राय	२. शीतोष्णाभिप्राय
३. वेग-सम	३. वेग-विषम
४. दोष-प्रधान	४. दूष्य-प्रधान
५. अष्टविध	५. प्रायः सान्निपातिक

विषमज्वर (मलेरिया)	कालज्वर	यक्ष्मा	पूयभवन
१ ज्वरमुक्त काल अधिक	कम	अधिक	कम
२. ज्वर पंचविध	सतत प्रायः	अन्येद्युष्क या सन्तत	सन्तत
३. रक्तक्षय अधिक, मासक्षय कम	रक्तक्षय कम, मासक्षय अधिक	दोनों	दोनों नही
४. रक्तस्राव, शोथ या चर्मरोग प्राय नही	रक्तस्राव, पादशोथ, जलोदर, कास, अतिसार, ओजोमेह	रक्तपित्त, कास, पाणिपाददाह, अंसपार्श्वशूल, शिर:शूल आदि, रात्रिस्वेद	शीतज्वर, ज्वरोत्तर दौर्बल्य
५. अग्नि–मन्द, विबन्ध	अग्नि प्रायः ठीक	अग्निमाद्य, धात्वग्नि भी मन्द	अग्नि प्राय: ठीक
६. प्लीहा–वृद्धि, कठिन, चिरस्थायी, यकृत् कम बढा	प्लीहा-बढी, कोमल, यकृत् बढा, कठिन	यकृत् कभी कभी	नही
७. रक्त–मलेरिया के जीवाणु	काला आजार के जीवाणु	विशिष्ट परिवर्त्तन	श्वेत कणों की वृद्धि
८ त्वचा–पाण्डुर	कृष्णाभ	पाण्डुर	रक्ताभ

२. अजीर्ण

	आमाजीर्ण	विदग्धाजीर्ण	विष्टब्धाजीर्ण
१. उद्गार	भोजन के सदृश	धूमाम्ल	केवल वायु स्वादरहित
२. दोष	कफ	पित्त	वात
३ अन्य लक्षण	गुरुता, उत्क्लेद, गण्डनेत्र शोथ	भ्रम, तृष्णा, मूर्च्छा आदि	शूल, आध्मान, मल-वात का विबन्ध
४. परिणाम–उपद्रव	विसूचिका	विलम्बिका	अलसक

आध्मान	आनाह
१. दर्शन—उदर फूला हुआ	नहीं फूला
२. स्पर्शन—मृदु	कठिन
३. आकोठन—रिक्तध्वनि	मन्दध्वनि
४. अनुभूति—पेट फूला हुआ प्रतीत होना	पेट कसा हुआ प्रतीत होना

३. छर्दि

कृमि	अम्लपित्त	परिणामशूल	उदावर्त्त	विष
१. हृल्लास	हृत्कण्ठदाह	शूल	उद्गार	विष का पूर्ववृत्त (शूल, अतिसार)

निदान, पूर्वरूप से इनका निर्णय करना चाहिए।

४. अतिसार

अतिसार	ग्रहणी	प्रवाहिका	कृमि
१. पुरीष-द्रव	मुहुर्बद्ध, मुहुर्द्रव	प्रवाहण के साथ रक्त या श्लेष्मायुक्त पुरीष अल्प।	अरुचि, हृल्लास आदि लक्षण तथा पुरीष में कृमि की उपस्थिति।

५. शूल

यकृच्छूल	हृच्छूल	वृक्कशूल	अन्त्रशूल	गर्भाशयशूल
१. शूल-यकृत् या आमाशय प्रदेश मे, ऊपर दाहिने कन्धे की ओर प्रसार, दौरे के बीच में भी कुछ पीड़ा	हृत्प्रदेश में पीड़ा	वेग के साथ वृक्क प्रदेश (कटि) मे शूल, वृषण या ऊरू की ओर नीचे प्रसार।	दौरे के साथ नाभि प्रदेश में शूल, दबाने से आराम	दौरे के साथ उदर के निचले भाग में प्रारम्भ होकर बाहर पीठ या कमर की ओर प्रसार।
२. अन्यलक्षण–कामला, वमन, पित्ताशय पर स्पर्शासहत्व, कभी पित्ताशय-वृद्धि, मूत्र मे पित्त-रजक द्रव्य और लवणो की उपस्थिति	हृदौर्बल्य, विबन्ध, आध्मान	वमन, कटिप्रदेश मे स्पर्शासहत्व, मूत्र मे रक्त की उपस्थिति, बार बार मूत्र त्याग की इच्छा, क्वचित् मूत्राघात।	विबन्ध, आध्मान, वमन, क्वचित् प्रवाहिका, अन्त्रदेश में स्पर्शासहत्व, मूत्र में क्वचित् इण्डिकन	वमन कभी कभी, स्पर्शासहत्व अधिक नही, मूत्र मे भी कोई अन्तर नही।
३. वय और लिंग-स्त्रियों मे अधिक, मध्यम आयु के बाद	स्त्री–पुरुषों मे समान, युवावस्था मे विशेष	पुरुषो मे अधिक, बाल्य एव युवावस्था में अधिक	स्त्री पुरुषो में समान, किसी आयु में	केवल स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति की आयु में।

६. उदरशूल

परिणामशूल	अम्लपित्त	अन्नद्रवशूल	गुल्म
१. शूल-पच्यमान या पक्वावस्था में	पच्यमानावस्था में	निरन्तर	जीर्णावस्था में विशेष
२ दोष-वातप्रधान	पित्तप्रधान	पित्तप्रधान	वातप्रधान
३ वमन-क्वचित्	अम्लपित्त का वमन	विदग्ध पित्त का वमन	नहीं
४. उदर की स्थिति-दबाने से स्पर्शासहत्व	×	×	उत्सेध (भ्रमणशील) स्पर्शासहत्व
५. शमन-स्निग्ध उष्ण भोजन तथा मर्दन से	वमन से	वमन से	स्निग्ध उष्ण भोजन एवं मर्दन से
६. अन्य लक्षण-विबन्ध आध्मान	हृत्कण्ठदाह, अरुचि अग्निमांद्य	दाहयुक्त शूल	विबन्ध, आध्मान

स्त्रियों में—

रक्तगुल्म	गर्भ
१. पिण्डस्पन्दन	१. अङ्गस्पन्दन
२. सशूल	२. निःशूल
३. चिरकालिक	३. नियतकालिक

गुल्म	अर्बुद	विद्रधि
१ अचल या संचारी	स्थिर	स्थिर
२. चयापचयवान्	चयवान्	—
३. पाकरहित	पाकरहित	पाकशील
४. दोषाश्रय	धात्वाश्रय	रक्तमांसाश्रय

७. उदरवृद्धि

वातोदर	पित्तोदर	कफोदर	दूष्योदर	यकृद्दाल्युदर	प्लीहोदर	छिद्रोदर	बद्धगुदोदर	जलोदर	मेदोरोग
१. दर्शन–हाथ, पैर, नाभि, कुक्षि में शोथ, श्यावारुण वर्ण, उदर पर तनुकृष्ण सिरायें	पीत हरित वर्ण, पीत ताम्रसिरायें	शुक्लवर्ण, उदर में श्वेत राजी	×	यकृत्प्रदेश में वृद्धि	प्लीहाप्रदेश में वृद्धि	नाभि के नीचे वृद्धि	हृदय और नाभि के बीच में वृद्धि	उदर में महान् शोथ, परिवृत्त नाभि	समस्त उदर, शिथिल और बृहत्
२ स्पर्शन-स्पर्शासहत्व	मृदुस्पर्श	कठिन, शीत	×	दक्षिणपार्श्व में काठिन्य	वामपार्श्व में काठिन्य	नाभि के नीचे स्पर्शासहत्व	हृदय और नाभि के बीच में स्पर्शासहत्व	काठिन्य, जल तरंग, क्षोभ और शब्द की प्रतीति	मार्दव
३. आकोठन-रिक्तध्वनि	×	मन्दध्वनि		मन्दध्वनि	मन्दध्वनि	मन्दध्वनि	मन्दध्वनि	मन्दध्वनि	मन्दध्वनि
४. अन्यलक्षण-उदर और अन्य अङ्गों में पीड़ा, अधोगुरुत्व, विबन्ध, शुष्क कास	ज्वर, मूर्च्छा दाह, तृष्णा अतिसार, भ्रम, पाक	शोथ, गौरव, उत्क्लेश, निद्रा, अरुचि, कास, श्वास	पाण्डुता, कृशता, शोष, तृष्णा शीत, वात, एवं दुर्दिन में प्रकोप	मन्दज्वर, मन्दाग्नि, कफ पित्त लक्षण, क्षीण वल, पांडु	यकृद्दाल्युदर के समान लक्षण	गुदा से स्राव नाभि के नीचे पीड़ा	विबन्ध, कण्ठ से पुरीषनिर्गम	विबन्ध, हृद्रव, श्वास कष्ट, शुक्र पुरीष, मूत्र कृच्छ्र	श्वासकष्ट, स्वेद दौर्गन्ध्य, मैथुनाशक्ति आदि

८. हृद्रोग

रोग	मर्मर			नाड़ी	अन्य चिह्न	लक्षण
	स्वरूप	काल	सवहन			
१. महाधमनी-अकार्यक्षमता	तीव्र	प्रसार	उर.फलक में नीचे की ओर	अवसादयुक्त	केशिकास्पन्दन, हृदयवृद्धि नीचे बाईं ओर, नाड़ी-भार अत्यधिक	हृत्प्रदेश में बेचैनी या शूल, श्वासकष्ट, तम.प्रवेश, अन्य वातिक लक्षण, पाण्डुरता, चिन्तित आकृति।
२. महाधमनी-संकोच	कर्कश	संकोच	गले की धमनियों में	निम्नतरंगीय नाड़ी	संकोच काल में तीव्र कम्प, हृदय की वृद्धि पूर्वोक्त की अपेक्षा कम, नाडीभार कम	पूर्वोक्त लक्षण किन्तु तीव्रता कम।
३. द्विपत्रसंकोच		प्रसार या पूर्व संकोच	हृदयाग्र में सीमित		हृदय की प्रथम ध्वनि तीव्रतर, फुफ्फुसद्वार पर द्वितीय ध्वनि अधिक तीव्र और द्विगुणित, वामनिलय प्राकृत से भी कम, दक्षिण निलय की वृद्धि	शरीर की सिराओं में रक्त-सचय, नीलिमा, रक्तष्ठीवन, यकृद्वृद्धि, शरीर में शोथ आदि।
४. द्विपत्र अकार्यक्षमता		संकोच	वामकक्षा तथा असफलक के अध कोण में		दोनों निलयों की वृद्धि, हृदयाग्र नीचे बाईं ओर	पूर्वोक्त लक्षण।

६. रक्तपित्त

ऊर्ध्वग रक्तपित्त—

रक्तष्ठीवन (Haemoptysis)	रक्तवमन (Haemetemesis)
१. रक्त खाँसने पर आता है।	१. रक्त आने के पूर्व हृल्लास या मूर्च्छा होती है।
२. कुछ समय तक खाँसी के साथ रक्त आता रहता है।	२. पुरीष में कृष्ण वर्ण रक्त मिला आता है (Melaena).
३ रक्त–क्षारीय।	३. रक्त–आम्लिक।
४. रक्त फेनिल और चमकीले रक्त वर्ण का।	४. रक्त आहारमिश्रित, भूरे रंग का या अधिक आने पर रक्तव्रण भी।
५. फुफ्फुसविकृति की उपस्थिति।	५. आमाशयिक या यकृद्विकार की उपस्थिति।

निदान—इसका निदान पूर्ववृत्त, वक्षपरीक्षा, निष्ठ्यूतपरीक्षा, आमाशय और यकृत्परीक्षा, क्षकिरण तथा स्वरयन्त्रदर्शक द्वारा किया जाता है।

रक्तपित्त	उरःक्षत	शोष	यक्ष्मा
१ पित्तप्रधान	वातप्रधान	क्षयजन्य	त्रिदोषज

अधोग रक्तपित्त

रक्तमूत्रता	पैत्तिक प्रमेह	शल्यज मूत्रकृच्छ्र
१. रक्तपित्त का पूर्वरूप	प्रमेह का पूर्वरूप	आघात का पूर्ववृत्त

रक्तातीसार	रक्तपित्त	रक्तार्श
१. अतिसार या प्रवाहिका का पूर्ववृत्त	रक्तपित्त का पूर्वरूप	कोष्ठगत वात का पूर्ववृत्त
२. रक्त पुरीष से मिला हुआ, चमकीला, लाल या श्यामवर्ण	पुरीष से पृथक् असंबद्ध रक्तपित्त लक्षण युक्त	रक्त पुरीषोत्सर्ग के अनन्तर अंकुरों पर दबाव पड़ने से अधिक मात्रा में आता है।
३. अन्य लक्षण शारीरिक, कृशता आदि	पैत्तिक लक्षण	वातपैत्तिक लक्षण
४. × ×	× ×	अंकुरों की उपस्थिति

रक्तप्रदर	रक्तपित्त	गर्भस्राव
१. क्रमिक प्रादुर्भाव	सहसा	सहसा
२ अंगमर्द, वेदना आदि रक्तक्षयज लक्षण	पैत्तिक लक्षण	गर्भाशय में तीव्र शूल के साथ रक्तागम।
३. प्रदर का पूर्ववृत्त	रक्तपित्त का पूर्वरूप	गर्भ का पूर्ववृत्त

१० शोथ

वातिक	पैत्तिक	श्लैष्मिक
१. शोथ-चल, परुष, अरुण, असित, सुप्ति हर्षशूल युक्त।	मृदु, असितपीत, दाह-पाकयुक्त	गुरु, स्थिर, पाण्डुवर्ण
२. शोथ दवाने से फिर उठ जाता है।		नही उठता है।
३. काल–दिवाबली		रात्रिबली
४. अंग–ऊर्ध्वांग में स्पष्ट	मध्यभाग में	अधोभाग में पहले
५. अन्य लक्षण–शूल	भ्रम, ज्वर, स्वेद, तृष्णा	अरुचि, लालाप्रसेक, निद्रा, वमन, अग्निमांद्य
६. अंगविकार–वृक्क विकार-जन्य	यकृद्विकारजन्य	हृद्विकारजन्य

११ मण्डल

शीतपित्त	उदर्द	कोठ	उत्कोठ	कुष्ठ	विसर्प
१. हेतु-शीतमारुतस्पर्श	—	असम्यक् वमन आदि	—	रक्तविकार	रक्तविकार
२. दोष-वात-प्रधान	कफ-प्रधान	कफप्रधान	कफवातप्रधान	त्रिदोषज	त्रिदोषज
३. काल-शिशिर कालीन	—	निरनुबन्ध	सानुबन्ध	स्थायी	चिरकालिक
४. स्वरूप-वरटी दष्टवत्, कण्डू तोदयुक्त	—	कण्डू, राग युक्त	—	दाह, पाक, रागयुक्त बड़े आकार के	रागयुक्त शीघ्र प्रसरणशील

१२. विस्फोट

मसूरिका	रोमान्तिका	फिरंग
१ समस्त शरीर में	—	प्रथम अवस्था में जननेन्द्रिय पर, तृतीयावस्था मे शरीर में विशेषत पृष्ठभागमें।
२ विस्फोट-बड़े, मुक्ताभ	छोटे, रक्ताभ	जननेन्द्रिय का व्रण कड़ा तथा तृतीय अवस्था के व्रण धूसर और सान्द्र स्रावयुक्त।
३. ज्वर, दाह, व्यग्रता अधिक	कम	प्राय नही।

१३. कास

कास	श्वास	क्षय	शोष	यक्ष्मा
१. कंठोद्ध्वंस	श्वासकष्ट	दौर्बल्य	कार्श्य	त्रिरूप, षड्रूप या एकादश रूप
२. एकदोषज	वातश्लैष्मिक	स्रोतोरोधज या व्यवायज	क्षयजन्य	त्रिदोषज

१४. रक्तगत वात

वातरक्त	रक्तवात
१. वात और रक्त दोनों दूषित	१. केवल वात प्रकुपित, रक्त दोष नही

१५. आक्षेप

अपतन्त्रक	अपस्मार
१ दौरा अकेले में या कोई ध्यान न दे उस समय नही आता। रात में भी दौरा नही आता।	१. इसमें ऐसी कोई विशेषता नहीं होती।
२. आक्रमण क्रमिक, अनियतकालिक तथा मानसिक स्थिति से किंचित् संबद्ध होता है।	२. आक्रमण सहसा, प्रायः नियत कालिक तथा केवल मानसिक स्थिति से संबन्ध नही।
३ शरीर की गतियाँ सोद्देश्य (Purposive) होती हैं अत ध्यान देने से वृद्धि।	३. आक्षेप सान्तर या निरन्तर, निरुद्देश्य।
४. वेग चिरकालीन।	४. स्वल्पकालिक।
५. श्वसन-घर्घरयुक्त नही।	५. घर्घरयुक्त।
६. दौरे के बीच-बीच में रोगी बोलता है।	६. नही बोलता।
७. रोगी सँभल कर गिरता है। जीभ कभी नहीं कटती तथा मलमूत्र का उत्सर्ग नहीं होता।	७ बेहोश गिरता है। प्राय आग और पानी में गिरने से शरीर को आघात पहुँचता है। जीभ कट जाती है और बेहोशी में मलमूत्र का उत्सर्ग भी हो जाता है।
८ नेत्र-बन्द, खोलने का प्रयत्न करने पर और अधिक बन्द, पलकों पर कम्प,	८. नेत्र अधखुले, नेत्र स्थिर, दृष्टि सम्मुख, स्थिर तथा प्रत्यावर्त्तन रहित, गम्भीर

दृष्टि प्रकाश-नासाभिमुख-प्रत्यावर्त्तन-युक्त और अस्थिर, अन्य प्रत्यावर्त्तन क्रियायें प्रायः पूर्ववत्।	प्रत्यावर्त्तन अधिक और त्वचा-प्रत्यावर्त्तन लुप्त।
९ स्त्रियों में अधिक।	९ पुरुषों मे अधिक।
१०. वातप्रधान	१० मनोदोषज।

१६. संज्ञानाश

मूर्च्छा	अपस्मार	संन्यास
१. वेग-क्रमिक	सहसा	सहसा
२. आक्षेप-नहीं	उपस्थित	नही
३. प्राय -हृद्विकारजन्य	मनोदोषज	मनोदोषज
४. प्रत्यावर्त्तनक्रिया-वर्त्तमान	विकृत	अनुपस्थित
५ वेग-स्वय शान्त	स्वयं शान्त	औषध से शान्त

१७. सन्धिशूल

सन्धिवात	आमवात
१ प्रौढवय, पुरुष।	१ किशोरावस्था या मध्यवय, स्त्री या पुरुष
२. छोटी सन्धियों (पर्वो) में प्राय।	२. बडी संधियों में।
३. भ्रमणशील नही।	३ भ्रमणशील।
४. शोथ-रक्त, तीव्र पीडायुक्त, दवाने पर दवनेवाला, विश्रामकाल में भी पीड़ा।	४. शोथ-उष्ण, पाण्डुर, पीड़ा केवल दवाने पर या गति करने पर।
५. कानों मे ग्रन्थि।	५. नही।
६. ज्वर अल्प या क्षणिक।	६ ज्वर तीव्र और निरन्तर।
७. निराम-वातजन्य।	७ साम-वातजन्य।
८. मूत्रविकृतिजन्य।	८ हृद्रोगजन्य।

१८. मूत्रकृच्छ्

मूत्रकृच्छ्र	पूयमेह	उष्णवात	मूत्राघात	अश्मरी	पौरुषग्रंथिवृद्धि
१. मूत्रोत्सर्ग काल में पीड़ा	मूत्रत्याग में दाह, शूल	मूत्र शूल दाह सहित।	मूत्र का आघात अधिक, शूल कम	लिंग के अग्र-भाग में पीड़ा मूत्रोत्सर्ग काल में, अश्मरी के हट जाने से पीड़ा शान्त	मूत्रत्याग के समय वल लगाने से अवरोध
२. मूत्र का वर्ण-प्राकृत	गाढ़ा, पूय-युक्त	हरिद्र या रक्तवर्ण	प्राकृत	प्राकृत	प्राकृत
३. स्थानिक-विकार-शोथ-युक्त या शोथ-रहित	शोथस्राव-युक्त	दाहशोथयुक्त	×	×	×
४. वय-युवा	युवा	युवा	युवा	बालक	वृद्ध

१९. मूत्राघात

वस्तिविकारजन्य	वृक्कविकारजन्य
१. वस्ति में आध्मान, शूल	१. वृक्क में शून्य
२. शलाका से मूत्रनिर्गम	२. नहीं

रोगविनिश्चय

उपर्युक्त पंक्तियों में सापेक्ष निदान का एक नमूना रक्खा गया है। इसी प्रकार अन्य रोगों के सम्बन्ध में अपनी बुद्धि से सापेक्ष निदान की रूप-रेखा बनानी चाहिये। सापेक्ष निदान के द्वारा रोगों का तुलनात्मक विवेचन हो जाने से भ्रम की आशंका दूर हो जाती है और रोगविनिश्चय पर तर्क और युक्ति की मुहर लग जाती है।

अष्टम अध्याय

साध्यासाध्यता और अरिष्टविज्ञान

(Prognosis)

साध्यासाध्यता

रोग-निर्णय के अनन्तर उसकी साध्यासाध्यता का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए क्योंकि जो साध्य व्याधि है उसका उचित उपचार करने से अवश्य शमन होगा और जो असाध्य है उसकी चिकित्सा करने से रोग तो अच्छा होगा नही केवल अर्थहानि, विद्याहानि, यशोहानि, उपक्रोश तथा लोकद्वेष ही हाथ लगेंगे।[1] अतः साध्यासाध्यता का विचारकर साध्य व्याधियों की चिकित्सा में ही हाथ लगाना चाहिये, असाध्य में नही। प्राचीन शास्त्रीय दृष्टि से साध्यासाध्यता का विचार संप्राप्ति (बल-विचार) का ही एक अङ्ग है।

साध्यासाध्यता की दृष्टि से रोग दो प्रकार के होते हैं—(१) साध्य (२) असाध्य। साध्य रोग भी दो प्रकार के होते हैं—(१) सुखसाध्य और (२) कष्टसाध्य। सुखसाध्य जो आसानी से कम समय में अच्छा हो जाय और कष्टसाध्य जो कठिनाई से अधिक काल में दूर हो। असाध्य व्याधि भी दो प्रकार की है—(१) याप्य (२) प्रत्याख्येय (अनुपक्रम)। याप्य व्याधि वह है जो अच्छी तो नही होती किन्तु औषध करने से कष्ट कम होता है और आयु का यापन होता है। प्रत्याख्येय वह है जिसमें न तो लाभ ही होता है और न शरीर का यापन ही। इस प्रकार कुल मिलाकर रोग चार प्रकार के होते हैं—(१) सुखसाध्य (२) कष्टसाध्य (३) याप्य (४) प्रत्याख्येय।[2]

---

१. 'साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः।
काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम्॥
अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥' (च. सू. १०)

२. सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च।
द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमम्॥
साध्यानां त्रिविधश्चाल्पमध्यमोत्कृष्टतां प्रति। विकल्पः (च. सू. १०)

व्याधि
- साध्य
  - १. सुखसाध्य
    - अल्प
    - मध्य
    - उत्कृष्ट
  - २. कष्टसाध्य
    - अल्प
    - मध्य
    - उत्कृष्ट
- असाध्य
  - ३ याप्य
  - ४. प्रत्याख्येय

रोग की साध्यासाध्यता के निर्णय के लिए निम्नाङ्कित बातों का विचार करना चाहिए—

१ **हेतु**—रोग का कारण (बाह्य) यदि प्रबल या प्रभूत हो तो तज्जन्य विकार भी गम्भीर और असाध्य होता है। कारण मध्यम बल हो तो कष्टसाध्य और अल्प बल हो सुखसाध्य[1] होता है। सहज रोग असाध्य होते हैं।

२. **पूर्वरूप**—रोग का पूर्वरूप समस्त मिलता हो तो रोग असाध्य, मध्यम मिलता हो तो कष्टसाध्य[2] और यदि अत्यन्त अल्प मिलता हो तो सुखसाध्य होता है।

---

१ 'हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च ।
न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् ॥
न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः ।
गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो न च ॥
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः ।
चतुष्पादोपपत्तिश्च सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥' (च. सू १०)

२. 'निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले ।
कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च ॥
गर्भिणीवृद्धबालानां नात्युपद्रवपीडितम् ।
शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम् ॥
विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम् ।
द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम् ॥' (च. सू. १०)

३ **रूप**—रोग के लक्षण यदि प्रभूत या समस्त हों तो असाध्य, मध्यम हो तो कष्टसाध्य और अल्प हों तो सुखसाध्य होता है।

४. **उपद्रव**—रोग में यदि उपद्रव अधिक और गम्भीर हों तो वह असाध्य, मध्यम या अल्प हों तो कष्टसाध्य और न हों तो सुखसाध्य होता है। मूर्च्छा, इन्द्रियनाश आदि गम्भीर लक्षण तथा अरिष्टलक्षण होने पर रोग असाध्य होता है।

५ **संप्राप्ति**—

(क) **दोष**—एकदोषज रोग सुखसाध्य, द्विदोषज कष्टसाध्य तथा त्रिदोषज असाध्य होता है। एकदोषज में भी वातज विकार आत्ययिक होने से कष्टसाध्य होते हैं।

(ख) **दूष्य**—रस-रक्ताश्रित साध्य; मास-मेद-अस्थि-मज्जगत कष्टसाध्य और शुक्रस्थ विकार असाध्य होता है। दूष्य दोष के तुल्य गुण होने से कष्टसाध्य और विपरीत होने से सुखसाध्य होता है। प्रमेह इसका अपवाद है।[1]

(ग) **अधिष्ठान**—गंभीर अंग-प्रत्यंगों तथा मर्मस्थान के विकार असाध्य होते हैं। यथा अर्श में प्रथम गुदवलि में अधिष्ठित सुखसाध्य, द्वितीयवलि में आश्रित कष्टसाध्य और तृतीयवलि में आश्रित असाध्य होता है। शिर, हृदय, बस्ति इन तीन प्रधान मर्मों के विकार कष्टसाध्य या असाध्य होते हैं।

(घ) **काल**—आदान काल में उत्पन्न विकार प्राय पुरुष की दुर्बलता के कारण कष्टसाध्य होता है। प्राकृत (अपने ऋतुओं में उत्पन्न) विकार कालगुण समान होने से कष्टसाध्य एवं वैकृत विकार (दूसरे ऋतुओं में उत्पन्न) सुखसाध्य होते हैं। ज्वर इसका अपवाद है। प्राकृत ज्वर सुखसाध्य एवं वैकृत ज्वर कष्टसाध्य होता है। प्राकृत में भी वातज्वर कष्टसाध्य होता है। नया रोग (अल्पकालीन) सुखसाध्य, मध्यमकालीन रोग कष्टसाध्य और नित्यानुशायी चिरकालीन रोग असाध्य[2] होता है। रक्तगुल्म पुराना होने पर सुखसाध्य हो जाता है।

---

१. 'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्व सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥'

२. 'शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्य पथ्यसेवया।
लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाशुप्रवर्त्तकम् ॥

(च) **गति**—तीन रोगमार्ग हैं—शाखा, मर्मास्थिसन्धि और कोष्ठ। इनमें रोग की गति यदि एक ही मार्ग में हो तो सुखसाध्य, दो मार्गों में हो तो कष्टसाध्य और सर्वमार्गों में हो तो असाध्य होता है। रक्तपित्त में ऊर्ध्वग रक्तपित्त सुखसाध्य; अधोग कष्टसाध्य और उभयग असाध्य होता है।

६ **देह**—

(क) **प्रकृति**—जिस दोष में विकार उत्पन्न हो वही पुरुष की प्रकृति होने पर रोग कष्टसाध्य और भिन्न प्रकृति होने पर सुखसाध्य होता है।

(ख) **धातु**—धातुक्षय विशेषत मांसक्षय (कृशता)[1] होने पर रोग कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है। विशेषकर यक्ष्मा मांसक्षय होने पर असाध्य होता है।

(ग) **बल**—शरीर में बल,[2] ओज और रोगक्षमता समुचित रहने पर रोग सुखसाध्य, मध्यम बल होने पर कष्टसाध्य और दुर्बल होने पर असाध्य हो जाता है। बल पर्याप्त होने पर एक तो रोग का प्रतिकार शरीर स्वयं करता है तथा दूसरे, शरीर औषधक्षम होने से अनेक प्रकार के मृदु-तीक्ष्ण औषधों का प्रयोग हो सकता है।

सत्त्व—रोगी का मानसिक बल ठीक होने पर रोग सुखसाध्य अन्यथा कष्टसाध्य होता है।

गंभीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम्।
नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम्॥
विद्याद् द्विदोषजम्'—
'तद्वत् प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम्।
क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम्॥
औत्सुक्यारतिसंमोहकरमिन्द्रियनाशनम्।
दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च॥ (च. सू. १०)

१. 'निचितं यस्य मांसं स्यात्त्वगस्थिष्वेव दृश्यते।
क्षीणस्यानश्नतस्तस्य मासमायुः परं भवेत्॥' (च. इ. ७)

२ 'बलं विज्ञानमारोग्यं ग्रहणी मांसशोणितम्।
एतानि यस्य क्षीयन्ते क्षिप्रं क्षिप्रं स हन्यते॥' (च. इ. ६)

(घ) **अग्नि**—अग्नि ठीक रहने पर रोग सुखसाध्य और अग्निमांद्य होने पर रोग कष्टसाध्य एवं असाध्य हो जाता है।

(च) **स्रोत**—स्रोतोरोध होने पर रोग कष्टसाध्य और स्रोत खुले रहने पर सुखसाध्य होता है।

(छ) **मल**—मलों का निर्हरण ठीक होने से रोग सुखसाध्य तथा न होने से कष्टसाध्य होता है।

(ज) **निद्रा**—निद्रा प्राकृत होने से रोग सुखसाध्य अन्यथा कष्टसाध्य होता है।

(झ) **व्यसन**—मादक द्रव्यों के सेवन करने वाले पुरुषों में रोग उत्पन्न होने पर कष्टसाध्य होता है।

(ट) **वय**—प्रायः वृद्धों और बालकों के रोग कष्टसाध्य होते हैं। ग्रहणी रोग बालकों में सुसाध्य होता है।

(ठ) **अवस्था**—गर्भावस्था में उत्पन्न विकार कष्टसाध्य होते है।

(ड) **कुल**—कुलज व्याधि कष्टसाध्य या असाध्य होती है।

(ढ) **जाति**—सहज रोग कष्टसाध्य या असाध्य होता है।

(त) **देश**—अच्छे जलवायुवाले देश मे होनेवाला रोग सुखसाध्य और अस्वास्थ्यकर गन्दे देशों में होनेवाला रोग कष्टसाध्य माना गया है। जाङ्गल देश स्वास्थ्यकर और आनूप देश अस्वास्थ्यकर माना गया है।

७. **चतुष्पाद**—वैद्य, रोगी, औषधद्रव्य तथा परिचारक चिकित्सा के चारों पादों का समुचित रूप में एकत्रित होना सुखसाध्यता का द्योतक है अन्यथा कष्टसाध्यता या असाध्यता का।

८. **चिकित्साप्रकार**—औषधसाध्य व्याधि सुखसाध्य और शस्त्रक्षाराग्नि-साध्य व्याधि कष्टसाध्य होती है क्योंकि रक्तक्षय होने से इसके साधन मे काल अधिक लगता है, रोगी को वेदना होती है और आत्ययिक उपद्रवों का भय बराबर बना रहता है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर साध्यासाध्यता का विचारकर रोग की चिकित्सा में प्रवृत्त होना यशःप्रद होता है।[1]

---

१ साध्यासाध्यविभागज्ञो यः सम्यक् प्रतिपत्तिमान्।
न स मैत्रेय ! तुल्यानां मिथ्याबुद्धिं प्रकल्पयेत्॥' (च. सू. १०)

अरिष्ट-विज्ञान

विकृति तीन प्रकार की होती है :—

१. लक्षणनिमित्त—यह विकृति शरीर के सहज या उत्तरकाल में उत्पन्न शङ्ख, अङ्कुश आदि सामुद्रिक चिह्नों के कारण होती है। ये चिह्न पुरुष के विशिष्ट शुभाशुभ कर्मों के परिणामकाल में विकृति उत्पन्न करते हैं।[1]

२ लक्ष्यनिमित्त—यह विकृति विभिन्न व्याधियों के लक्षणस्वरूप उत्पन्न होती है[2]।

३. निमित्तानुरूप—इस प्रकार की विकृति के न सामुद्रिक चिह्न कारण होते हैं और न निदानोक्त व्याधि ही। यह दोषों के कारण स्वयं उत्पन्न होती है और रोगी की आसन्न मृत्यु सूचित करती है। इसी को अरिष्ट भी कहते है।[3]

संहिताओं में निमित्तानुरूप विकृति का स्वतन्त्र रूप से विस्तृत वर्णन किया गया है। लक्ष्यनिमित्त विकृति का रोगों के निदान के साथ वर्णन मिलता है। लक्षण-निमित्त विकृति का विस्तृत वर्णन यहाँ दृष्टिगोचर नही होता, क्योंकि इसका संबंध सामुद्रिक शास्त्र से है। साध्यासाध्यता के निर्णय में निमित्तानुरूप विकृति का अधिक महत्त्व है। अतः यहाँ संक्षेप में अरिष्ट लक्षणों का परिचयात्मक वर्णन किया गया है।

निमित्तानुरूप विकृति

निमित्तानुरूप विकृति को निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

१. भौतिक अरिष्ट (Anomalies of physical character)

---

१ 'तत्र लक्षणनिमित्ता सा यस्याः शरीरे लक्षणान्येव हेतुभूतानि भवन्ति। लक्षणानि हि कानिचिच्छरीरोपनिबद्धानि। यानि तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्राधिष्ठानमासाद्य तां ता विकृतिमुत्पादयन्ति।' (च. इ २)

२. 'लक्ष्यनिमित्ता तु सा यस्या उपलभ्यते निमित्तं यथोक्तनिदानेषु।' (च. इ १)

३ 'निमित्तानुरूपा तु निमित्तार्थकारिणी। यामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भिषजः। भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिंगानुरूपाम्, यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति धीराः।' (च. इ १)

'क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः।
चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते॥' (च. इ. ११)

२. पञ्चेन्द्रिय-विप्रतिपत्ति (Anomalies of sensation)
३ मानस अरिष्ट (Psychological anomalies)
(क) स्वप्नसम्बन्धी (Relating to dreams)
(ख) स्वभावसम्बन्धी (Relating to habits)
४. व्याधिसम्बन्धी अरिष्ट (Pathos relating to diseases)
(क) पूर्वरूपीय (Relating to premonitory symptoms)
(ख) लाक्षणिक (symptomatic)
५ छायाविप्रतिपत्ति (Anomalies of lustre)
६ प्रतिच्छाया-विप्रतिपत्ति (Anomalies of shadow)
७ दूतसम्बन्धी अरिष्ट (Thoughts relating to messenger)
८ शकुन सम्बन्धी अरिष्ट (Thoughts relating to omens)
९ नियत अवधि में मृत्यु के सूचक चिह्न (Signs indicating sure death within a definite period)
(क) सद्योमरणीय (indicating sudden death)
(ख) दिनत्रयात्मक-मृत्युसूचक (indicating death within 3 days)
(ग) षड्दिनात्मक-मृत्युसूचक (indicating death within 6 days)
(घ) पाक्षिक-मृत्युसूचक (indicating death within 15 days)
(च) मासिक-मृत्युसूचक (indicating death within a month)
(छ) सार्धमासिक-मृत्युसूचक (indicating death within 1½ mon.)
(ज) षाण्मासिक-मृत्युसूचक (indicating death within 6 months)
(झ) वार्षिक-मृत्युसूचक (indicating death within a year)

भौतिक अरिष्ट

१ वर्ण-विकृति (Anomalies of pigmentation)—शरीर के कृष्ण-श्याम, श्यामावदात और अवदात ये प्राकृतिक वर्ण होते हैं। मृत्यु निकट होने पर नील, श्याम, ताम्र, हरित, शुक्ल आदि वैकृत वर्ण उत्पन्न हो जाते हैं। यदि आधे शरीर में प्राकृत और आधे शरीर में वैकृत वर्ण हो तो उसे भी अरिष्ट जानना चाहिये। इसी प्रकार यदि आधे मुख में ग्लानि और आधे में हर्ष या आधे में रौक्ष्य और आधे मे स्निग्धता हो तो भी उसे अरिष्ट समझना चाहिये। रोगी के

मुख में झाँई, तिल, पिडका आदि की उत्पत्ति भी मृत्युसूचक है। यदि दुर्बल रोगी के नख, आँख, मूत्र, पुरीष, हाथ, पैर और ओष्ठ आदि में वैकृत वर्ण उत्पन्न हो जाय तो वह आयु के क्षय का लक्षण है। इसी प्रकार यदि अन्य वैकृत वर्ण सहसा अकारण उत्पन्न हो जायँ तो उसे अरिष्ट समझना चाहिये। यदि रोगी के दोनों ओष्ठ जामुन की तरह नीले हो जाँय, तो उसे गतायु समझना चाहिये।

२. स्वर-विकृति (Anomalies of voice)—हंस, क्रौञ्च, नेमि, दुन्दुभि, काक, कपोत और झर्झर के सदृश स्वर प्राकृत होते हैं। शुक सदृश अनुच्चारित, सूक्ष्म, अव्यक्त, गद्गद, क्षीण, दीन और एक दूसरे से संश्लिष्ट स्वर वैकृत होते हैं। इन वैकृत स्वरों की शीघ्र उत्पत्ति अरिष्ट लक्षण है।

३. गन्ध-विकृति (Anomalies of smell)—पुरुष के शरीर से यदि विविध पुष्पों की गन्ध तथा चन्दन, कूठ, तगर, अगुरु, मधु, माला, मूत्र, पुरीष और शव की गन्ध आवे तो समझना चाहिये कि वह एक साल में मर जायगा।

४ रस-विकृति (Anomalies of Taste)—अरिष्टकाल में मनुष्य का शरीर विरस या स्वादु हो जाता है। विरसता आने पर मक्खियाँ, जूँये और मच्छड़ उसके शरीर से भागने लगते हैं। स्वादुता आने से स्नान आदि के बाद भी मक्खियाँ लगती रहती हैं।

५ स्पर्श-विकृति (Anomalies of touch)—सदा स्पन्दनशील अंगों में स्पन्दन का अभाव, नित्य उष्ण अंगों की शीतता, कोमल अंगों का काठिन्य, स्निग्ध देशों की रूक्षता, वर्त्तमान अङ्गों का सहसा विलीन हो जाना, सन्धियों का झुकना, गिरना तथा विश्लेष रक्तमांस का क्षय, कठिनता, स्वेद की अधिकता या अभाव तथा ऐसे ही अन्य वैकृत लक्षण रोगी की शीघ्र मृत्यु सूचित करते हैं।

पञ्चेन्द्रिय-विप्रतिपत्ति (Anomalies of Sensation)

नेत्र-विकृति (Anomalies relating to eye)—

१. आकाश को घनीभूत और पृथ्वी को आकाश की तरह देखना।

२. वायु को मूर्त्तिमान और अग्नि-सदृश दीप्त देखना।

३ स्वच्छ जल में जाल न रहने पर भी जाल देखना।

४. जाग्रत अवस्था में विविध प्रेतों और राक्षसों को देखना।

५. अग्नि को निष्प्रभ, नील, कृष्ण या शुक्ल देखना।

६. आकाश मे विना मेघ के मेघ या विद्युत् देखना ।

७. काले कपडे से ढके सकोरे की तरह सूर्य और चन्द्रमा को देखना ।

८ अमावास्या के विना सूर्यग्रहण देखना ।

९. रात्रि में सूर्य देखना ।

१०. चन्द्रमा के विना चन्द्रमा और अग्नि के विना धूम देखना ।

११. प्रभावान् को निष्प्रभ और निष्प्रभ को प्रभावान् देखना ।

१२. प्रत्येक वस्तु को विवर्ण, विकृत तथा विसदृश देखना ।

१३. अदृश्य को देखना (Hallucination) ।

१४. दृश्य को न देखना ।

कर्ण-विकृति (Anomalies relating to ear)

१. अशब्दों को सुनना और शब्दो को न सुनना ।

२. अंगुली से कान वन्द करके ज्वाला-शब्द सुनना ।

घ्राण-विकृति (Anomalies relating to nose)

१ अच्छी गन्ध को बुरी और बुरी को अच्छी समझना ।

२. नासा की स्थूलता और विना शोथ के शोथयुक्त दीखना ।

३ वक्र, अतिनि सृत, अतिकुञ्चित या शुष्क नासिका ।

जिह्वा-विकृति (Anomalies relating to tongue)

१. रस-ज्ञान का नितान्त अभाव या यथार्थ ज्ञान न होना ।

२ स्तब्ध, अचेतन, भारी, कंटकित, श्याव, शुष्क या शोथयुक्त जिह्वा ।

त्वग्विकृति (Anomalies relating to Skin)

१ गर्म को ठंढा, रूक्ष को स्निग्ध या मृदु को कठिन समझना ।

स्वप्न-संबन्धी अरिष्ट

शुभ स्वप्न (Healthy dreams)

१ कोठे, पर्वत, हाथी, बैल, घोड़े और पुरुषों पर चढ़ना ।

२. समुद्र तैरना और उसकी वृद्धि देखना ।

३. सकट से मुक्ति ।

४. प्रसन्न देवों से तथा पितरों से वार्तालाप ।

५. चन्द्र, सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, श्वेतवस्त्रधारी यशस्वी मनुष्यों का दर्शन ।

६ स्वच्छ सरोवर का दर्शन ।

७ छत्र और दर्पण पर मांस, मछली, विष और अमेध्य वस्तुओं का दर्शन ।

८ श्वेत पुष्पों का दर्शन ।

९ अश्व, गौ और रथ की सवारी ।

१०. पूर्वोत्तर दिशा में गमन ।

११. रोना ।

१२. गिरे हुए का उठना ।

१३. शत्रुओं का मर्दन ।

अशुभ स्वप्न (Unhealthy dreams)

१. शिर में वंश, गुल्म, लता आदि की उत्पत्ति ।

२. शिर का मुण्डन ।

३. गृध्र, उलूक, कुत्ते और काक से चारों ओर घिरना ।

४. मूर्च्छा ।

५. जाते हुए गिरना तथा धूलि, श्मशान, भस्म आदि पर गिरना ।

६. मलिन जल, पंक या अँधेरे कुँए में डूबना ।

७. स्नेहपान, अभ्यंग, छर्दि, विरेचन, स्वर्णलाभ, कलह, बन्ध और पराजय ।

८. दोनों जूतों का खो जाना ।

९. हर्ष ।

१०. क्रुद्ध पितरों का डाँटना ।

११. चन्द्र, सूर्य, तारा, दीप आदि का गिरना या नाश होना ।

१२. पेड़ों का टूटना ।

१३. लाल फूल के वन, पापकर्मयुक्त स्थान, चिता और अँधेरे स्थान में प्रवेश ।

१४. लाल माला पहने, नंगे, अट्टहास करते दक्षिण दिशा में जाना या वानर के साथ घोर वन में जाना ।

१५. काषाय वस्त्रधारी, नग्न दण्डी, कृष्णवर्ण या लाल नेत्रवालों का दर्शन ।

१६. कृष्ण वर्ण, पापिनी, दीर्घ केशनख और स्तनवाली, लाल माला पहने तथा लाल वस्त्र धारण किये स्त्री का दर्शन ।

स्वभाव-संबन्धी विकृति

१. वाचिक, दैहिक तथा मानसिक चेष्टाओं का नाश
२. चेतना की विकृति
३. मन में उत्सुकता और भय का संचार
४. स्मरणशक्ति और बुद्धि का नाश
५. लज्जा और शोभा का नाश
६. पापजनित रोगों और अधर्म का सहसा नाश
७. क्रोध और तेज का नाश
८. आचरण का विपर्यय
९. शक्ति का कभी प्रादुर्भाव और कभी नाश
१०. वैद्य, औषध, गुरु और मित्र से द्वेष

व्याधि के पूर्वरूप-संबन्धी अरिष्ट

ज्वर आदि व्याधियों में वर्णित पूर्वरूपों की अतिमात्रा में उपस्थिति सामान्यत· अरिष्टसूचक होती है। नीचे कुछ विशिष्ट व्याधियों के अरिष्ट दिये जाते हैं—

शोष—

१. बलहानि, प्रतिश्यायवृद्धि और नारीप्रसग

यक्ष्मा—

१. स्वप्न में कुत्ते, ऊँट या गधे पर दक्षिण दिशा में जाना
२. वानर से मित्रता

ज्वर—

१. स्वप्न मे प्रेतों के साथ मद्यपान
२ स्वप्न में कुत्तों से घसीटा जाना

रक्तपित्त—

१. स्वप्न मे आकाश को लाक्षा और अलक्तक से रञ्जित वस्त्र के सदृश देखना।
२. स्वप्न में रक्तपान
३. स्वप्न में लाल माला और वस्त्र धारण किये हँसते हुए स्त्री के साथ जाना।

गुल्म—

१. शूल, आटोप, आन्त्रकूजन, अतिदौर्बल्य तथा नखादि में वैवर्ण्य ।

२. स्वप्न मे हृदयस्थल पर कठिन कण्टकवाली लता तथा कोष्ठ में वृक्ष की उत्पत्ति ।

कुष्ठ—

१. थोडे स्पर्श से भी अधिक विदार

२. क्षतों का रोहण न होना

३. स्वप्न में स्नेहपान तथा नग्न और घृतलिप्तांग अवस्था में बुझी अग्नि में होम करते हुए अपने वक्ष:स्थल में पद्म की उत्पत्ति देखना ।

प्रमेह—

१. स्नान आदि के बाद भी मक्खियों का लिपटना

२ स्वप्न में चाण्डालों के साथ विविध स्नेह द्रव्यों का पान

उन्माद—

१. चिन्ता, श्रम, उद्वेग, अस्थान में मोह, बेचैनी और बलहानि

२. आहारद्वेष तथा लुप्तपित्तता

३. उदर्द की उत्पत्ति

४. क्रोध, भय, हास, मूर्च्छा तथा प्यास का आधिक्य

५. स्वप्न मे राक्षसों के साथ नाचना तथा पानी में डूबना

अपस्मार—

१. जाग्रत् अवस्था मे मिथ्या अन्धकार की प्रतीति तथा बहुविध शब्दों को सुनना ।

२. स्वप्न मे मत्तावस्था में नाचते हुए पुरुष का प्रेतों द्वारा नीचे शिर करके अपहरण ।

बहिरायाम—

१. सोने के बाद जागने पर हनु, मन्या तथा नेत्रों में स्तम्भ ।

२ स्वप्न में पूड़ी, पूआ खाना तथा जागने पर वमन कर देना ।

अतिसार—स्वप्न में जलपान करना ।

शिरोरोग—स्वप्न में शिर में वृक्ष या लता की उत्पत्ति ।

छर्दि—स्वप्न में पूड़ी खाना।

श्वास—स्वप्न में रास्ता चलना।

पाण्डु—हल्दी से युक्त भोजन करना।

लाक्षणिक अरिष्ट (Symptomatic Pathos)

निम्नलिखित लक्षण रोगी की मृत्यु सूचित करते हैं :—

१ बोलते समय वक्ष के ऊपरी भाग मे पीड़ा होना।

२. अपक्व अन्न का ही गुदा द्वारा नि सरण या उदर मे रहने पर भी जीर्ण न होना।

३. अतिशीघ्र बलक्षय, अतितृष्णा और हृदयशूल।

४ गम्भीरज हिक्का के साथ-साथ रक्तातिसार की उपस्थिति।

५ दुर्बल रोगी को आनाह और अतिसार साथ-साथ होना।

६. बलमांसहीन रोगी को प्रात काल ज्वर और कष्टप्रद शुष्क कास होना।

७ बलमांसहीन रोगी को सायंकाल ज्वर तथा श्लैष्मिक कास होना।

८. मन्दाग्नियुक्त उदर रोगी को गॉठदार पाखाना होना।

९. औदरिक शोथ का क्रमश हाथ पैर मे फैलना।

१० पैर मे शोथ, पिण्डिकायें नीचे की ओर लटकी और जघायें अवसादयुक्त।

११. हाथ, पैर, लिङ्ग और उदर मे शोथ तथा रोगी का विवर्ण, बलहीन और आहारद्वेषी होना।

१२. वक्ष में चिपके हुए बहुत से श्लेष्मा का सदा नील, पीतरूप में तथा रक्त के साथ गिरना।

१३. रोगी में रोमाञ्च, मूत्र की सान्द्रता, शुष्क कास, ज्वर और क्षीणता की उपस्थिति।

१४. कृश और दुर्बल रोगी के मलाशय, मूत्राशय आदि कोष्ठों में त्रिदोष का प्रकोप होना।

१५. दुर्बल रोगी में ज्वरातिसार के बाद शोथ या शोथ के बाद ज्वरातिसार।

१६. पाण्डुरोग में दुर्बलता, अतितृष्णा तथा श्वास का प्रकोप।

१७ हनु और मन्या में स्तम्भ, बल का अत्यन्त ह्रास तथा प्राणों की वक्ष स्थल में ऐसी स्थिति मानो वे निकलना ही चाहते हों।

१८. व्यायाम करनेपर ग्लानि का अनुभव तथा उसके कुछ लाभ के बदले मास, बल और आहार की कमी।

१९. जिसके रोग विरुद्धधर्मी हों, फलत जिनकी चिकित्सा भी परस्पर विरुद्ध हो।

२०. बल, विज्ञान, आरोग्य, ग्रहणी तथा मांस-रक्त का शीघ्र क्षय।

२१ कामला, उपचित मुख, शङ्खप्रदेश में मांस का अभाव, संत्रास तथा अङ्गों में उष्णता।

२२. उभरे गाल, दारुण ज्वरकास, शूल और अन्नद्वेष।

२३ सहसा ज्वर की उत्पत्ति, तृष्णा, मूर्च्छा, बलक्षय तथा सन्धिविश्लेष।

२४. प्रलेपज्वर में मुख से प्रात काल अधिक स्वेदागम।

२५. जिस पुरुष की आँखें नष्ट, हरित या श्याव हों, उसे व्याधि होना।

२६ रोगी पुरुष की सज्ञाहीनता तथा मुखशोष।

२७. पैत्तिक व्याधि में स्वेद न निकलना, सिरायें हरी और अम्ल की रुचि।

२८. राजयक्ष्मा में हाथ, पैर आदि प्रान्तीय अङ्गों की शोभा तथा वक्ष आदि मध्यभाग में शोष और बलहानि।

२९. शोषरोग में असाभिताप, हिक्का, रक्तागम, आनाह और पार्श्वशूल।

३० वातव्याधि, अपस्मार, कुष्ठ, रक्तपित्त, उदर, गुल्म, मधुमेह और यक्ष्मा में बलक्षय।

३१. विरेचन द्वारा आनाह दूर करने पर पुन' तृष्णा और आनाह की उत्पत्ति।

३२. मुख और कण्ठ के शोष में जल पीने में असमर्थता।

३३. स्वरक्षय, बलवर्ण की हानि और अनुचित क्रम से रोगवृद्धि।

३४. ऊर्ध्व श्वास में उष्णता का अभाव, वक्षणों में शूल और बेचैनी।

३५. दुर्बल रोगी में सहसा रोगमोक्ष।

३६ कफ, शुक्र तथा पुरीष का पानी में डूबना।

३७. श्लेष्मा में विविध वर्णों की उपस्थिति।

३८. मुख से फेनयुक्त रक्त निकलना, शूल और कुक्षि में तोद।

३९. ग्रीवास्तम्भ, बलनाश, जिह्वाशोथ तथा मुख और गले में पाक।

४०. भ्रम और प्रलाप का आधिक्य तथा दारुण पर्वभेद।

छाया विप्रतिपत्ति

स्वभावत पंचमहाभूतों के अनुसार छाया पाँच प्रकार की होती है। उनमें वायवीय छाया महान् क्लेश या मृत्यु की सूचक है। तैजस प्रभाओं में भी जो स्निग्ध, विकाशी और विपुल होती है वे शुभ तथा रूक्ष, मलिन और संश्लिष्ट छाया अशुभ होती है।

प्रतिच्छाया-विकृति

चाँदनी, धूप, दीपज्योति, जल और दर्पण में जिसकी छाया विकृत दीखे, उसे अरिष्ट लक्षण से युक्त समझना चाहिये। यदि छाया कटी हुई, सछिद्र, अनिश्चित, हीनाग, अधिकाग, नष्ट, अतिसूक्ष्म, विभक्त, विकृत या शिरोहीन हो तो वह मृत्यु की सूचक होती है। छाया के आकार, प्रमाण, वर्ण या प्रभा मे विपर्यय होना अशुभ है।

दूत-संबन्धी अरिष्ट

शुभ दूत (Auspicious messenger)

प्रसन्न, सर्वांगपूर्ण, यशस्वी, श्वेतवस्त्रधारी, मुण्डन और जटा से रहित, जाति-विशिष्ट क्रिया और वेष से युक्त तथा जो ऊँट, गधे आदि सवारी पर न आया हो, ऐसा दूत प्रशस्त होता है। जो दूत संध्यातिरिक्त काल में, भरणी, आर्द्रा, ज्येष्ठा, श्लेषा, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ, पूर्वभाद्रपद, मघा तथा ध्रुवसज्ञक नक्षत्रो के अतिरिक्त नक्षत्र में, चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशी के अतिरिक्त तिथि में, मध्याह्न और अर्द्धरात्रि के अतिरिक्त काल में तथा भूकम्प और ग्रहण के अतिरिक्त क्षण में आया हो, उसे शुभ समझना चाहिये। अशस्त देश तथा अशस्त शकुनों को छोड़ कर आये हुये दूत भी अशस्त होते है।

अशुभ दूत

(Inauspicious messengers)

जब वैद्य केश खोले, नग्न, अशौचावस्था में या सोया हो उस समय तथा जब वैद्य रो रहा हो, कुछ काट रहा हो, कुछ फाड़ रहा हो, हवन कर रहा हो, अन्नपाक कर रहा हो, पितरों को पिण्ड दे रहा हो, अप्रशस्त वाक्य बोल रहा हो

[illegible]
[illegible]

रोग के [illegible] [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

शकुन-संबन्धी अरिष्ट

शुभ शकुन

(Auspicious Omens)

रास्ते में जाते समय या रोगी के [illegible] निम्न शकुन हों, [illegible] शुभ होगा —

१. स्त्री, प्रसन्न, [illegible], गाय, वृष, रथ, घोड़े, [illegible], देवपूजा, कच्चे फल, अग्नि, कुमारी कन्यायें, [illegible], [illegible], जलती आग, मोदक, सफेद फूल, [illegible] स्थान, [illegible], बछड़े के साथ गौ, घोड़ी, [illegible], [illegible], सारस आदि शिकारी पक्षी, हंस, मयूर, मछली, बकरा, ब्राह्मण, [illegible], ताजा मांस, घी, [illegible], [illegible], सफेद सरसों और गोरोचन, [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] खिलना, सुगंधित, श्वेतवर्ण तथा [illegible] वस्त्र।

२. प्रशस्त मृग, पक्षी और मनुष्यों की वाणी, भेरी, मृदंग और शंख के शब्द, वेदाध्ययन की ध्वनि।

३. शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन का सुखद स्पर्श।

अशुभ शकुन

(Inauspicious Omens)

१ रास्ते में जाते हुये छींक, चिल्लाना, रोना, गिरना, फिसलना, ऊँची आवाज़, चोट, निषेध और निन्दा की प्राप्ति।

२. छत्र और जूते का गिरना, ध्वजा, पताका और वृक्ष का गिरना, मृत जन्तु का दर्शन, बिड़ाल, कुत्त या सर्प का रास्ता काटना, बाज आदि क्रूर जन्तुओं का सूर्याभिमुख वाणी, उपर्युक्त जन्तुओं को जाते हुये या उत्तानावस्था में देखना।

३. भस्म और धूलि से शरीर का दूषित होना।

नियतावधिक अरिष्ट:—

सद्योमरणीय अरिष्ट (Signs indicating Sudden death)

१ कष्टप्रद वाताष्ठीला का हृदय में संवृत्त होना तथा तृष्णा का प्रकोप।

२. पिण्डिकाओं को शिथिल तथा नासा को टेढी करनेवाली वायु।

३. व्याधिकाल मे भौंहें नीचे झुक जाना, अन्तर्दाह अधिक होना तथा हिक्का की उत्पत्ति।

४. क्षीण-रक्तमांसवाले पुरुप में ऊर्ध्वगमनशील वायु तथा दोनों मन्याओं की समता।

५. दुर्वल पुरुष मे वायु का गुद और नाभि को छोड़ कर वक्षण को पीड़ित करना।

६ वायु के कारण पर्शुकाओं का प्रसार, छाती की जकड़ाहट, सारे अंग का स्तम्भ और नेत्र का विस्फार।

७. दुर्वल पुरुप में वायु के कारण हृदय, उत्तर तथा अधर गुद की पीड़ा।

८. वक्षणों और गुदों की वातजन्य पीड़ा तथा श्वास की उत्पत्ति।

९. नाभि, वस्तिशिर, मूत्र और पुरीष मे विवन्ध होकर वातजन्य शूल की उत्पत्ति।

१०. वक्षणों में वात के कारण भेदनवत् पीड़ा, अतिसार तथा तृष्णा का आधिक्य।

११. सारे शरीर में वायु व्याप्त होना, अतिसार और तृष्णा।

१२. वातजन्य शोक, अतिसार और तृष्णा।

१३. पक्वाशय से उत्पन्न परिकर्तिका, गुद में तीव्र पीड़ा तथा तृष्णा।

१४. पक्वाशयस्थित वायु के द्वारा सज्ञानाश तथा कण्ठ में घुर्घुर शब्द।

१५. दाँतों की मलिनता, चूने की तरह मुख की सफेदी और स्वेद का आधिक्य।

१६. तृष्णा, श्वास, शिरोरोग, मोह, दौर्बल्य, कूजन तथा अतिसार।

दिनत्रयात्मक अरिष्ट:—

१. ऊष्मा के अनुगामी पित्त का शङ्खदेश में जाकर शङ्खक रोग उत्पन्न करना।

२. रोगी की भौंहों या सिर में अनेक अपूर्व व्यक्त सीमन्तावर्तक (Sutures) दीखना।

षड्दिनात्मक अरिष्ट:—

१. स्वस्थ पुरुष के सिर या भौंहों में अनेक अपूर्व सीमन्तावर्तकों (Lines of sutues) की अभिव्यक्ति।

२. केशों के खींचे जाने पर कोई ज्ञान न होना।

साप्ताहिक अरिष्ट:—

१. बिछावन से उठाने पर रोगी का बार-बार बेहोश होना।

पाक्षिक अरिष्ट:—

१. प्रतिलोमग तथा अनुलोमग अनेक व्याधियों का मिश्रण और ग्रहणी की विकृति।

२. स्नान, अनुलेपन आदि के बाद अन्य अङ्गों की अपेक्षा पहले वक्ष का भाग सूखना।

मासिक अरिष्ट:—

१ शिर में गोवर की तरह चूर्ण उत्पन्न होना और तेल आदि स्नेह द्रव्य लगाने पर नष्ट हो जाना।

२. हाथ, पैर और मुख में शोथ या शोष।

३. शुक्र, मूत्र और पुरीष का जल में डूबना।

४. उन्मत्त की तरह शरीर में कम्प, मोह, गति और उच्चारण होना।

५. मांस का नितान्त क्षय तथा केवल अस्थिचर्म का अवशेष।

सार्धमासिक अरिष्टः—

१. बल-मांस का क्षय, तीव्रता से रोगवृद्धि तथा अरुचि ।

षाण्मासिक अरिष्टः—

१. भक्ति, शील, स्मृति, त्याग, बुद्धि और बल की अकारण निवृत्ति ।

२. ललाट मे अपूर्व धमनियों के शोभामय जाल का प्रादुर्भाव ।

३. ललाट में चाँद की तरह वक्र रेखायें दीखना ।

वार्षिक अरिष्टः—

१. अकारण शोभा, उपचय और धनप्राप्तिसूचक चिह्नों की वैकृत उत्पत्ति या नाश ।

२ अरुन्धती तारा को न देखना ।

३. यदि पुरुप का दिया हुआ पिण्ड कौवा न खाय ।

४. मन्दाग्नि, व्याकुलता, छायाविकृति तथा दुःखशीलता ।

५. मनुष्य के शरीर से विविध पुष्पों की गन्ध तथा चन्दन, कूठ, अगुरु, तगर, मधु, माला, मूत्र, पुरीष और शव की गन्ध आना ।

नवम अध्याय

क्रियाक्रम और कार्यफल

(Treatment)

चिकित्सा

लक्षण—रोग-निर्णय के वाद चिकित्सा का प्रश्न आता है। दोष-वैषम्य से विविध रोगों की उत्पत्ति होती है और दोषों की विषमता (क्षय और वृद्धि) को दूर करने से रोग का शमन हो जाता है। अतः जिन उपायों से दोष-वैषम्य दूर होकर शरीर में दोष-धातु-मलों की समता स्थापित हो, उसे चिकित्सा कहते हैं।[1]

सिद्धान्त—उपर्युक्त लक्षण के अनुसार वृद्ध दोषों को घटा देना, क्षीण दोषों को वढा देना तथा समदोषों की रक्षा करना यही आयुर्वेदीय चिकित्सा का सिद्धान्त है।[2] दूसरी वात यह कि सामान्य से पदार्थों की वृद्धि होती है और विपरीत से ह्रास होता है।[3] अत॰ वर्धित दोषों के क्षपण के लिए विपरीत गुण-द्रव्यों का प्रयोग तथा क्षीण दोषों के वर्धन के लिए समान गुण-द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। सम दोषों की रक्षा के लिए स्वस्थहित आहार-विहार करना चाहिए। यथा वातवृद्धि में रूक्ष-शीत आदि वातगुणों के विपरीत स्निग्ध-उष्ण आदि गुणों से युक्त द्रव्यों का प्रयोग होना चाहिए।[4]

---

१. 'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां मतम्॥' (च. सू १६)

२. 'दोषाः क्षीणा बृंहयितव्या कुपिताः प्रशमयितव्या वृद्धा निर्हर्त्तव्याः समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः।' (सू. च. ३३)

३ सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च—' (च. सू. १)

४. 'अनातुरेण भेषजेनातुरमुपचरामः, क्षाममक्षामेण, कृशं च दुर्वलमाप्याययामः, स्थूलं मेदस्विनमपतर्पयामः, शीतेनोष्णाभिभूतमुपचरामः, शीताभिभूतमुष्णेन, न्यूनान् धातून् पूरयामः, व्यतिरिक्तान् ह्रासयामः, व्याधीन्, मूलविपर्ययेणोपचरन्तः सम्यक् प्रकृतौ स्थापयामः।' (च सू. १०)

प्रकार—उपर्युक्त सिद्धान्त से चिकित्सा वस्तुत दो ही प्रकार की है —१. लंघन २. बृंहण। इसी को दूसरे शब्दों में 'सन्तर्पण' और 'अपतर्पण' कहते हैं। 'लघन' जो शरीरस्थ बढे हुए दोषों को घटावे और 'बृंहण' वह जो क्षीण दोषों को बढावे।[1] शरीरस्थ मलों को बाहर निकालने के लिए जो सशोधन पचकर्म (वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन) किये जाते हैं वे भी शरीर को हलका बनाने के कारण लंघन के ही अन्तर्गत हैं। सशोधन के पूर्व जो स्नेहन-स्वेदन करते हैं उनमें स्नेहन बृहण तथा स्वेदन लंघन है।

क्रियाक्रम की दृष्टि से चिकित्सा दो प्रकार की है'—१. संशोधन २. सशा-मन। सर्वप्रथम अवस्थानुसार दोषों का सशोधन करते हैं और उसके बाद सशमन द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। सशोधन के बाद सशमन देने से अधिक कार्यकर होता है जिस प्रकार वस्त्र को प्रक्षालित कर रंगने से सुन्दर रग पकड़ता है। दूसरी बात यह कि संशोधन से कारणभूत दोष का पूर्णत' निर्हरण हो जाने से भविष्य में रोग के पुनरावर्त्तन का भय नही रहता और सशोधन न करने से दोष शरीर के भीतर पड़े रहते हैं और समय आने पर पुन प्रकट हो जाते हैं।[2]

हेतु-अधिष्ठान की दृष्टि से चिकित्सा तीन प्रकार की है—१ दैविक २. शारीरिक ३ मानसिक। इन्हें क्रमश· दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय कहते हैं।[3] मन्त्र, जप, होम आदि से दैव की शान्ति से जो रोगोपचार किया जाता है वह दैवव्यपाश्रय है। आहार-विहार औषध के द्वारा जो

---

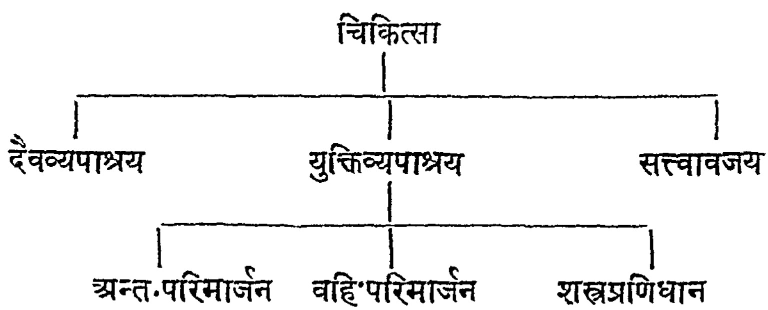
१. 'यत् किंचिल्लाघवकर देहे तल्लघन स्मृतम्।
बृहत्व यच्छरीरस्य जनयेत्तच्च बृहणम्॥' (च सू. १२)

२. 'एवं विशुद्धकोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते।
व्याधयश्चोपशाम्यन्ति प्रकृतिश्चानुवर्त्तते॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति।
बल पुष्टिरपत्य च वृषता चास्य जायते॥
जरा कृच्छ्रेण लभते चिर जीवत्यनामयः।'—
'दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिता लंघनपाचनैः।
जिताः सशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भव.॥' (च. सू १६)

३. 'त्रिविधमौषधमिति–दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय, सत्त्वावजयश्च।'
(च. सू ११)

शरीर रोगों की चिकित्सा होती है वह युक्तिव्यपाश्रय कहलाती है। सत्त्वावजय मानसिक रोगो की चिकित्सा है जो ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि आदि से की जाती है।

प्रयोग की दृष्टि से शरीर-चिकित्सा तीन प्रकार की है :—१. अन्त:परिमार्जन २ वहि:मार्जन ३ शस्त्रप्रणिधान।[१] मुख के द्वारा औषध भीतर खिला कर जो चिकित्सा की जाती है वह अन्तःपरिमार्जन कहलाती है। लेप, परिषेक, अभ्यंग आदि के द्वारा की गई चिकित्सा वहि:परिमार्जन कहलाती है। शस्त्रसाध्य रोगो मे जो शस्त्रकर्म किये जाते हैं वह शस्त्रप्रणिधान कहलाते है।



साधन की दृष्टि से चिकित्सा दो प्रकार की है—(१) द्रव्यभूत (२) अद्रव्यभूत।[२] औषध, अन्न आदि के द्वारा जो चिकित्सा-विधान होता है वह द्रव्यभूत और विहार के द्वारा जो उपचार होता है अद्रव्यभूत कहलाता है।

त्रिदोष-चिकित्सा

१. शरीर-दोषों (वात-पित्त-कफ) के लिये संशोधन-कर्मों मे क्रमश: बस्ति, विरेचन और वमन तथा संशमन औषधों मे तैल, घृत और मधु विशिष्ट औषध माने गये है।[3] शिरोगत दोषों के लिए नस्य देना चाहिये।

२ कफ की शान्ति तीक्ष्ण प्रयोगों से करे जैसा कि दुर्जनों के प्रति करते

---

१. 'शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जन, वहिःपरिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानं चेति।' (च. सू ११)

२. 'एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधम्—द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं चेति।' (च. वि. ८)

३. 'शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।
बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु॥'

हैं। वात का शमन मित्रवत् स्नेह से करे। पित्त की शान्ति अभ्यागत के सदृश मधुर-शीतल पादार्थों से करे।[1]

वात-चिकित्सा

वात का प्राकृत गुण रूक्ष, लघु, शीत, सूक्ष्म, चल, विशद और खर है अत: वात की चिकित्सा में स्नेहन, स्वेदन, वस्ति, स्निग्ध, उष्ण, मधुर, अम्ल, लवण, अभ्यंग, उपनाह, भेदन, संवाहन आदि का विधान विहित है।[2]

पित्त-चिकित्सा

पित्त का गुण उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, कटु है अत: पित्त के शमन के लिए घृतपान, विरेचन, मधुर-तिक्त-कषाय-शीत अन्न-औषध का प्रयोग, सुगन्धि-शीतल द्रव्यों का संस्पर्श, संगीत, प्रियसभोग, शिशिरवात-सेवन आदि का प्रयोग करते हैं।[3]

कफ-चिकित्सा

कफ के गुण गुरु, शीत, मन्द, स्निग्ध, मधुर, स्थिर और पिच्छिल हैं अतः कफ की चिकित्सा में तीक्ष्ण-उष्णसंशोधन, रूक्ष-कटु-तिक्त-कषाय औषध-अन्न विविध व्यायाम, तीक्ष्ण मद्य, धूम्रपान, उपदाह, उष्ण वस्त्र आदि का सेवन कराते हैं।[4]

---

१. 'कफं दुर्जनवत्तीक्ष्णैः वातं स्नेहेन मित्रवत्।
पित्तं जामातरमिव मधुरैः शीतलैर्जयेत॥' (यो. र.)

२. 'स्निग्धोष्णस्थिरवृष्यबल्यलवणस्वाद्वम्लतैलातप-
स्नानाभ्यञ्जनवस्तिमांसमदिरासवाहनोद्वर्त्तनम्।
स्नेहस्वेदनिरूहनस्यशयनस्थानोपनाहादिकं
पानाहारविहारभेषजमिदं वातं प्रशान्तिं नयेत्॥' (यो. र)

३. 'तिक्तस्वादुकषायशीतपवनच्छायानिशावीजन-
ज्योत्स्नाभूगृहवारियन्त्रजलजस्त्रीगात्रसंस्पर्शनम्।
सर्पिः क्षीरविरेकसेकरुधिरस्रावोपदेहादिकं
पानाहारविहारभेषजमिद पित्तं प्रशांतिं नयेत्॥' (यो. र)

४. 'रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकव्यायामनिष्ठीवनं
स्त्रीसेवाध्वनियुद्धजागरजलक्रीडापदाघातनम्।
धूमस्तापशिरोविरेकवमनं स्वेदोपनाहादिकं
पानाहारविहारभेषजमिदं श्लेष्माणमुग्रं जयेत्॥' (यो र.)

पथ्य

व्यवहारत पथ्य शरीर-मार्गों के लिये हितकर तथा मन के अनुकूल आहार-योजना को कहते है।[1] प्रत्येक रोग मे दोष-दूष्य का विचार कर जिस प्रकार औषध उसी प्रकार पथ्य अन्न की भी व्यवस्था की जाती है। पथ्य से यदि रोगी रहे तो मृदु रोगों मे वही औषध का भी काम कर देता है और यदि पथ्य का पालन न किया जाय तो औषध करने पर भी लाभ न होगा।[2]

पथ्य की व्यवस्था मे शरीर-दोषों के साथ-साथ रोगी की मानसिक स्थिति का भी ध्यान रखना चाहिये। जो अन्न अपथ्य और अप्रिय है, वह प्रयोगयोग्य नही है। अधिक काल तक सेवन करते रहने से, स्वादु न होने से यदि पथ्य अन्न के प्रति रोगी को द्वेष हो जाय तो उसे विभिन्न मनोनुकूल रुचिकर कल्पनाओं से साधित कर प्रयोग करे। इससे बल की वृद्धि होती है और व्याधि का भी नाश होता है।[3]

कार्य-फल

चिकित्सा का क्या परिणाम हुआ यह रोगी को आतुरालय से मुक्त करते समय लिखना चाहिए। चिकित्सा करण है और उसकी प्रवृत्ति धातुसाम्य-रूप कार्य के लिए होती है। यदि रोगी के विकार की शान्ति हो गई तो समझना

---

१. 'पथ्य पथोऽनपेत यत् यच्चोक्त मनसः प्रियम्।
यच्चाप्रियमपथ्य च नियत तन्न लक्षते॥' (च. सू. २५)

२. 'पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥' (वै जी.)

३ 'सातत्यात् स्वाद्वभावाद्वा पथ्य द्वेष्यत्वमागतम्।
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत् पुनः॥
मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्।
सुखोपभोगता च स्याद् व्याधेश्चातोबलक्षयः॥
लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधेर्वैधर्म्यादपि या रुचिः।
तासु पथ्योपचारः स्याद् योगेनाथं विकल्पयेत्॥' (च. चि. ३०)

गाहिए कि कार्य हो गया, धातुसाम्य[1] स्थापित हो गया। धातुसाम्य की परीक्षा नेम्नाङ्कित लक्षणों से की जाती है[2] :—

१. वेदना की शान्ति।
२. शरीर के प्राकृत स्वर और वर्ण का आगम।
३. शरीरोपचय।
४. बलवृद्धि।
५. आहार की अभिलाषा (क्षुधा)।
६. आहार-काल में रुचि।
७. भुक्त आहार का समय पर यथोचित पाक।
८. यथासमय यथोचित निद्रा।
९. वैकारिक स्वप्नों का अदर्शन।
१० सुखपूर्वक जागरण।
११. वात-मूत्र-पुरीष तथा शुक्र का प्राकृत उत्सर्ग।
१२. मन, बुद्धि और इन्द्रियों में कोई विकृति न होना।

उपर्युक्त लक्षणों से कार्य (धातुसाम्य) का अनुमान किया जाता है।

इस कार्य का फल है सुख की प्राप्ति—मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर की प्रसन्नता तथा सन्तुष्टि।[3] चिकित्सा का परम लक्ष्य यही है।[4]

रोगी पूर्ण रोगमुक्त हो गया यह निश्चय करने के पूर्व उसके सभी लक्षणों का सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक है तथा उस रोग से मुक्ति होने पर जो लक्षण

---

१. 'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥' (सु. सू. १५)

२. 'कार्यं धातुसाम्य, तस्य लक्षणं विकारोपशमः, परीक्षा त्वस्य रुगुपशमनं, स्वरवर्णयोगः, शरीरोपचय', बलवृद्धिः, अभ्यवहार्याभिलाषो, रुचिराहारकाले, अभ्यवहृतस्य चाहारस्य काले सम्यग्जरणम्, निद्रालाभो यथाकालं, वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनम्, सुखेन च प्रबोधनं, वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः, सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति।' (च वि ८)

३. कार्यफलं सुखावाप्तिः, तस्य लक्षणं मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टिः'—(च. वि ८)

४. 'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्।' (च सू १)

उत्पन्न होते हैं उन्हें भी ध्यान में रखना चाहिए। यहाँ कुछ विशिष्ट रोगों के मोक्ष का लक्षण दिया जा रहा है :—

१ ज्वर

दाह, स्वेद, भ्रम, तृष्णा, कम्प, विबन्धनाश, सञ्ज्ञानाश, इन्द्रियशुद्धि, मानसिक प्रसन्नता, कूजन, शरीरदौर्गन्ध्य, मुखदौर्गन्ध्य, स्वेद, लघुत्व, शिरःकण्डू, मुखपाक, क्षवथु, क्षुधा ये ज्वरमोक्ष के लक्षण हैं।[1] सामान्यतः ज्वरों में सम्यक् स्वेदागम और संतापराहित्य ज्वरमुक्ति का लक्षण माना जाता है।[2]

२. अतिसार

सम्यक् मूत्र-प्रवृत्ति, अपान वायु का त्याग, अग्निदीप्तता तथा कोष्ठ में लघुत्व होने पर अतिसार की निवृत्ति समझनी चाहिए।[3]

३. अजीर्ण

उद्गारशुद्धि, उत्साह, उचित मलप्रवृत्ति, लघुता, क्षुधा और प्यास में अजीर्णनिवृत्ति के लक्षण हैं।[4]

---

१. 'दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भिदसंज्ञिता।
कूजनं चास्यवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे॥
स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च।
क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम्॥' (मा. नि.)

'देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम्।
स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगि मनोऽन्नलिप्सा कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि॥'

'ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन् वमति चेष्टते।
श्वसन् विवर्णः स्विन्नांगो वेपते लीयते मुहुः॥
प्रलपत्युष्णसर्वांगः शीतांगश्च भवत्यपि।
विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते॥
सटोपशब्दं च शकृद्द्रवं स्रवति वेगवत्।
लिंगान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः॥' (च. चि. ३)

२. 'त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च धातुगे।
लक्षण मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन् स्वेददर्शनम्॥' (मालुकि)

३. 'यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यक् वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः॥' (मा. नि.)

४. 'उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम्॥' (मा. नि)

४. रक्तविकार

वर्णशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि, इन्द्रियार्थों का सम्यक् ग्रहण, अग्निसाम्य, मानसिक प्रसन्नता, उचित वलपुष्टि ये रक्तविकारों की निवृत्ति के लक्षण हैं।[1]

५. उन्माद

इन्द्रियों, बुद्धि, आत्मा तथा मन की प्रसन्नता तथा धातुओं की स्वस्थता विगतोन्माद का लक्षण है।[2]

६. प्रमेह

जब मूत्र पैच्छिल्य और आविलता से रहित, विशद तथा तिक्तकटुरस आवे तब प्रमेह रोग की निवृत्ति समझनी चाहिए।[3]

७ विष

प्रसन्न दोष, प्रकृतिस्थ धातु, क्षुधा, प्राकृत मूत्र और जिह्वा; वर्ण, इन्द्रिय, मन और चेष्टा की प्रसन्नता होने पर विष की निवृत्ति समझनी चाहिए।[4]

---

१. 'प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टिवलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥'
(च. सू. २४)

२. 'प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा।
धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥' (च. चि.)

३. 'प्रमेहिणो यदा मूत्रमपिच्छिलमनाविलम्।
विशदं तिक्तकटुकं तदारोग्यं प्रचक्षते ॥' (सु. चि. १२)

४. 'प्रसन्नदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकांक्षं सममूत्रजिह्मम्।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ॥' (सु. क ६)

परिशिष्ट

आतुर-परीक्षा-पत्र

रोगी का नाम··· · ·········   · पता· · ···· ···· ········ ··

प्रवेश तिथि··············· ···   ····· ················· ·· ·····

प्रश्न-परीक्षा

(क) सामान्य प्रश्न—

१. प्रकृति-परीक्षा

(क) प्रत्यात्मनियता प्रकृति—

आहार	कोष्ठ
सात्म्य	मलप्रवृत्ति
विहार	बल
निद्रा	सत्त्व
व्यसन	देहप्रकृति
व्यवसाय	दाम्पत्य जीवन
अग्नि	पूर्वकालिक स्वास्थ्य

(ख) वयोऽनुपातिनी प्रकृति—

(ग) देशानुपातिनी प्रकृति—

(घ) कालानुपातिनी प्रकृति—

(च) जातिप्रसक्ता प्रकृति—

(छ) कुलप्रसक्ता प्रकृति—

२. मुख्य व्यथा और उसका कालप्रकर्ष

३. आतंकसमुत्पत्तिक्रम

(क) निदान

(ख) पूर्वरूप

(ग) रूप

व्याधिजन्म

स्वरूप

गति

स्थिरता

(घ) उपशय-अनुपशय

(ख) विशिष्ट प्रश्न—

पञ्चेन्द्रिय-परीक्षा

(क) अष्टस्थान-परीक्षा

दर्शन १. **आकृति—**

मुखाकृति	प्रमाण
वर्ण	देह (उपचय)
छाया	शरीर की स्थिति
सार	शोथ
संहनन	श्वास की गति

२. **जिह्वा**

३. **नेत्र**

स्पर्शन ४. **स्पर्श**

तापक्रम	शरीरभार

५. **नाड़ी**

दोषगति	शक्ति
क्रम	पूर्णता
नियम	काठिन्य
	रक्तभार

श्रवण ६ **शब्द**

घ्राण ७ **गन्ध**

रसना ८ **रस**

(ख) अङ्ग-प्रत्यङ्ग-परीक्षा

१. कोष्ठ

(क) पाचन-संस्थान

दर्शन १ ओष्ठ
२. लालास्राव
३. तालु
४. दन्त
५. गल
६. ग्रसनिका
७ उदर

(क) उदर की आकृति
(ख) नाभि की स्थिति
(ग) उदर का पृष्ठभाग
(घ) हृदयाधरिक स्पन्दन
(च) दृश्य परिसरणगति
(छ) श्वासकालीन गति

स्पर्शन उदर का काठिन्य
स्पर्शपीडा
गुल्म
यकृत्
प्लीहा
जलतरङ्ग-परीक्षा

आकोठन—उदर की ध्वनि

मापन—

गुदपरीक्षा—

श्रवण—

यान्त्रिक परीक्षा—

(ख) रक्तवह संस्थान

दर्शन—रोगी की आकृति
शरीर की स्थिति
वक्ष की आकृति
सिराओं की स्थिति
हृत्प्रतिघात का स्थान और स्वरूप

स्पर्शन—हृत्प्रतीघात का स्थान
हृत्प्रतीघातका स्वरूप
हृत्प्रतीघात की सख्या
अन्य स्पन्दन
कम्प

आकोठन—

श्रवण—हृच्छब्दों का स्वरूप

विशिष्ट परीक्षा—

(ग) श्वसन संस्थान

दर्शन श्वसन की संख्या वक्ष की गति
श्वसन का स्वरूप वक्ष की आकृति

स्पर्शन—शब्दतरंगस्पर्श घर्षणस्पर्श
कूजनस्पर्श द्रवसंक्षोभ
रुजा

आकोठन—

श्रवण—श्वसित ध्वनि
श्वास-प्रश्वासध्वनियों का आपेक्षिक अनुपात
वाचिक ध्वनि
वैकृत ध्वनि

यान्त्रिक परीक्षा—

(घ) मूत्रवह संस्थान

दर्शन—वृक्क वस्ति मूत्रप्रसेक
स्पर्शन—
आकोठन—
यान्त्रिक परीक्षा—

(च) प्रजनन संस्थान

दर्शन—
स्पर्शन—
आकोठन—
श्रवण—

२ शाखा

दर्शन— शोष मण्डल आकृतिवैषम्य
शोथ सिरा नख
ग्रन्थि संकोच चेष्टा

स्पर्शन—स्पर्श — ग्रन्थि
संज्ञा — स्पन्दन
रुजा — अंगुलिस्फुरण
शोथ — प्रत्यावर्त्तित क्रिया

३. शिर, मुखमण्डल और ग्रीवा

दर्शन— आकृति
स्वरूप — ग्रन्थि
शोथ — स्पन्दन

स्पर्शन—

४. मन तथा इन्द्रियाँ

१. मन	४. चक्षु
२. श्रोत्र	५. रसना
३. त्वक्	६. घ्राण

वैकृती परीक्षा

(क) दोष—	१. पित्त	२. कफ	३. निष्ठ्यूत
(ख) धातु—	१. रक्त	२. शुक्र	
(ग) उपधातु—	१. आर्त्तव	२. स्तन्य	
(घ) मल—	१. मूत्र	२. पुरीष	

विकृति-परीक्षा

(क) दोष—	वात	पित्त	कफ
(ख) दूष्य—	धातु—		
	मल—		
	मूत्र		
	पुरीष		
	स्वेद		

(ग) अधिष्ठान—

रोग-परीक्षा

निदान	विकल्प
पूर्वरूप	प्राधान्य
रूप	बल
उपशय	काल
संप्राप्ति	

सापेक्ष निदान

रोग-विनिश्चय

साध्यासाध्यता

क्रियाक्रम

१. चिकित्सा (औषध)

२. पथ्य (क) आहार
(ख) विहार

कार्यफल

तिथि

चिकित्सक का हस्ताक्षर

शब्दानुक्रमणिका

INDEX